

ॐ आहं

जिनागम-प्रस्थानाला : प्रस्थान ११

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचमगणधर भगवत् सुधर्मस्वामी-प्रणीत : ग्यारहवाँ अंग

विपाकश्रुत

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]



प्रेरणा

उपप्रदर्तक शासनसेवी (स्व.) स्वामी श्री बजलालजी महाराज



संयोजक तथा श्राद्य सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री भिश्मीमलजी महाराज 'मधुकर'



अनुवादक
प. रोशनलाल ऊन



सम्पादक
शोभाचन्द्र भारिलल



प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

प्राक्तिशक्तीय

विपाकसूत्र का द्वितीय संस्करण पाठकों के कर-करनालों में समर्पित करते हुए अतीव हृषि हो रहा है कि अमण मंष के गुचाचार्य सर्वलोभद्र स्व. श्रीमधुकरमुनिजी म. सा. की आगमभक्ति और सत्साहित्य प्रचार-प्रसार की भावना के कलस्वरूप जो आगमप्रकाशन राज्य प्राप्ति प्रशास्त्र, तत् द्वादश वे सदृश निष्ठादिन व्यापक होता गया और समिति को प्राप्ते प्रकाशनों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते का निष्चय करना पड़ा।

अभी तक आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, उत्तराच्छयन, राजप्रस्त्रीयसूत्र, तन्दीसूत्र आगमों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो गये हैं। शेष सूत्र प्रन्थों के भी द्वितीय संस्करण प्रकाशित किये जा रहे हैं।

विपाकसूत्र यद्यपि कथा-प्रधान आगम है, किन्तु कथा के मध्यम से जैनधर्म के इस निष्ठा को उजागर किया गया है—

कर्मप्रधन विवर इति राखा ।
जो जल करहि सो तरु फल चाखा ॥

इस प्रकार विपाकसूत्र का कर्म-सिद्धान्त के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने में अमणमंष के उपाचार्य श्रद्धेश देवेन्द्रमुनिजी म. सा. णास्त्री ने प्रपत्ती प्रस्तावना में कर्म-सिद्धान्त का सारगभित विशद विवेचन प्रस्तुत कर म्याद्यायाधीन-जिज्ञासु पाठकों वो अध्ययन के लिए प्रेरित किया है।

समिति को यह ग्रन्थाल करते हुए प्रमन्त्रता है कि आगम-बत्तीसी में समाचार सभी आगमों का प्रकाशन सम्पन्न हो चुका है और अप्राप्य आगमों का पुनर्मुद्रण कार्य भी चल रहा है। अताएव हमें आशा है कि समिति सभी पाठकों को एक साथ आगम-बत्तीसी के सभी ग्रन्थ संपलब्ध करा देगी। जिन पाठकों के पास समस्त ग्रन्थ न हों, वे समिति से सम्पर्क बनाये रहें, जिससे उनको वे ग्रन्थ भेजने का ध्यान रहे। यह सम्पर्क समिति और पाठकों के सध्या याड़ी से कड़ी जुड़ने की युक्ति को मार्यादा करेगा।

अन्त में समिति प्रपत्ते सभी सहायोगियों का सधन्यवाद आभार मानती है कि उनके सहकार, प्रेरणा में जो प्रयास प्राप्तम्भ किया था वह निश्चारित नीति, प्रक्रिया के अनुसार सम्पन्न हो रहा है।

**रत्नसन्द मोदी
वायवाहक अध्यक्ष**

**सायरसन शोरडिया
महामंत्री**

**अभरचन्द्र मोदी
मंत्री**

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीथिलिया बाजार, व्याखर-३०५ १०१

विपाकशूत : प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अर्थ-सहयोगी
श्रीमान् एस. बाटलचन्द्रजी चोरडिया, मद्रास
[जीवन-परिचय]

राजस्थान के मारवाड़ प्रदेश में नामीर जिले में एक छोटा सा गांव, तोखा वांदावतों का है। यह धनियों की बस्ती है। यहाँ आपका जन्म वि. संवत् १९७९ भाद्रपद कृष्णा ५ को धर्मनिष्ठ सुश्रावक स्व. श्री मिश्रीमलजी सा. चोरडिया के यहाँ हुआ। आपकी मातृश्री का नाम श्रीमती गद्दुबाई था। वे सरलता, दयालुता, एवं निष्ठलता को मूल एवं धर्मपरायणा थीं। उनके सभी शूण आप में विद्यमान हैं।

आपका प्रारंभिक शिक्षण राजस्थान में ही हुआ। उसके बाद आप अवसाय हेतु आगरा प्रवार गए।

आपके अग्रज श्री एस. रत्नचन्द्रजी सा. चोरडिया शुज आवक हैं। आपके अनुज श्री एस. सायरचन्द्रजी सा. एवं सबसे छोटे भाई स्व. श्री एस. रिष्विचन्द्रजी सा. चोरडिया का वर्तमान में व्यवसाय केन्द्र मद्रास ही है। आप सभी भाई यहाँ फाइनेंस के व्यवसाय में संलग्न हैं। आपकी बड़ी बहन प्रसादीबाई भी मद्र प्रकृति की महिला है।

आप सरलभना, गंभीर एवं धार्मिक प्रकृति के हैं। आपकी ही तरह आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सुगन्धकंबरबाई भी धर्मभावना से अनुप्राणित हैं।

आपने विवेकयुक्त पुरुषार्थ एवं आमाधिकता की बढ़ीलत आपने फाइनेंस के व्यवसाय में अच्छी सफलता प्राप्त की और खूब दृच्योपार्जन किया, और उससे अनेक सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं तथा संस्थानों को सहायता प्रदान की है।

आप वर्तमान में अनेक संस्थाओं से सम्बन्धित हैं—

उपाध्यक्ष — श्री बद्धमान सेवा समिति, तोखा (राजस्थान)

मंत्रकाल — श्री जैन मेडीकल इलीफ भोमायटी

श्री एस. एस. जैन एज्युकेशनल सोसायटी

श्री एस. एस. जैन जनसेवा समिति

श्री अखिल भारतीय भ. महावीर अंग्रेजी प्रचार संघ

सदस्य — श्री कृष्ण भारत स्वाध्याय संघ, मद्रास

श्री आश्रम प्रकाशन समिति के भी आप महास्तम्भ सदस्य हैं तथा प्रस्तुत आगम के प्रकाशन में आपने विशिष्ट सहयोग प्रदान किया है।

गारमाधिक कार्यों के लिये आपने एस. बाटलचन्द्र चोरडिया ट्रस्ट भी बनाया है। सामाजिक, धार्मिक एवं जनरहित के कार्यों में भी आप यथाशक्ति अपने द्वय का संकुपयोग करते हैं।

परम्परा में ही आपके परिवार की स्वामीजी श्री हजारीमलजी म. सा. के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति रही है। आपकी पूज्य उपरचन्द्रक स्वामीजी बजलालजी म. सा. एवं बहुधूत युवाचार्य पं. र. मुनि श्री मिश्रीमलजी म. सा. 'मधुकर' के प्रति श्रद्धा है।

आपकी धर्मभावना दिनोदिन वृद्धिगत हो ऐसी मंगल कामना है।

□□

आदि विचार

[प्रथम संस्करण से]

विश्व के जिन दोशनिकों—इष्टाप्तों/चिन्तकों, ने "धार्मयता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-मात्रात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्त्वमन्धित उनका चिन्तन-प्रबन्ध आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रृत है।

जेन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों- राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा द्वारा किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/मुख्य/वीर्य आदि मापूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। जातियों का मापूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और यज्ञ/प्राप्त-पुरुष की वाणी, वचन/काथन/प्रस्तुप्तण—"आगम" के नाम से प्रभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, ज्ञान-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का मध्यके परिणीति देने वाला शास्त्र/मूल/धार्मवचन।

मामान्यता: सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह विशुद्ध सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट प्रतिशेषमध्ये सर्वज्ञ युग्म, जो धर्मतीर्थ वा प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत वा तीर्थकर बहलाने हैं। तीर्थकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी नो उन्हीं के अनिष्टायमध्ये विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देने हैं अथवा जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृद्धि जब मालारूप में परिवर्तित होती है तो वह "आगम" का क्षण धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रबन्ध आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल न्यौता है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिठक" कहा जाना था। प्रिहंतों के प्रबन्धरूप नमम शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रशूलांग आदि के अंग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। ऐसे द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक भुमुख के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी आरहवा अंग चिशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का अधिकार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं शृणुमध्ये साधक कर पाते हैं। इसनिए मामान्यता: एकादशांग का अध्ययन साध्यताएं के लिए विहिन हूआ तथा इसी और सबकी गति/मति रही।

जब निखने की परम्परा नहीं थी, निखने के माध्यनों का विवाह भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को समृद्धि के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठमध्य ऊर्ध्वे भुग्नित रखा जाता था। भूमध्यतः इमलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे मार्यक शब्दों का व्यवहार किया गया। मगवान् महावीर के परिनिवाणि के एक हजार वर्ष बाद नक जागमों कर जान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चवात् स्मृतिदोर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, द्रुकाल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से श्रीरं-धीरे आगमज्ञान नुस्खा होता चला गया। महासंग्रहर का जल सूखता-सूखता भीषण गात्र रह गया। सुमुखु अमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, जहाँ चिन्तन की तन्त्रता एवं जागरूकता की लूरीती भी थी। वे तत्पर द्वृष्ट श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतज्ञारामी देवद्विगणि भगवान्थमण ने विद्वान् थमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान की सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आहूचान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकालूढ़ करने का यह ऐतिहासिक कार्य बस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार मिठ्ठ हुआ। मंस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रबहसान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण वो १८० या १९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (मोराट्ट) में प्राचार्य श्री देवद्विगणि धर्माश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; परं लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकालूढ़ होने के बाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु कान-शोण, शमण-संष्ठों के आन्तरिक सत्रभेद, स्मृति दुर्बलता, प्रभाइ एवं भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारों का विछवंस आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल मम्पत्ति, अर्थवौध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रही। आगमों के अनेक महस्त्रायुर्ण यद, सन्दर्भ तथा उनके गूढ़र्थ का ज्ञान, छिक्क-विच्छिक्क होते चले गए। परिपक्व भारतज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाने थे, वे भी गुद यान वाले नहीं होने, उनका सम्यक् धर्म-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

चिक्रभीय मोलहृदीं जताद्वी में वीर लोकाशाह ने इस दिशा में कान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और गुणमें प्रबंधन। कोरन्लूप्ति दृष्टि द्वारा साहसिक उपक्रम युनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, मैदानिक विग्रह, तथा लिपिकारों का अत्यन्त ज्ञान आगमों की उपलब्धि संथा उसके सम्यक् अर्थवौध में बहुत बड़ा दिघ्न बन गया। आगम-अन्धामियों को शुद्ध प्रतिवा मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परमारा चली तो सुधी पाठकों का कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्रूत-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चृणियाँ, नियुक्तियाँ, टीकाएं आदि और उनके आधार पर आगमों का स्पाट-सुगम भाववौध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इसमें आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है, जनता में आगमों में प्रति आकर्षण व निचि जागृत हो रही है। इस अन्ति-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनतर विद्वानों की आगम-शुन-शेवा का भी प्रभाय व प्रनुदान है, उसे हम सरोरत स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह मिलमिला लगभग एक ज्ञानादी रे व्यवस्थित चल रहा है। इस महत्वीय-धूम-सेवा में अनेक समर्थ शमणों, पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी मंत्रायें नींव की ईंट की तरह आज भी ही अद्वैत हैं, परं विस्मरणीय तो कदाचित् नहीं। स्पाट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में समर्थ हैं, परं विनीत व दृतश्च तो है ही। फिर भी स्थानकवामी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अभोलकल्पाधिजी महाराज ने जैन आगमों -३२ सूत्रों का प्राकृत से बड़ी चाली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही वत्तीम सूत्रों का अनुवाद कार्य मिर्के ३ वर्ष १५ दिन में पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ़ लग्नणीयता, साहस एवं आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व अप्राप्त हो गया और स्थानकवासी-तेरापथी ममाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म.० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशोलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अध्ययदेव व शीलोक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्होंने को आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कहे बार अनुभव किया— यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमग्रस्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संरक्षणों में प्रायः युक्त भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व जूति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरुहू तो है ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाश उपाय थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ भुल-गम से प्राप्त थे। उनकी मेशा भी व्युत्पन्न व तके-प्रवण थी, अल: वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का गृद्ध, गवोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिसमें सामान्य ज्ञानघाले श्रमण-श्रमणी परं जिज्ञासुजन नाम उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कहे द्वार व्यक्त होनी थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वान्—संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अस्तरात में आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म-दिवाकर आचार्य श्री आनन्दगमजी म.०, विद्वद्रत्न श्री धर्मलालजी म.० आदि परीक्षा निवारकों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में मुन्द्र विस्तृत टीकाये निष्कर्ष कर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पुरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

ज्वेताम्बर मूर्तिपूजक आभाय के विद्वान् थमण गग्मधूतभेदी म.० मुनि श्री पुष्यविजयजी ने आगम यम्यादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का आयं प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वयंवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदिगि आगमज मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी परं पुवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुजाइश है। तथापि उनके भ्रम का महत्व है। मुनि श्री वन्देयलालजी म.० "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यजीली की विशदता परं मौलिकता स्पाद होती है।

आगम साहित्य के वर्षोंवृद्ध विद्वान् पं.० श्री वेचरदासजी दोषी, विश्रूत-मनोगी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रजापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस गव कार्य-जैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्राय मझी विद्वानों की कार्यजैली काफी भिन्नता निये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं आगमों की विशाल व्याख्यायें की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दुसरी जटिल। सामान्य गाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एनदर्थे मध्यम-भाग जो अनुसरण आवश्यक है। आगमों का एक ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, भूवोध हो, यंकिष्ट और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव रेसा ही आगम-संस्करण चाहते थे। इसी भावना को नक्षण में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

श्री, सुदौर्धे चिन्तन के पश्चात् वि. मं. २०३६ बैंगाख शुक्रवा दशमी, भगवान् महावीर क्षबल्पदिवस को यह दृढ़ निष्ठव्य घोषित कर दिया थी। आगमवत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहस्रिक निर्णय में गुरुभासा शासनमेवी स्वामी श्री वज्रलालजी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा अमुख सम्बाल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गुहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शीर्षी के सम्पादक मुनि श्री कन्तेयालालजी म. "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिक्षण भण्डारी श्री पद्मचन्द्रजी म० एवं प्रवचन-भूषण एवं कमलमुनिजी लिङ्गराज श्री कादम्बनुनिजी म०; स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुवरजी म० की मुक्तिप्राप्ति महासती दिव्यप्रभाजी, एम. ए., पी-एस. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुवरजी म० 'अर्चना', विश्रूत विद्वान् श्री दत्तगुद्धमाई मालवणिया, मुख्यात् विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल, स्व० पं० श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छग्नलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्द्रजी सुराणा "सरस" आदि मनीयियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुर्लभ कार्य के सरल बनाए रखा है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिमूल है। इसी के साथ भेदा-सहयोग की दृष्टि में सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेश मुनि का साहसर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुवरजी, महासती श्री भणकारकुवरजी वा सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रमाण पर इस कार्य के प्रेरणा-द्वेष स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोहा, स्व० श्री पुष्पराजजी मिसोदिया का समरण श्री सहजलय में हो आता है, जिनके ब्रह्मक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिलि अपने कार्य में इतनी श्रीद्वय सफल हो रही है। दो वर्षों के अल्पकाल में ही दस आगम ग्रन्थों का भुद्धण तथा कारीघ १५-२० आगमों वा अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का दोषक है।

मुझे मुद्रृ विज्ञान है कि गरम शब्देय स्वर्गीय स्वामी श्री हुजारीमलजी महाराज आदि नामोपूर्व आन्ध्राओं के गुभारीवाद से तथा झूमारं श्रमणसंघ के भाष्यशाली नेता राज्य-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनि-जनों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह मंकलिपत जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी गुभाशा के गाथ,

—मुनि विश्रीमल "मधुकर"
(युवाचारं)

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

विपाकशुल : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन साहित्य आगम और आमदेवता—इन दो भागों में विभक्त है। साहित्य का प्राचीन विभाग आगम कहलाता है। केवल ज्ञान के क्षेत्रदर्शन होने के पश्चात् भगवान् ने सभूते लोक को देखा, इस विराट् विष्व में अनन्त प्राणी हैं और वे आधि, अधि और उपाधि से मंचल हैं—विविध दुर्बलों से आक्रान्त हैं। उनका करुणापूरित हृदय द्वित छोड़ा और जन-जन के कल्पाण के लिये अपने मंगलमय प्रवचन प्रदान किये। प्रवचन प्रदान करने के कारण वे तीर्थकर कहलाये।^१ ऐसे मन्य के प्रबन्ध थे। उन्होंने अपने प्रवचनों में बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बताया।

भगवान् की यह अद्भुत और अनूठी दाणी आगम कहलाई। उनके प्रधान शिष्य गणधरों ने उसे सूत्र स्थ में गृथा, अतः आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। ये आगम आचार्यों के लिए निधि रूप थे, अतः इनका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक-विमाग बारह थे, अतः उसका दूसरा नाम द्वादशांगी हुआ। बारह अग्नों में विपाक का ग्यारहवाँ स्थान है। आचार्य वीरसेन ने इसी के उदय व उदीरण को विपाक कहा है।^२ आचार्य युज्यपाद^३ और आचार्य अकलकेदेव^४ ने लिखा है—विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है। पूर्वोक्त कृपायों की तीव्रता, मन्दना आदि रूप भावाश्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होता “विपाक” है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, कान, भाव और भव रूप निमित्त भेद से उन्हम् हुआ वैश्य रूप नाना प्रकार

-
१. “तीर्थ” शब्द अपने में अनेक अर्थों को समेटे हुए है। उनमें मेरा अर्थ प्रवचन है, अतः प्रवचनकार ने तीर्थकर कहा जाता था। बोद्ध साहित्य में इसी अर्थ में छह तीर्थकरों का उल्लेख है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के साथ में ‘कपिल’ आदि को तीर्थकर कहा है। आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने “परं तत्र तीर्थकरः चौर वयं तीर्थकरा इति” लिखा है—वेदिक्ये सुधुकृतांगचूणि (पृ. ४७, पृ. ३२२)। प्रवचन के आधार पर ही थ्रेण-थ्रसणी धावक और आविका को भी तीर्थ कहा है।
 २. कम्मणमुदओ उदीरणा वा विवाहो णाम। —धब्ला. १४।५.६, १४।१०।२
 ३. विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः। पूर्वोक्तकथापायतीत्रमन्दादिभावात्वविषेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्यसोक्तकालभवभावनक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूपो नानाविधः पाको विपाकः।
 ४. तत्त्वार्थराजबार्तिक द। २। १। १५८। १३
- सर्वार्थतिदि ध। २। ३९८। ३

का पात्र विपाक है। आचार्य हरिभद्र^५, आचार्य अभ्यदेव^६ ने वृत्ति में लिखा है कि विपाक का अर्थ है—पुण्य पाप सूप कर्म-फल, उस का प्रतिपादन करने वाला मूत्र विपाकश्रृत है।]

समवायांग^७ में विपाक का परिचय देते हुए लिखा है कि विपाकमूत्र शुक्रत और दुष्कृत कर्मों के फल-विपाक को व्रतमाने वाला अध्ययन है। उसमें दुःखविपाक और मुखविपाक में दो विभाग हैं। नन्दीसूत्र^८ में आचार्य देवबाष्पक ने विपाक का यही परिचय दिया है। स्थानांगमूत्र^९ में विपाक मूत्र का नाम कर्मविपाकदण्डा दिया है। वृत्तिकार^{१०} के अनुसार यह अपारद्वये अंग विपाक का प्रथम श्रुतस्कन्ध है।

समवायांगमूत्र^{११} के अनुसार विपाक के दो श्रुतस्कन्ध हैं, जोस अध्ययन हैं, जोस उद्देश्यकाल है, जोस समुद्देशकाल है, संख्यात पद, संख्यात अध्ययन, परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वैकल नामक छन्द, संख्यात इलाक, भंख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संश्लेषणियाँ, और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं। वर्तमान में जो विपाकमूत्र उपलब्ध है वह १२१६ श्लोकपरिभाषा है।

स्थानांग में प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों के नाम आये हैं, पर द्वूसरे श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम वहाँ उपलब्ध नहीं हैं। वृत्तिकार का यह अभिमत है कि द्वूसरे श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों की अन्यत्र चर्चा की गई है। १२ प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम 'कर्मविपाकदण्डा' है। १३

स्थानांग के अनुसार कर्मविपाकदण्डा के अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं।^{१४}

(१) मृगामूत्र, (२) गोद्राम, (३) अण्ड, (४) शकट, (५) आहाण, (६) नन्दिवेण, (७) गौरिक; (८) उदुम्बर, (९) महसूलोद्वाह आभरक, (१०) कुमार गिर्वाई।

उपलब्ध विपाक के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) भृगामूत्र, (२) उजिज्जतक, (३) अमानसेन, (४) शकट, (५) वृहस्पतिदत्त, (६) नन्दिवद्वत्त, (७) उम्बरदत्त, (८) गौरिकदत्त, (९) दंवदत्ता, (१०) अंजू।

स्थानांग में जो नाम आये हैं और वर्तमान में जो नाम उपलब्ध है, उसमें अन्तर स्पष्ट है। विपाकमूत्र में अध्ययनों के कई नाम व्यक्तिपूरक हैं तो कई नाम वस्तुपरक—यानी वटनापरक हैं। स्थानांग में जो नाम आये

५. विपचन विपाकः शुभाणुभक्त्यरिणाम इत्यर्थः, तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रृते।

— नन्दीहारिभद्रीयावृत्ति गृ. १०५, प्र.—कृष्णभद्रेवजी केशरीमलजी ज्वे. भंस्था रनलाम, मन् १९२८

६. विपाकः पुण्यपापकर्मफलं तत्प्रतिपादनपरं श्रुताणामो विपाकश्रृतम्। विपाकमूत्र अभ्यदेववृत्ति

७. विवाहसुग्राणं मुकड़-दुक्कडाण-कम्माणं फलविवाहा आघ्रविज्ञति, —मपवायांगमूत्र १५३, मुनि कन्हैयालाल

८. नन्दीसूत्र आममपरिचय गूत्र ११

—स्थानांग, स्थान १०, मूत्र १११,

९. कर्मविपाकदण्डा विपाकश्रृताद्यस्येकादण्डाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः —स्थानांग वृत्ति पत्र ८८०

१०. कर्मविपाकदण्डा, विपाकश्रृताद्यस्येकादण्डाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः —स्थानांग वृत्ति पत्र ८८०

११. समवायांग मूत्र १५६, पृ. १३३, मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

१२. द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दण्डाध्ययनात्मकं एव, न चमाविहारिभितः, उत्तरत्र विवरिव्यमाणत्वादिति —स्थानांग वृत्ति पत्र ४८७

१३. कर्मणः—अग्रुभस्य विपाक-फलं कर्मविपाकः तत्प्रतिपादका दण्डाध्ययनात्मकत्वादण्डा: कर्मविपाकदण्डा: विपाक-श्रुताध्यस्येकादण्डाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धः —स्थानांग वृत्ति पत्र ४८०

१४. स्थानांग १०। १११

है वे केवल अधिकारक हैं। दो अध्ययनों में क्रम-भेद है। स्थानाङ्ग में जो आठवीं अध्ययन है वह विपाक का सातवीं अध्ययन है और जो स्थानाङ्ग का सातवीं अध्ययन है वह विपाक का आठवीं अध्ययन है।

स्थानाङ्ग में दूसरे अध्ययन का नाम पूर्वभव के नाम के आधार पर "गोत्रास" रखा गया है, तो प्रस्तुत सूत्र में अगले भव के नाम के आधार पर उज्जितके रखा है। स्थानाङ्ग में तीसरे अध्ययन का अंड मासकरण पूर्वभव के व्यापार के आधार पर किया गया है तो विपाक में अग्रिम भव के नाम के आधार पर "अभग्नसेन" रखा है। स्थानाङ्ग में नींवें अध्ययन का नाम सहस्रोदाह आमरक या सहस्रोदाह है। सहस्रों व्यक्तियों को एक साथ जला देने के कारण उसका यह नाम दिया गया है जबकि विपाक में प्रस्तुत अध्ययन की मुख्य नायिका देवदत्ता होने के कारण अध्ययन का नाम देवदत्ता रखा गया है। स्थानाङ्ग में दसवें अध्ययन का नाम 'कुमार लिच्छवी' है। लिच्छवी कुमारों के आचार पर यह नाम रखा गया है जबकि विपाक में इसका नाम "अंजु" है जो कथानक की मुख्य नायिका है। विज्ञों का यह मानना है कि लिच्छवी का भग्नन्ध लिच्छवी वंश विषेष के साथ होना चाहिए।

नन्दीसूत्र और स्थानाङ्गसूत्र में विपाक के द्वितीय श्रुतस्फलघ मुख्यविपाक के अध्ययनों के नाम नहीं आये हैं। समवायांग में तो दोनों श्रुतस्फलघों के अध्ययनों के नाम नहीं हैं। विपाकसूत्र में सुखविपाक के अध्ययनों के नाम इस प्रकार है— (१) सुवाहुकुमार, (२) भद्रनन्दी, (३) सुजगतकुमार, (४) सुवासवकुमार, (५) जिनदास-कुमार, (६) धनपति, (७) महावलकुमार, (८) भद्रनन्दीकुमार, (९) महाचन्द्रकुमार और (१०) वरदनकुमार।

समवायाग^{१५} के पैचपनवें समवाय में उल्लेख है कि कर्तिकी की अमावस्या रात्रि में चरम तीर्थकर महावीर ने पचपन ऐसे अध्ययन, जिनमें पृथ्वीकर्मफल को प्रदर्शित किया गया है और पचपन ऐसे अध्ययन जिनमें पापकर्मफल व्यक्त किया गया था, धर्मदेशना के रूप में प्रदान कर निर्णय को प्राप्त किया। इसमें प्रश्न होता है कि पचपन अध्ययन वाले कल्याणपत्रविपाक और पचपन अध्ययन वाले पापकर्मविपाक वाला आगम प्रस्तुत विपाक आगम ही है या यह आगम उसमें भिन्न है?

कितने ही चिल्लकों का यह मन है कि प्रस्तुत आगम यही आगम है। उसमें पचपन-पचपन अध्ययन थे, पर पैतालीभूत-गंतालीभ अध्ययन इसमें से विस्मृत हो गये हैं और केवल बीस अध्ययन ही प्रशंशित रहे हैं। हमारी दृष्टि से चिल्लकों की यह मायना चिल्लग मायनी है। यह साष्ट है कि समवायांग में कल्याणपत्रविपाक और पापकर्मविपाक अध्ययनों के नाम नहीं हैं और जीवन की मान्यताओं में दिया गया अन्तिम उपर्युक्त है। आगम साहित्य में जहाँ पर श्रमण और श्रमणियों के अव्ययन का वर्णन है वहाँ पर हादणागी या ग्यारह अर्गों के अध्ययन का वर्णन है। यदि विपाक का प्रकारण भगवान् महावीर ने अन्तिम समय में किया तो भगवान् के शिष्य किंम विपाक का अध्ययन करते अन्तः यह स्पष्ट है कि अन्तिम समय में प्रलीगत कल्याणविपाक पापत्रिपाक के पचपन-पचपन अध्ययन पृथक् है। यह विपाकमूल नहीं है।

मात्र ही यही यह भी स्पष्ट करता आवश्यक है कि समवायांग व नन्दी में विपाकसूत्र की जो परिचय-रेखा प्रस्तुत की गई है जिसमें वीष अध्ययन का उल्लेख है और उसमें जो यदों की मंज्या आदि दी गई है उस मंज्या में प्रस्तुत कर्तमान आगम की लुलना की जाय तो स्पष्ट है कि उसका वहूत-सा भाग नष्ट हो गया है और उसका शाकार अल्पधिक छोटा हो गया है। पर यह स्पष्ट है कि समवायांग के लेखन त्रिवेदीका के मंदी की रचना करते समय उसका शाकार वही रहा होगा। उसके पश्चात् उसमें कमी आई होगी। शोधार्थियों के निए यह विषय अन्वेषणीय है।

१५. समर्पणे भगवत् महावीरे अन्तिमराइयसि पणपनं अजम्यणाऽ कल्याणपत्रविपाकाऽ पणपनं अजम्यणाऽ पापकर्मविपाकाऽ वागरित्ता सिद्धे दुदे जात्व पहीणे । — समवायांग, समवाय-५५

कर्म-सिद्धान्त जैन-दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का प्रस्तुत आगम में दार्शनिक गहन व गंभीर विषयेषण न कर उदाहरणों के माध्यम से विषय को प्रतिपादित किया गया है।

यांत्रिक जीव जो विविध प्रकार के कर्मों का बंध करते हैं उन्हें विपाक की दृष्टि से भी भागों में विभक्त किया गया है—जूध और अश्रु, पुण्य और पाप अथवा कृपाल और अकृपाल। इन दो भागों का उल्लेख जैन-दर्शन,^{१६} बोद्धदर्शन,^{१७} सांख्यदर्शन,^{१८} योगदर्शन,^{१९} न्यायदर्शन,^{२०} वैशेषिकदर्शन,^{२१} और उपनिषद्^{२२} शादि में हुआ है। जिस कर्म के फल को प्राणी अनुकूल अनुश्रव करता है वह पाप है तो विषये शतिकूल अनुश्रव करता है वह पाप है। पुण्य के प्रमुख फल की तो सभी इच्छा करते हैं किन्तु पाप के फल की कोई इच्छा नहीं करता। किसी भी उसके विपाक से बचा नहीं जा सकता।

जीव ने जो कर्म बोधा है, उसे इस जन्म में या भ्रमो में भ्रोगना ही पड़ता है। कुतक्षों का फल भोग विना आत्मा का छुटकारा नहीं हो सकता। प्रस्तुत आगम में पाप और पुण्य की गुण-ग्रन्थियों का उदाहरणों के द्वारा सरल रूप से उद्घाटित किया गया है। जिन जीवों ने पूर्वभव में विविध पापकृत्य किये हैं, उन्हें आगामी जीवन में दारूण वेदनाएँ प्राप्त हुईं। दुःखविपाक में उन्हीं पापकृत्य करने वाले जीवों का वर्णन है। जिन्होंने पूर्वभव में सुकृत किये थे, उन्हें शविष्य में सुख उपलब्ध हुआ।

कर्मवाद का महत्व :

भारतीय तत्त्वचिन्तक महर्षियों ने कर्मवाद पर गहराई में अनुचिन्तन विषया है। न्याय, साम्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमांसक, बोद्ध और जैन सभी दार्शनिकों ने कर्मवाद के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। केवल दर्शन ही नहीं अपितु धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान और कला आदि पर कर्मवाद की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती है। विश्व के विभाजन में पर सर्वत्र विषमता, विविधता, विचित्रता का एकच्छब्द नामाज्य देखवार प्रकृद्ध विचारकों ने कर्म के अद्भुत सिद्धान्त की गविषणा की। भारतीय जन-जन के मन की यह धारणा है कि प्राणीमात्र को सुख और दुःख की जो उपलब्धि होती है वह स्वयं के किये गए कर्म का ही प्रतिफल है। कर्म से बोध हुआ जीव जनादिकाल में जाना गतियों व गतियों में परिवर्तन कर रहा है। जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है और कर्म ही दुःख का मर्जक है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक प्राणी श्रम्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसंवह होता है। पर-भक्तवद्ध नहीं।

यह सत्य है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने कर्मवाद की सम्भापना में योगदान दिया किन्तु जैन परम्परा में कर्मवाद नहीं जैसा सुव्यक्तित रूप उपलब्ध है वैसा अन्यत्र नहीं। वैदिक और बोद्ध साहित्य में कर्म सम्बन्धी विचार छलना अल्प है कि उसमें कर्म विषयक कोई महत्वपूर्ण श्रव्य दृष्टिगोचर नहीं होता, जब कि जैन साहित्य में कर्म सम्बन्धी अनेक स्वतन्त्र विपाक श्रव्य उपलब्ध हैं। कर्मवाद पर जैन परम्परा में प्रत्यन्त सूक्ष्म, मूल्यवस्थित और

१६. तत्त्वार्थसूक्ष्म ६।३-४

१७. विशुद्धिमग्नि १।७।८८

१८. सांख्यकारिका ८४

१९. (क) योगसूक्ष्म २।१५ (ब) योगभाष्य २।१२

२०. न्यायमंजरी पृ. ४७२

२१. प्रणस्तपाद पृ. ६।२।७।८।९

२२. बृहदारण्यक ३।२।१३

बहुत ही विस्तृत विवेचन किया गया है। यह साधिकार कहा जा सकता है कि कर्म सम्बन्धी माहित्य का जैन साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है और वह माहित्य 'कर्मशास्त्र' या 'कर्मग्रन्थ' के नाम से विश्वित है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों के अनिरिक्त भी आगम व आगमेतर जैनग्रन्थों में यज्ञ-तत्र कर्म के सम्बन्ध में चर्चाएँ उपलब्ध हैं।

कर्म सम्बन्धी साहित्य

भगवान् महादीर्घ में लेदर आज तक कर्मशास्त्र का जो संकलन-शावलन हुआ है, वह वात्य रूप में जीन विभागों में विभक्त विद्या जा सकता है—पूर्वान्तर्मुक कर्मशास्त्र, पूर्वोदधृत कर्मशास्त्र और प्राकरणिक कर्मशास्त्र।^{२३}

जैन इतिहास की दृष्टि में चौदह पूर्वी में से आठवीं पूर्व, जिसे 'कर्मप्रवाद' कहा जाता है, उसमें कर्म-विषयक वर्णन था। इसके अनिरिक्त दूसरे पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्मप्राभूत' या और पाचवीं पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्मायप्राभूत' था। इसमें भी कर्म सम्बन्धी ही चर्चाएँ थीं। आज वे अनुपलब्ध हैं, किन्तु पूर्व साहित्य में मै उदधृत कर्मशास्त्र आज भी शीर्णों ही जैन परम्पराओं में उपलब्ध हैं। सम्प्रदाय खेद होने से नामों में भिन्नता होता स्वाभाविक है। दिगम्बर परम्परा में 'महाकर्मप्रकृति प्राभूत' (पद्मषष्ठागम) और कर्मप्रकृति ये दो ग्रन्थ पूर्व में उदधृत जाने जाते हैं। ऐतेनाम्बर परम्परा के अनुसार कर्मप्रकृति, शत्रक, पञ्चमग्रह और सप्ततिका ये चार ग्रन्थ पूर्वोदधृत माने जाते हैं।

प्राकरणिक वार्षिकाली में कर्म विवरणी शब्द का प्रयोग जाते हैं, जिसका दूसरा आधार पूर्वोदधृत कर्म साहित्य रहा है। प्राकरणिक कर्मग्रन्थों का लेखन विद्या की आठवीं शताब्दी भै लेकर मौखिकी सलसली तक हुआ है। आधुनिक विज्ञों ने कर्मविषयक माहित्य का जो भूत्तम किया है वह मुख्य रूप में कर्मग्रन्थों के विवेचन के रूप में है।

यहां की दृष्टि से कर्म साहित्य को प्राकृत, सम्झूल और प्रादेशिक भाषाओं से विभक्त कर सकते हैं। पूर्वान्तर्मुक व पूर्वोदधृत कर्मग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं। प्राकरणिक कर्म साहित्य का विषेष अंग प्राकृत में ही है। मूल शब्दों के अनिरिक्त उन पर लिखी गई वृत्तियाँ और टिप्पणियाँ भी प्राकृत में हैं। चाद में कुछ कर्मग्रन्थ मंसकृत में भी लिखे गए, किन्तु मुख्य रूप से मंसकृत भाषा में उस पर वृत्तियाँ ही लिखी गई हैं। मंसकृत में निये हुए मूल शम्प्रदाय, प्राकरणिक कर्मशास्त्र में आते हैं। प्रादेशिक भाषाओं में निवाह हुआ कर्म साहित्य कम्बड़, गुजराती और हिन्दी में है। इनमें मौलिक अंग बहुत ही जाम हैं, अनुवाद और विवेचन ही मुख्य है। बंबड़ और हिन्दी में दिगम्बर माहित्य प्रधिक निष्ठा गया है और गुजराती में ऐतेनाम्बर माहित्य।

विस्तारभव्य में उन सभी ग्रन्थों का परिचय देना यहां सम्भव नहीं है। यक्षेण में उपलब्ध दिगम्बरीय कर्म माहित्य का प्रमाण लगभग पांच लाख शब्दोंका है। और ऐतेनाम्बरीय कर्म माहित्य का प्रम्यमान लगभग दो लाख शब्दोंका है।

ऐतेनाम्बरीय कर्म-साहित्य का प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ जिवज्ञार्थमुण्डित वर्णप्रकृति है। उसमें ४७५ शास्त्र हैं। इनमें आचार्य ने कर्म सम्बन्धी व्यन्धनकरण, संक्षमणकरण, उद्वर्तनाकरण, अपवर्तनाकरण, उदीरणाकरण, उपगमनाकरण, निवृत्तिकरण और निकाचनाकरण इन आठ करणों (करण का अर्थ है आत्मा का परिणामविशेष) पर उदय और सजा इन दो प्रयोगाभावों का वर्णन किया है। इस पर एक चूणि भी निष्ठी गई थी। प्रसिद्ध टीकाकार गलगणित और उपाध्याय लघोविजयजी ने नंस्त्रित भाषा में इस पर दीका लिखी है। याचार्ये जिवज्ञार्थ की एक अन्य रचना 'प्रज्ञक' है। इस पर भी यक्षणिति ने श्रीका निष्ठी है। पार्श्वकृति के जिए चर्चाएँ महत्व ने पंच-

^{२३.} कर्मग्रन्थ, भाग १ प्रस्तावना, पृ. १५-१६ पं. गुरुवर्णानंदजी

संग्रह की रचना की और उस पर स्वोपनशृंखला भी लिखी। इसके पूर्व भी दिग्म्बर परम्परा में प्राकृत पञ्चसंग्रह उपलब्ध था, किन्तु उसको कर्मचिष्ठिक किया ही नहीं था। मात्रताएं आगम-साहित्य से भेज नहीं आती थीं, इसलिए चन्द्रपि महत्तर ने नवीन पञ्चसंग्रह की रचना कर उसमें आगम मात्रताएं शुरू की। आचार्य भलयगिरि ने उस पर भी मंस्कृत टीका लिखी है। जैन परम्परा के प्राचीन आचार्यों ने प्राचीन कर्मयन्त्र भी लिखे थे। जिनके नाम इस प्रकार हैं—कर्म-विषाका, कर्म-स्त्री, वंध-स्वामित्व, सप्तातिका और शतक। इन पर उनका स्वयं का स्वोपन विकरण है। प्राचीन कर्मयन्त्रों को आधार बना कर देवन्द्रसूरि ने नवीन पांच कर्म यन्त्र बनाये। उस प्रकार जैन परम्परा में कर्मचिष्ठिक साहित्य पर्याप्त उर्वर स्थिति में है। मध्य युग के आचार्यों ने इन पर आलावदोध भी लिखे हैं, जिन्हें प्राचीन भाषा में टब्बा कहा जाता है।

जैन वर्णन का मन्त्रध्य

कर्मवाद के मन्त्रिक दार्शनिक चिन्तकों ने कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, धून्द्रकावाद, भूतवाद, पुरुषवाद, आदि भास्यताप्रीति का सुन्दर समन्वय करते हुये इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। विश्व-वैचिक्य का मुख्य कारण कर्म है और काल आदि उसके सहकारी कारण है। कर्म को प्रधान कारण मानने से जन-जन के मन में आत्मविश्वास और आत्मवल पैदा होता है और माथ ही पुरुषार्थ का पोषण होता है। सुख-दुःख का प्रधान कारण अन्यथा न हो त कर अपने आग में दूँड़ना बुद्धिमत्ता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि काल, स्वभाव, नियति, पुरुषकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में से चिरती एक को ही कारण माना जाए और शेष कारणों की उपेक्षा की जाए, यह भिन्नत्व है। कार्यनिष्ठता में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किया जाय^{२४} यह सम्यकत्व है। इसीका समर्थन आचार्य हरिमद्र ने भी किया है।^{२५}

देव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के मन्त्रध्य में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। आचार्य समत्तभद्र ने लिखा है—बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना देवाद्वीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं पर देव प्रधान होता है तो कहीं पर पुरुषार्थ।^{२६} देव और पुरुषार्थ के सही मन्त्रिक समन्वय से ही अर्थमिद्दि होती है।

जैनदर्शन में जड़ और ऐतन पदार्थों के नियामक के रूप में ईश्वर या पुरुष की सत्ता नहीं मानी गई है। उपरका मन्त्रध्य है कि ईश्वर या बहु को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व संहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणों से ही प्राणियों के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। यतात्त्व कर्मसूलक विश्वव्यवस्था मानना तर्कमंगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने-आप फल प्रदान करने में समर्थ होता है।

कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने के लिए हमें सर्वश्रेष्ठ वेदकालीन कर्म सम्बन्धी विचारों पर ध्यान देना होगा। उपलब्ध साहित्य में वेद सबसे प्राचीन हैं। वैदिक युग के महर्षियों को कर्म-सम्बन्धी ज्ञान

२४. कालो सहाव यियई पुष्टकम् पुरिमकारणेण्टा ।

२५. भिन्नत्वं तं देव उ समासश्चो हुति समत्वं ॥ — सम्भितिकं प्रकरण ३.५३

२६. शास्त्रवार्तासमुच्चय १९१-१९२

२७. आप्तमीमांसा ८८-९१

या या नहीं ? इस पर विज्ञों के दो मत हैं। कितने ही विज्ञों का यह मत है कि वेदो—संहिता ग्रन्थों में कर्मचाद का वर्णन नहीं आया है, तो कितने ही विद्वान् कहते हैं कि वेदों के रचयिता ऋषिगण कर्मचाद के ज्ञाता थे ।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों में कर्मचाद की चर्चा नहीं है, उनका कहना है कि वैदिक काल के ऋषियों ने ग्रन्थियों में गहरा वैचित्र्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होंने उसके मूल की अन्वेषणां अन्तर् में न कर बाह्य जगत् में की । किसी ने कपनीय कल्पना के गमन में विहरण करते हुये कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति का वारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वों को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण घोषा । तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण घोषा । इस तरह वैदिक पुण्य का सम्पूर्ण नस्त्वचित्तन ऐव और यज्ञ की परिधि में ही विकसित हुआ । पहले विविध देवों की कल्पना की गई और उसके पश्चात् एक देव की महत्त्व स्थापित की गई । जीवन में सुख और वैभव की उपलब्धि हो, मनु पराजित हो, अतः देवों की प्रार्थनाएँ की गई और भजीव व निर्जीव पदार्थों की आहृतियाँ दी गई । यजकर्म का धर्मः धर्मः विकास हुआ । इस प्रकार यह विचारधारा संहिताकाल से निकट द्वाहृणकाल तक क्रमाण्विकसित हुई ।^{२५}

आरण्यक और उपनिषद् युग में देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका भंहिताकाल व द्वाहृणकाल में अभाव था । उपनिषदों से पूर्व के वैदिकसाहित्य में कर्मविषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषद्काल में 'अद्वृट्' के रूप कर्म का वर्णन मिलता है । यह सत्य है कि कर्म की विश्ववैचित्र्य का कारण मानने भी उपनिषदों का भी एकमत नहीं रहा है । ऐतेष्वतर उपनिषद् के प्रारम्भ में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष की ही विश्व-वैचित्र्य का कारण घोषा है, कर्म की नहीं ।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदों—संहिता-ग्रन्थों में कर्मचाद या कर्म-गति आदि शब्द भले ही न हों किन्तु उनमें कर्मचाद का उल्लेख प्रवक्ष्य हुआ है । ऋग्वेदसंहिता के निम्न मंत्र इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं—शुभस्पतिः (शुभ कर्मों के रक्षक), धियस्पतिः (सत्य कर्मों के रक्षक), विचर्यणः तथा विश्वचर्यणः (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा) विश्वस्य कर्मणो धर्ता (सभी कर्मों के प्राधार) आदि पश्च देवों के विषेषणों के रूप में व्यवहृत हुये हैं । कितने ही मंत्रों में रूपट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से घमरत्व की उपलब्धि होती है । कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार संसार में जन्म लेता है और मरता है । वामदेव ने अनेक पूर्वभवों का वर्णन किया है । पूर्व जन्म के दुष्कृत्यों में ही लोग पाप कर्म भेद ग्रहण करते हुए कहा गया है कि अद्वृट्-कर्म करने वाले भोग देवयान में ब्रह्मलोक को जाने हैं और साधारण कर्म करने वाले पितृवान में चन्द्रनीक में जाने हैं । ऋग्वेद में पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, यता आदि स्थावर जरीरों में प्रविष्ट होना है, इसका वर्णन है । 'मा वा भूजेमान्य जातमेनो' 'मा वा एनो अन्यकृतं भूजेम' आदि मन्त्रों से यह भी जात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों को भी भोग सकता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मन्त्रों में प्रार्थना की है । भूख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है पर विषिष्ट शक्ति के अभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है ।^{२६}

२५. (क) आत्ममीमांसा—पृ० ७९-८० प० दलभूत मालवणिया

(ख) जैन धर्म और दर्शन—पृ० ४३०, डा० मोहनलाल मेहता

२६. (क) भारतीय दर्शन - पृ० ३१-४१, उमेश मिश्र

(ख) जैन धर्म और दर्शन—पृ० ४३२

उपर्युक्त दोनों मतों का गहराई से अनुचितन करने पर ऐसा समष्टि ज्ञान होता है कि वेदों में कर्म सम्बन्धी मान्यताओं का युग्म रूप में अभाव तो नहीं है परं देववाद और धज्जवाद के प्रभूत्व में कर्मवाद का विश्लेषण। एकदम यीश ही यथा है कि कर्म क्या है, वे किस प्रकार धंधने हैं और किस प्रकार प्राणी उनमें मृक होते हैं, आदि जिज्ञासाओं का गमाधार वैदिक गंहिताओं में नहीं है। वहाँ परं मुख्य भूमि में वज्रकम का ही कर्म माना है और कदम-कदम पर देवों में सहायता के लिए याचना की है। तब यज्ञ और देव की आपेक्षा कर्मवाद का महत्व अधिक बढ़ते लगा, तब उसके समर्थकों ने उन दोनों वाचों का कर्मवाद के मध्य समन्वय करने का प्रयाग किया और यज्ञ से ही समन्वय करने की प्राप्ति स्वीकार की। इस समन्वय का दार्शनिक रूप मीमांसादण्ठ है। यज्ञ विषयक चिनारणा के साथ देव विषयक विचारणा का भी विकास हुआ। दाह्याणकान्त्र में अनेक देवों के ज्ञान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने भी कर्म के साथ प्रजापति का समन्वय कर कहा प्राणी अपने कर्म के अनुसार कर्म अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल प्राप्ति अपने आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवों को अपने-अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता है। वह स्यायाधीश की नरह है। इम विचारधारा का दार्शनिक रूप न्याय, वैणिक, सेष्वर-नांख्य और वेदान्त दर्शन में द्रुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानों को वैदिक परम्परा में कर्म कहा गया है। वे अस्थायी हैं। उसी समय समाप्त हो जाते हैं तो वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं? इसनिए फल प्रदान वरने वाले एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की गई। उसे मीमांसादण्ठन ने 'प्रपूर्व' कहा। वैणिकदर्शन में 'अदृष्ट' एक गुण माना गया है, जिसके घर्म अधिम रूप ये दो भेद हैं। स्यायदण्ठन में धर्म और अधिम को 'संस्कार' कहा है। अच्छे लुगे कर्मों का आत्मा परं संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। 'अदृष्ट' आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के साध्यम में भिलता है।^{२९} चूंकि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न कर तो कर्म निष्फल हो जाए। सांख्य कार्म की प्रकृति का विकास कहते हैं।^{३०} शेष और कनिष्ठ प्रवृत्तियों का प्रकृति परं संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कार में ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में कर्मवाद का विकास हुआ है।

बोद्धदण्ठन में कर्म

बोद्ध और जैन ये दोनों कर्म-प्रधान अमण्ड-संस्कृति की धाराएँ हैं। बोद्ध-परम्परा ने भी कर्म की अदृष्ट जक्षि पर चिन्नम चिन्ना है। उसका अनिष्ट है कि जीवों में जो विचित्रता दृष्टियोजन होती है वह कर्मवृत्त है।^{३१} लोभ (राग)-ह्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। राग-ह्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों करता है और राग-ह्वेष और मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह मन्मार चक्र निरन्तर चलता रहता है।^{३२} जिस चक्र का न आदि है, न अन्त है चिन्तु अनादि है।^{३३}

२९. ईश्वरः कारणं पुष्पकर्मकनस्य दर्शनात् । —स्यायसूत्र ४।१

३०. ग्रन्तः कारणवर्मत्वं विगदीनाम् । —सांख्यसूत्र ४।२५

३१. (क) भासितं पेतं महाराज भगवतो-कम्मसम्बोधायादा, कम्मयोनी, कम्मदन्त्यु कम्मपटि-सरणा, कम्मं मते विभजति यदिदं हीमपर्णीततायाति । —मिलित्प्रश्न ३।२

(घ) कर्मजं लोकवैचिल्यं — अभिधर्मकोष ४।१

३२. अंगुस्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र ३६: १ पृ. १३४

३३. संयुक्तनिकाय १४।५।६ भाग २, पृ. १८१-१८२

एक बार गजा मिलिन्ड ने चतुर्वार्य नागेन्द्र से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कही है ? समाप्तान करते हुए चतुर्वार्य ने कहा — वह विवेकाया नहीं जा सकता कि कर्म कहाँ रहते हैं ।^{३५}

विसुद्धिमग्ग में कर्म की प्रलयी कहा है ।^{३६} अभिधर्मकोष में उस प्रविज्ञप्ति को स्वप्न कहा है ।^{३७} यह रूप संप्रदित्त रूप होकर दर्शित है ।^{३८} धर्मादिक गण की दृष्टि में कर्म का समावेष अरूप में है, वे अविज्ञप्ति^{३९} की नहीं मानते हैं। बीड़ों ने कर्म की गुणम भासा है। मन, वचन, प्रौर कथा की जो प्रवृत्ति है वह कर्म कहलाती है पर वह विज्ञप्ति है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तत्त्वाय मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं किन्तु प्रत्यक्ष कर्मन्य संस्कार है। बीड़ परिभाषा में इसे वासना आंश अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक किरणन्य संस्कार-कर्म को वासना कहा है और वचन एवं कथा जन्य संस्कार-वार्ता को अविज्ञप्ति कहा है ।^{४०}

विज्ञानवादी बाढ़ु कर्म को 'वासना' शब्द से पुकारते हैं। प्रजाकार का अभिमन है कि शितं भो कार्य हैं वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान प्रकृति हो या अन्य कुछ इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को व्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपर्याति की जाए तो भी वासना को माने विना कार्य नहीं हो सकता। दूसरे अल्दों में कहें तो ईश्वर प्रधान कर्म इन सभी मरिताश्रों का प्रवाह वासना नमुद्र में मिलकर एक हो जाता है।^{४१} गूच्छवादी मत के मन्त्रन्य के अनुसार श्रावादि घटिका का अपर नाम ही वासना है।

विलक्षण-घण्ठान

जैन-भाद्रित्य में कर्मवाद के मन्त्रन्य में पर्याप्त विवेदण किया गया है। जैनघण्ठान में प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है, उसका किसी भी भारतीय परम्परा में दर्शन नहीं होता। जैनपरम्परा इस दृष्टि में सर्वेषा विलक्षण है। आगम यादित्य में लेकर वत्तभान साहित्य में कर्मवाद वा विकास किस प्रकार हुआ है, इस पर पुर्व में ही संक्षेप में लिखा जा चुका है।

कर्म का अर्थ

कर्म वा शान्तिक अर्थं कार्यं, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी क्रिया जाता है वह कर्म है। सोना, दैठना, खाना, पीना आदि जीवन व्यवहार में जो कुछ भी कार्यं क्रिया जाता वह कर्म कहलाता है। व्याकरणशास्त्र के कर्ता 'पाणिति' ने कर्म की व्याख्या करते हुए कहा — जो कर्ता के लिए अत्यन्त छष्ट हो वह कर्म है।^{४२} मीमांसादर्शन ने क्रिया-काण्ड को या यज आदि अनुष्टान को कर्म कहा है। वैषेषिकदर्शन में कर्म की परिभाषा

३४. न मक्का महाराज तानि कम्मानि दम्मेनुः इध व सध वा तानि कम्मानि तिद्धल्लीति ।

—मिलिन्ड प्रग्न ३।१५, पृ. ७५

३५. विसुद्धिमग्ग १७।११०

३६. अभिधर्मकोष ११०

३७. देखिए यात्मभीमांसा, पृ. १०८

३८. नीमी भरियंदल कोनकरंम, पृ. ५२०

३९. (क) अभिधर्मकोष चतुर्थ परिच्छेद, (ख) प्रमाणवाचनिकालकार, ७५

४०. व्यायावतारवाचनिक वृत्ति की टिप्पणी, पृ. १७७-८ में उद्घृत

४१. कर्तुं शीघ्रिततमं कर्म । —अष्टाङ्गवाची १।४।७९

इस प्रकार है—जो एक इच्छा में संबंधित रहता हो, जिसमें कोई गुण न हो, और जो संयोग या विभाग में कारणजनक वी अपेक्षा न करे।^{४३} सांख्यदर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है।^{४४} गीता में कर्मशीलता को कर्म कहा है।^{४५} न्यायशास्त्र में उत्थोपण, अपक्षेपण, प्राकृचन, प्रसारण तथा गमनरूप पांच प्रकार की कियाओं के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त-विद्वान् चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यों को कर्म की सज्ञा प्रदान करते हैं। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्मरूप कहते हैं। बौद्धदर्शन जीवों की विविधता के कारण को कर्म कहते हैं, जो वासना रूप है। जैन-परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है—भावकर्म और द्रष्टव्यकर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम धर्मात् कथायभाव कर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल-जड़तत्त्व विशेष, जो काणाय के कारण आत्मा के साथ मिल जाता है द्रष्टव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणमन विशेषप्राप्त पुद्गल भी कर्म है।^{४६} कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा में मिल एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय सत्त्व-कर्म का संयोग है, तभी तक मंमार है और उस संयोग के नाम होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

विभिन्न परम्पराओं में कर्म

जैन-परम्परा में जिस अर्थ में 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उस या उसने मिलते-जुलते अर्थ में भारत के विभिन्न दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आण्य, धर्माधिमे, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। वेदान्तादर्शन में माया, अविद्या और प्रकृति शब्दों का प्रयोग हुआ है। मायासादर्शन में अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्धदर्शन में वासना और अविद्यापि शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सांख्यदर्शन में 'प्राणय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिकदर्शन में अदृष्ट, संस्कार और धर्माधिमे शब्द विशेष रूप में प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनों में हुआ है। भारतीय दर्शनों में एक चारोंकदर्शन ही ऐसा दर्शन है, जिसका कर्मवाद में विषदास नहीं है। क्योंकि वह आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं मानता है। इगलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्जन्व, परजीक आदि को भी वह नहीं मानता है।^{४७}

न्यायदर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों में प्रेरणा भ्राष्ट कर जीवों में मन, वचन और काय को प्रवृत्तियों होती है और उससे धर्म और जघन की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और प्रवर्त्म संस्कार कहलाते हैं।^{४८}

वैशेषिकदर्शन में चौबीस गुण भावे यथे हैं उनमें एक अदृष्ट भी है। यह गुण संस्कार में पृथक है और

४३. वैशेषिकदर्शनभाष्य

—११७ प्र. ३५

४४. सांख्यतत्त्वकोमुदी ६७

४५. योगः कर्मसु कीणलम्

४६. प्रवचनसार टीका २१२५

४७. (क) जैनधर्म और दर्शन पृ. ४४३

(ब) कर्मचिपाक के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, पं. सुखलालजी, पृ. २३

४८. न्यायभाष्य १। १। २ आदि

धर्म-धर्म ये दोनों उसके भेद हैं।^{४८} इस तरह न्यायदर्शन में धर्म, धर्म का समावेष संस्कार में किया गया है। उसी धर्म-धर्म को वैशेषिकदर्शन में अदृष्ट के प्रत्यर्थी किया गया है। राग आदि दोनों से मंस्कार होता है, मंस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोनों उन दोनों से पुनः मंस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवों की संसार परम्परा बीजांकुरबन् अनादि है।

सांख्य-योगदर्शन के भूमिकानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष इन पाँच कलेशों से विलब्दवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत किलब्दवृत्ति में धर्मधर्म रूपी मंस्कार पैदा होता है। मंस्कार को इस वर्णन में बीजांकुरबन् अनादि माना है।^{४९}

मीमांसादर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पूर्वार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही सभी फलों का फल देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वेद द्वारा प्रकृष्टिकर्म से उत्पन्न होने वाली थोगता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वही पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नहीं कहा है।^{५०}

बौद्धदर्शन का मत यह है कि अनादि अविद्या या मत्ता ही विषदवेचिव्य का कारण है।^{५१} ईश्वर स्वयं मायाजन्य है। वह कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फलप्राप्ति कर्म में नहीं स्पष्ट है।^{५२}

बौद्धदर्शन का अभिमत है कि भौतिक्य मंस्कार वासना है और वस्त्र कायजन्य मंस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से भी प्राणी मन, वस्त्र और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और उसमें पुनः लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है इस तरह अनादि काल से यह संसारचक्र चल रहा है।^{५३}

जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ मंस्कार या वासना रूप मानते हैं वहाँ जैनदर्शन उसे पौद्यनिक मानता है। यह एक परम्परा हृष्टा भिन्नता है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विवाहित नहीं होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु नहीं हो सकता। कर्म आत्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का कारण है, गुणों का विवाहित है, अतः वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

वेदी से मानव बंधता है, यदिरापान से पापन होता है और बलोरोकार्म से बेभान। ये सभी पौद्यनिक वस्तुएँ हैं। ठीक इसी तरह कर्म के संयोग से आत्मा की भी ये दशाएँ होती हैं, अतः कर्म भी पौद्यनिक है। वेदी आदि का बंधन वाहनी है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा के साथ जिपके हुए हैं, अधिक सामर्थ्य वाले मूल्य स्कन्ध हैं, एवं दर्थ हो वेदी आदि की भवेष्या कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आन्तरिक अमाव पड़ता है।

४८. प्रणस्तपादभाष्य, पृ. ४७ — (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस १९३०)

४९. योगदर्शन भाष्य ११५ आदि

५०. (क) शावरभाष्य २।१।५ (ख) तत्त्वात्मिक २।१।५ आदि

५१. शांकरभाष्य २।१।१४

५२. शांकरभाष्य ३।२।३८-४१

५३. (क) अंगुत्तरनिकाय ३।३।३।१ (ख) संयुक्तनिकाय १५।४।६

जो पुद्गल-परमाणु कर्म रूप में परिणत होते हैं, उन्हें क्रमेवर्गणा कहते हैं और जो जीवरूप में परिणत होते हैं उन्हें नोकर्म-वर्गणा कहते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। शरीर पौद्गणिक है, उसका कारण कर्म है, अतः वह भी पौद्गणिक है। ऐश्वर्यालिक इसमें का भगवान् भी कर्मात् तीद्वयित्व है, मिट्टी प्रादि भौतिक है और उसमें निषित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होनी है और गस्त्रादि के प्रहार से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जैसे पौद्गणिक हैं वैसे ही सुख-दुःख के प्रदाता कर्म भी पौद्गणिक हैं।

बध की दृष्टि में जीव और पुद्गल दोनों एकसेक हैं, एवं अधरण की दृष्टि में दोनों पृथक्-पृथक् हैं। जीव प्रमुर्त व चेतनायुक्त है, जबकि पुद्गल मूर्त और अचेतन है।

इन्द्रियों के विषय-स्पर्श, रस, गंध, रूप और ग्रन्थ ये मूर्त हैं और उनका उपयोग करने वाली इन्द्रियों भी मूर्त हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख दुःख भी मूर्त है, अतः उनके कारणमयूत कर्म भी मूर्त हैं।^{४४}

मूर्त ही मूर्ति से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों में अवकाश देता हो जाता है।^{४५}

जैन दर्शन में कर्म शब्द किया। वह वाचक नहीं रहा है। उसके मनव्यानुगमार वह प्रान्मा पर नहे हुए सूक्ष्म पौद्गणिक पदार्थ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय की द्रवृत्तियों से कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को आकृतिक करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति जभी होती है जब जीव कर्मसम्बद्ध हो। जीव के साथ कर्म तभी संबद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति ने कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल ने चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को स्थग्य में रखने हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्डस्थ कर्म को द्रव्यकर्म कहा और राग-द्वे पादिकृप प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा है।^{४६} इस तरह कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हुए—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म और भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म कारण है। जैसे वृक्ष से व्रीज और वीज से वृक्ष वौ परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकर्म में भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का सिलसिला भी चलाया जाता है।^{४७}

कर्म के कलृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते शमश गंगारी आन्मा और मुक्त आन्मा का शत्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कलृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध मंसारी आन्मा में है, मुक्त आन्मा में नहीं। मंसारी आन्मा कर्मों ने बंधा है। उसमें चैतन्य और जड़त्व का मिश्रण है। मुक्त आन्मा कर्मों से रहन होता है, उसमें विशुद्ध चैतन्य ही होता है। बद्ध आन्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल-परमाणु आकृष्ट होकर परम्परा तक दूसरे के साथ मिल जाते हैं, नीरक्षीरवत् एक ही जाते हैं, के बने जहलाते हैं। इस नरह कर्म भी जड़ और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो गकाना है कि मंगारी आन्मा भी जड़ और चेतन का मिश्रण

४४. गम्भा कम्पस्म फलं विषयं फास्ति भूजदे णिययं।

जीवेण सुहं दुष्कर्त तम्भा कम्भाणि सुत्ताणि ...॥ —पञ्चालिकाय १४१

४५. पञ्चारितकाय १४२

४६. कर्मप्रवृत्ति—नेमिषन्दाचार्य विरचित ६

४७. देखिया धर्म और वर्णन, पृ. ४६ देवनद्रमुनि शास्त्री

है और कर्म में भी वही बाल है, तब दोनों में अन्तर क्या है? उत्तर है कि संसारी आत्मा का जीव कहलाता है और जड़ अंश कर्म कहलाता है। ऐसे दोनों और जड़ अंश इस प्रकार के नहीं हैं जिनका संसार-ध्वन्यस्था में अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था में ही होता है। संसारी आत्मा सदैव कर्मयुक्त ही होता है। जब वह कर्म में मुक्त हो जाता है तब वह मुक्त आत्मा कहलाता है। कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाता है तब वह कर्म नहीं पुद्गल कहलाता है। आत्मा से सम्बद्ध पुद्गल प्रत्यकर्म है और इव्वकर्मयुक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्गल के तीन रूप होते हैं—(१) शुद्ध आत्मा—जो मुक्तावस्था में है। (२) शुद्ध पुद्गल (३) आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण—जो संसारी आत्मा में है कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध आत्मा और पुद्गल की सम्मिश्रण-ध्वन्यस्था में है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

महूज जिजासा हो सकती है कि अमूल आत्मा मूल कर्म का माय किस प्रकार सम्बद्ध हो सकता है? समाधान है कि प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने बंसार और जीवात्मा को अनादि माना है। असादिकाल से वह कर्मों से बंधा हुआ और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएँ कर्मचित् मूल हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो स्वरूप से अमूल होने पर भी संसार-ध्वन्य में मूर्त हैं।

जो आत्मा पूर्णरूप से कर्मयुक्त हो जाता है उसकी कभी भी कर्म का बंधन नहीं होता। अतः आत्मा और कर्म का सम्बन्ध मूर्त का मूर्त में माय होते जाना बंधन है। दोनों का असादिकालीन सम्बन्ध चला जा रहा है।

हम पूर्व में बता चुके हैं कि मूर्त भावक द्रव्यों का अपर अमूर्त ज्ञान पर होता है वैसे ही विकारी अमूर्त आत्मा पर भूर्त कर्म-पुद्गलों का प्रभाव होता है।

कर्म कीन बीधता है?

अकर्म के कर्म का बंधन नहीं होता। जो जीष पहले में ही कर्मों से बंधा है वही जीव नये कर्मों को बीधता है।^{५८}

मोहकर्म का उदय होने पर जीव राग-द्वेष में परिणत होता है और वह अणुभ कर्मों का बंध करता है।^{५९}

मोहरहित जो बीतराग जीव है वे योग के कारण शुभ कर्म का बंधन करते हैं।^{६०}

गीतम्—भगवन्! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है।

भगवन्! गीतम्! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श पर्यावान (अहं) उदीरणा वेदना और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी जीव नहीं करता।^{६१}

गीतम् ने दुःख—भगवन्! कर्म कीन बीधता है? संयत, असंयत अथवा संश्नासंयत?

५८. प्रश्नापना २३।१।२५२

५९. भगवती ९.

६०. भगवती ९.

६१. भगवती ७।१।२६८

भगवन् ने कहा—गौतम ! प्रसंक्षेत्र, संयतासंयत और संयत ये सभी कर्म बौधते हैं। तात्पर्य यह है कि सकर्म आत्म आत्मा ही कर्म बंधक हैं, उन्हीं पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्मबंध के कारण

जीव के साथ कर्म वा अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणों से बंधते हैं, यह एक सहज जिजासा है। गौतम ने प्रश्न किया—मगवन् ! जीव कर्मबंध कैसे करता है ?

भगवन् ने उत्तर दिया—गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म वा तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्म का उदय होता है और मिथ्यात्म के उदय से जीव आठ प्रकार के बातों को बैधता है।^{५३}

स्थानाङ्क^{५४} समनागाह^{५५} में तथा तामाभासि में कर्मबंध के पांच कारण वर्ताये हैं—(१) मिथ्यात्म, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।^{५६}

संक्षेप दुष्टि से कर्मबंध के दो कारण हैं—कषाय और योग।^{५७}

कर्मबंध के चार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।^{५८} इनमें प्रकृति और प्रदेश का बंध योग से होता है परं लिखति वा अनुभाग का बंध कषाय से होता है।^{५९} संक्षेप में कहा जाय तो कषाय ही कर्मबंध का मुख्य हेतु है।^{६०} कषाय के अभाव में साम्परायिक कर्म का बंध नहीं होता। दसवें गुणस्थान तक दोनों वारण रहते हैं, अतः वहाँ तक साम्परायिकबंध होता है। कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिकबंध कहलाना है और वीतराग को योग के निभिन्न से जो गमनागमन आदि क्रियाओं से कर्मबंध होता है वह ईर्यापूर्थिकबंध कहलाना है।^{६१} ईर्यापूर्थ-कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन^{६२} प्रजापना^{६३} में श्रो समय की मानी है और यिगम्बर घन्थों में एवं पं० सुखलालजी^{६४} ने सिफ़ एक समय की मानी है। योग होने पर भी अग्र विषयात्मा वा तो उपाजित कर्म की स्थिति या रग का बंध नहीं होता। लिखति और रग दोनों के बंध का कारण फगाय ही है।

विस्तार से कषाय के चार भेद हैं—कोघ, मान, माया और लोभ।^{६५} स्थानाङ्क और प्रजापना में

६२. प्रजापना २३।१।२८।

६३. स्थानाङ्क ४।१५

६४. समवायाङ्क ५। समवाय

६५. तत्त्वार्थसूत्र ८।१

६६. समवायाङ्क २

६७. तत्त्वार्थसूत्र ८।४

६८. (क) स्थानाङ्क ५ रुथान (ख) पञ्च कर्मस्थान गा. ५।६

६९. तत्त्वार्थसूत्र ८।२

७०. तत्त्वार्थसूत्र ८।५

७१. उत्तराध्ययन अ० २१।१०।७१

७२. प्रजापना २३।१३।१०।१३।७

७३. (क) समयट्रिविगो बंधी……गोम्यतसार कर्मकांड, (ख) तत्त्वार्थसूत्र पं० सुखलालजी, गृ० २।१७

७४. (क) सूत्रकृताङ्क ४।२६, (ख) स्थानाङ्क ४।१२५।, (ग) प्रजापना २३।१।२९।

कर्मवध के ये नार कारण बताये हैं। मंक्षेप में कारण के दो भेद हैं—राम और द्वेष में भी उन चारों का समन्वय हो जाता है। राम में साया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश होता है।^{७३} राग और द्वेष के द्वारा ही श्रद्धविध कर्मों का बंधन होता है^{७४} अतः राग-द्वेष को ही आवक्तम माना है।^{७५} राग-द्वेष का मूल मोह ही है।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है...जिस मनुष्य के भगीर पर तेज चमड़ा हो, उसका णरीर उड़ने वाली घूल से लिप्त हो जाता है। वैसे ही राग-द्वेष के भाव से आकिनज्ञ हुए आत्मा पर कर्म-रज का बंध हो जाता है।^{७६}

स्मरण रखता चाहिए कि मिथ्यात्व की जो कर्म-बंधन का कारण कहा है, उसमें भी राग-द्वेष हो प्रमुख है। राग-द्वेष की तीक्ष्णा से ही जान विगरीत होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ मिथ्यात्व होता है यहाँ अन्य कारण स्वतः होते ही हैं। अतः शब्द-भेद होने पर भी सभी का भार एक ही है। केवल मंक्षेप-विस्तार के विकाशभेद से उक्त कथन समझना चाहिए।

जैनदर्शन भी तरह बीदू-दर्शन ने भी कर्मबंधन का कारण मिथ्याज्ञान और मोह माना है।^{७७} न्यायदर्शन का भी यही मन्तव्य है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है। प्रस्तुत मोह केवल तन्त्रज्ञान की अनुत्तरिति है नहीं है किन्तु भगीर द्वन्द्व, मन, वेदना, बुद्धि, ये अनात्मा होने पर भी इनमें मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान ओर मोह है। यही कर्मबंधन का कारण है।^{७८} वैशेषिकदर्शन भी प्रकृत कायन का समयन करता है।^{७९} सांख्यदर्शन भी बंध का कारण विष्वास मानता है।^{८०} श्रीर विष्वास ही मिथ्याज्ञान है।^{८१} योगदर्शन कलेश की बंध का कारण मानता है और कलेश का कारण अविद्या है।^{८२} उपनिषद्^{८३} भगवद्गीता^{८४} और ऋत्यमूर्ति में भी अविद्या को ही बंध का कारण माना है।

इस अन्तर वैदिक-वैष्णव दर्शनों से कर्मबंध के कारणों में शब्दभेद और प्रक्रियाभेद होने पर भी मूल भावनाओं में खास भेद नहीं है।

७२. उत्तराध्ययन उ२१४

७३. (क) स्थानाङ्क २१३, (ख) प्रजापना ८३, (ग) प्रवृत्तनसार या० १५

७४. प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति आचार्य नमि

७५. (क) उत्तराध्ययन ३२०, (ख) स्थानाङ्क २१२, (ग) मप्यसार याथा १४१६।१०९।१७७,
(घ) प्रवृत्तनसार १।८।१।८

७६. आवश्यक टीका

७७. (क) मुञ्जनिपात ३।१८।३३, (ख) विसुद्धिमण्ड १।१।३०२, (ग) मजिभमनिकाय महातण्हसंख्यसूत्र ३८

७८. (क) न्यायमाण्ड ४।२।१, (ख) न्यायसूत्र १।१।२, (ग) न्यायसूत्र ४।१।३, (घ) न्यायसूत्र ४।१।६

७९. (क) प्रशस्तपाद गु० ५।३।८ विषयेय निरूपण, (ख) प्रशस्तपाद भाव्य यंसागात्मग्रं प्रकरण

८०. सांख्यकारिका ४४-४३-४८

८१. ज्ञानस्य विषयेयोऽज्ञानम् —मरण बृति ४४

८२. योगदर्शन ३।३।८

८३. कठोपनिषद् १।२।५

८४. भगवद्गीता ५।१।५६

निश्चयनय और व्यवहारनय

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से भी जैववर्गन में कर्म-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। जो पर-निमित्त के बिना वस्तु के साइकल स्वरूप का कथन करता है वह निश्चयनय है और जो परनिमित्त की अणेक से वस्तु का कथन करता है वह व्यवहारनय है। प्राण है कि निश्चय और व्यवहार की प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार क्या कर्म के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का निरूपण हो सकता है? परनिमित्त के अभ्यव में वस्तु के बास्तविक स्वरूप के कथन का अर्थ है शुद्ध वस्तु के स्वरूप का कथन। इस अर्थ की दृष्टि से निश्चयनय शुद्ध-आनंदा और शुद्ध-पुद्गल का ही कथन कर सकता है, पुद्गल-मिश्रित आत्मा का या आत्म-मिश्रित पुद्गल का नहीं। अतः कर्म के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का कथन निश्चयनय में किस प्रकार सम्भव है? ८५ चूंकि कर्म का सम्बन्ध सांसारिक आत्मा में है। व्यवहारनय परनिमित्त की अणेक से वस्तु का निरूपण करता है अतः कर्मयुक्त आनंदा का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है। निश्चयनय पदार्थ के शुद्ध स्वरूप का अर्थात् जो वस्तु स्वभाव से अपने आप में जैसी है वैसी ही प्रतिपादन करता है और व्यवहारनय संसारी आत्मा जो कर्म से युक्त है उसका प्रतिपादन करता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारनय में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। दोनों की विषयवस्तु मिश्र-भिश्र है, उनका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि का निरूपण नहीं हो सकता। वह मुक्त आत्मा और पुद्गल आदि शुद्ध अजीव का ही प्रतिपादन कर सकता है।

कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कितने ही चिन्तकों ने निश्चय और व्यवहारनय की मर्यादा को विग्रह करके निश्चयनय में कर्म के कर्तृत्व भोक्तृत्व का निरूपण किया है जिससे कर्म सिद्धान्त में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। इन समस्याओं का कारण हैं संसारी जीव और मुक्त जीव के भेद का विस्मरण और साथ ही कभी-कभी कर्म और पुद्गल का अन्तर भी भुला दिया जाता है। उन चिन्तकों का भक्तव्य है कि जीव न तो कर्मों का कर्ता है और न भोक्ता ही है चूंकि द्रव्यकर्म पौद्गलिक हैं, पुद्गल के विकार है, इसलिए पर हैं। उनका कर्ता चेतन जीव किस प्रकार हो सकता है? चेतन का कर्म चेतनलूप होता है और अचेतन वा कर्म अचेतनलूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतनलूप होने लगेगा तो वेनन और अचेतन का भेद नहीं होकर महान् संकर दोष उपस्थित होगा। इसलिये प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है पर-भाव का कर्ता नहीं। ८६

प्रस्तुत कथन में संसारी जीव को द्रव्यकर्मों का कर्ता व भोक्ता इसलिए नहीं माना गया कि कर्म पौद्गलिक है। यह किस प्रकार सम्भव है कि चेतन जीव अचेतन कर्म को उत्पन्न करे? इस हेतु में जो संसारी अशुद्ध आत्मा है उसको शुद्ध चेतन्य मान लिया गया है और कर्म को शुद्ध पुद्गल। किन्तु सत्य तथ्य यह है कि न संसारी जीव शुद्ध चेतन्य है और न कर्म शुद्ध पुद्गल ही है। संसारी जीव चेतन और अचेतन द्रव्यों का मिला-जुला रूप है, इसी तरह कर्म भी पुद्गल का शुद्ध स्पष्ट नहीं अपितु एक विहृत अवस्था है जो संसारी जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति से निपत्ति हुई है और उससे सम्बद्ध है। जीव और पुद्गल दोनों अपनी-अपनी स्वाभाविक अवस्था में हों तो कर्म की उल्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं हो गकता। संसारी जीव स्वभाव में स्थित नहीं है किन्तु उसकी स्व और पर-भाव की मिश्रित अवस्था है, इसलिए उसे केवल स्व-भाव का कर्ता किस प्रकार कह सकते हैं? जब हम यह कहते हैं कि जीव कर्मों का कर्ता है तो इसका ताल्यं यह नहीं कि जीव पुद्गल

८५. पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० ११

८६. पंचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० ११-१२

का निर्माण करता है। पुद्गल तो पहले से ही विद्यमान है। उग्राकार निर्माण जीव नहीं करता, जीव तो अपने सभिकट स्थित पुद्गल परमाणुओं को अपनी प्रवृत्तियों से आकृष्ट कर अपने में मिलाकर नीरक्षीरबत् कर देता है। यहो द्रव्यकर्मों का कर्तृत्व कहलाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना एकान्ततः युक्त नहीं है कि जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है। यदि जीव द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है तो फिर उनका कर्ता कौन है? पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत नहीं होता, जीव ही उसे कर्म रूप में परिणत करता है। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि द्रव्यकर्मों के कर्तृत्व के प्रभाव में भावकर्मों का कर्तृत्व किस प्रकार सम्भव हो सकता है! द्रव्यकर्म ही तो भावकर्मों को उत्पन्न करते हैं। सिद्ध द्रव्यकर्मों से मुक्त हैं इसनिए भावकर्मों से भी मुक्त हैं। जब यह सिद्ध हो जाता है कि जीव पुद्गल-परमाणुओं को कर्म के रूप में परिणत करता है तो वह कर्म फल का भोक्ता भी सिद्ध हो जाता है। चूंकि जो कर्मों से बढ़ होता है वही उनका फल भी भोगता है। इस तरह संसारी जीव कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है किन्तु मुक्त जीव न तो कर्मों का कर्ता है और न कर्मों का भोक्ता ही है।

जो विचारक जीव को कर्मों का कर्ता और भोक्ता नहीं मानते हैं, वे एक उदाहरण देते हैं। जैसे एक युवक, जिसका रूप प्रत्यन्त सुखदर है, कार्यवश कहीं पर जा रहा है, उसके दिव्य व भव्य रूप को निहार कर एक ताणी उस पर मुग्ध हो जाय और उसके पीछे-पीछे चलने लगे तो उस युवक का उसमें क्या कर्तृत्व है? कर्मों नो वह मुचती है। युवक तो उसमें केवल निमित्तकारण है।^{१०} इसी प्रकार यदि पुद्गल जीव की ओर आकर्षित होकर कर्म के रूप में परिवर्तित होता है तो उसमें जीव का क्या कर्तृत्व है। कर्ता तो पुद्गल स्वयं है। जीव उसमें केवल निमित्तकारण है। यही बात कर्मों के भोक्तृत्व के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। यदि यही बता है तो आत्मा न कर्ता सिद्ध होगा, न भोक्ता, न बढ़ होगा, न मुक्त, न राग-द्वेषादि भावों से युक्त सिद्ध होगा और न उनसे रहित ही। परन्तु सत्य तथ्य यह नहीं है। जैसे किसी रूपबान् पर युक्ती मुग्ध होकर उसके पीछे हो जाती है वैसे जड़ पुद्गल चेतन आत्मा के पीछे नहीं लगते। पुद्गल अपने आप आकर्षित होकर आत्मा को पकड़ने के लिए नहीं हैं, और सभी पर फल प्रदान कर उससे पुनः पृथक् हो जाते हैं। इस मम्पूर्ण प्रक्रिया के लिए जीव पूर्णरूप में उत्तरदायी है। जीव की किया से ही पुद्गल परमाणु उसकी ओर खिचते हैं, सम्बद्ध होते हैं और उचित फल प्रदान करते हैं। यह काये न शकेला जीव ही कर गकला है और न शकेला पुद्गल ही कर सकता है। दोनों के सम्बन्धित और पारस्परिक प्रभाव से ही यह सब कुछ होता है। कर्म के कर्तृत्व में जीव की इस प्रकार की निमित्तता नहीं है कि जीव मात्राघात की भाँति निविद्य अवस्था में निमित्त भाव से विद्यमान रहता है और पुद्गल अपने आप कर्म के रूप में परिणत हो जाते हैं। जीव और पुद्गल के परस्पर मिलने से ही कर्म की उत्पत्ति होती है। एकान्त रूप से जीव को चेतन और कर्म की जड़ नहीं कह सकते। जीव भी कर्म-पुद्गल के संसर्ग के कारण कर्तृत्व जड़ है और कर्म भी चेतन्य के संसर्ग के कारण कर्तृत्व चेतन है। जब जीव और कर्म एक-दूसरे से पूर्णरूप से पृथक् हो जाते हैं, उनमें किसी प्रकार का मम्पक नहीं रहता है तब वे अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाते हैं शथनि जीव एकान्त रूप से चेतन हो जाता है और कर्म एकान्त रूप से जड़।

संसारी जीव और द्रव्यकर्म रूप पुद्गल के मिलने पर उसके प्रभाव से ही जीव भी राग-द्वेषादि भावकर्मों की उत्पत्ति सम्भव है। प्रश्न है कि यदि जीव अपने शुद्ध स्वभाव का कलां है और पुद्गल भी अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता है तो राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता कौन है? राग-द्वेष आदि भाव ने जीव के शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत हैं और न पुद्गल के ही शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत हैं अतः उनका कर्ता किसे मानें!

उत्तर है—जैतन आत्मा और अचेतन द्रव्यकर्म के मिथित रूप को ही उन अणुद्वैभाविक भावों का कर्ता मान सकते हैं। राग-हेतादि भाव जैतन शोर वनेन्त द्रव्यों के ममिमाण में पैदा होते हैं, वैमें ही भन, वचन और काय आदि भी। कर्मों को विभिन्नता और विविधता रो ही यह मारा बैचित्र्य है।

निष्ठयद्विलिंग में कर्म का कर्तृत्व और सांकेतिक मानने वाले चिन्तक कहते हैं—आत्मा अपने स्वाभाविक ज्ञान, वर्णन, वास्त्रिक आदि का और वैभाविक भाव राग, देव आदि का कर्ता है परन्तु उसके निमित्त से जो पुद्गल-परमाणुओं में कर्मसूप परिणामन होता है उसका वह कर्ता नहीं है। जैसे घड़े का कर्ता मिट्टी है, कुंभार नहीं। लोक-भाषा में कुंभार को घड़े का बनाने वाला कहते हैं पर इसका सार इतना ही है कि घट-प्रयाणी में कुंभार निमित्त है। वस्तुतः घट भूतिका का एक भाव है इसनिए उसका कर्ता भी मिट्टी ही है।^१

किन्तु प्रस्तुत उदाहरण उपयुक्त नहीं है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध घड़े और कुंभार के समान नहीं है। घड़ा और कुंभार दोनों परम्पर एकमेक नहीं होते किन्तु आत्मा और कर्म नीरस्त्रीरवत् एकमेक हो जाते हैं। इसलिए कर्म और आत्मा का परिणामन घड़ा और कुंभार के परिणामन से पृथक् प्रकार का है। कर्म-परमाणुओं और आत्म-प्रदेशों का परिणामन जड़ और जैतन का मिथित परिणामन होता है जिनमें अनिवार्य रूप में एक दूसरे से प्रभावित होते हैं किन्तु घड़े और कुंभार के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। आत्मा कर्मों का केवल निमित्त ही नहीं किन्तु कर्ता और भोक्ता भी है। आत्मा के वैभाविक भावों के कारण पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए वह उनके आकर्षण का निमित्त है। वे परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक होकर कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं, इसलिए आत्मा कर्मों का कर्ता है। वैभाविक भावों के रूप में आत्मा को उसका फल भोगना पड़ता है, इसलिए वह कर्मों का भोक्ता भी है।

कर्म की मर्यादा

जैन-कर्म-सिद्धान्त का यह स्पष्ट अभिन्नत है कि कर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा से है। व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा की सुनिश्चित सीमा है और वह उसी सीमा में सीमित है। इसी प्रकार कर्म भी उसी सीमा में बनना कार्य करता है। यदि कर्म की सीमा न मानें तो आत्मा के समान वह भी सर्वव्यापक हो जाएगा। सत्य तथा यह है कि आत्मा वा स्वदेहपरिमाणत्व भी कर्म के ही कारण है। कर्म के कारण आत्मा देह में आबद्ध है तो फिर कर्म उस छोड़ कर अन्यत्र कहाँ जा सकता है? संसारी आत्मा हमें किसी न किसी शरीर से बढ़ रहता है और सम्बद्ध कर्मपिण्ड भी उसी शरीर की सीमाओं में सीमित रहता है।

प्रश्न है—शरीर की सीमाओं में सीमित कर्म अपनी सीमाओं का परिवार कर फैल दे सकता है? या व्यक्ति के नन-मन से भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति, प्राप्ति, व्यव आदि के लिए उत्तरदाती ही सकता है? जिम किथा पा घटना-विशेष में किसी व्यक्ति का प्रश्न या प्रश्नक या परोक्ष किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है उसके लिए भी क्या उस व्यक्ति के कर्म को कारण मान सकते हैं?

उत्तर है—जैन-कर्म-साहित्य में कर्म के मुख्य आठ प्रकार बताए हैं। उसमें एक भी प्रकार ऐसा नहीं है, जिसका सम्बन्ध आत्मा और शरीर से पृथक् किसी अन्य पदार्थ से हो। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, भौहन्त्रीय और अन्तराय कर्म आत्मा के मूलगुण, ज्ञान, दर्शन, सुख और शीर्य का घात करते हैं और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म शरीर की विभिन्न अवस्थाओं का निभाण करते हैं। इस तरह आठों कर्मों का साकाश् सम्बन्ध आत्मा और शरीर के साथ है, अन्य पदार्थों और घटनाओं के साथ नहीं है। परमरा से आत्मा, शरीर-आदि के अतिरिक्त पदार्थों और घटनाओं से भी कर्मों का सम्बन्ध ही सकता है, यदि इस प्रकार सिद्ध हो सके तो।

^११. पंचम कर्मसम्बन्ध की प्रस्तावना, पृ. १३

कर्मों का गीधा सम्बन्ध आत्मा और शरीर से है तब प्रण उद्भुद्ध होता है कि धन-सम्पत्ति आदि की प्राप्ति को पुण्यजन्य किस कारण से माना जाता है ?

उत्तर में निवेदन है कि धन-परिज्ञन आदि से सुख आदि की अनुभूति हो तो शुभ कर्मोदय की निमित्तता के कारण वाह्य पदार्थों को भी उपचार से पुण्यजन्य मान सकते हैं। वस्तुतः पुण का कार्य सुख आदि की अनुभूति है, धन आदि की उपलब्धि नहीं। धन आदि के आभाव में भी सुख आदि का अनुभव होता है तो उसे पुण या शुभ कर्मों का फल मानकरा चाहिए। यह मत्य है कि वाह्य पदार्थों के निमित्त बिना भी सुख आदि की अनुभूति हो सकती है। इसी तरह दुःख आदि भी हो सकता है। सुख-दुःख आदि जितनी भी धारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनुभूति होनी है उसका मूल कारण वाह्य नहीं आन्तरिक है। कर्म का सम्बन्ध आन्तरिक कारण से है, वाह्य पदार्थों से नहीं। वाह्य पदार्थों की उत्पत्ति, विनाश और प्राप्ति अपने-अपने कारणों में होती है। हमारे काम हमारे तक ही सीमित रहते हैं, सर्वव्याप्ति नहीं है। वे हमारे सारीर और आत्मा से नित्र अति दूर पदार्थों को किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, आकर्षित कर सकते हैं, हम तक पहुंचा सकते हैं, न्यून और अधिक कर सकते हैं, बिनष्ट कर सकते हैं, सुरक्षित कर सकते हैं ? ये सभी कायं अन्य कारणों से होते हैं। सुख-दुःख आदि की अनुभूति में निमित्त, सहायक या उत्तेजक होने के कारण उपचार व परम्परा में वाह्य वस्तुओं को पुण्य-पाप का परिणाम मान लेते हैं।

जीव की विविध अवस्थाएँ कर्मजन्य हैं। शरीर, दृश्यादि, इवाच्चात्त्वात् मन-बचन आदि जीव की विविध अवस्थाएँ कर्म के कारण हैं। किन्तु पत्नी या पति की प्राप्ति, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति, गंयोग-विषोग, हानि-नाश, भुकाल और दुष्काल, प्रकृति-प्रकोप, राज-प्रकोप आदि का कारण उनका अपना होता है। यह ठीक है कि कुछ कायों व घटनाओं में हमारा अनुकिलित निमित्त हो सकता है किन्तु उसका मूल ब्रोत उन्हीं के प्रत्यक्ष है, हमारे में नहीं। हृण श्रिय जन, न्वजन आदि के भिलों की पुण कर्म मानते हैं और उनके विषोग को पापफल कहते हैं परन्तु यह मात्वता जैनदर्शन की नहीं है। पिता के पुण के उदय से पुत्र पैदा नहीं होता, और पिता के पाप के उदय से पुत्र की मृत्यु नहीं होती। पुत्र के पैदा होने और मरने में उसका अपने कर्मों का उदय है किन्तु पिता का पुण्योदय और पापोदय याक्षात् कारण नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि पुत्र पैदा होने के पापात् वह जीवित रहता है तो मांहनीय काम के कारण पिता को प्रनन्दता हो सकती है और उसके मरने पर दुःख हो सकता है। इस प्रनन्दता और दुःख का कारण पिता का पुण्योदय और पापोदय है और उसका निमित्त पुत्र की उत्तरात् और मृत्यु पिता के पुण्योदय और पापोदय का निगित हो सकती है। इसी तरह प्रथम घटनाओं के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। व्यक्ति का कर्मोदय, कर्मेक्षय, कर्मोपराम आदि की अपनी एक सीमा है और वह सीमा है उसका शरीर, मन, बचन आदि। उस सीमा को छोड़ कर कर्मोदय नहीं होता। सारांश यह है कि श्रान्ति से पुणक् समूर्ण पदार्थों को उत्पत्ति और विनाश उनके आगे कारणों में होते हैं, हमारे कर्म के उदय के कारण में नहीं।

उदय

उदय का अर्थ काल-दर्यादा का परिवर्तन है। वंशे हृण कर्म-पुद्गल अपना कायं करने में समर्थ हो जाते हैं तब उनको निषेक^{३४}—कर्म-पुद्गलों की एक काल में उदय होने विषय रचना-विशेष—ग्रकट होने लगते हैं, वह उदय है। दो प्रकार से कर्म का उदय होता है

- (१) ग्रान्त-काल कर्म का उदय।
- (२) अप्राप्ति-काल कर्म का उदय।

^{३३}. कर्म-निषेको नाम-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचना-विशेषः —भगवती दा३।२३६ वृत्ति

कर्म का बंध होते ही उसमें उसी समय विषाक-प्रदान का आरम्भ नहीं हो जाता। वह निश्चित अवधि के पश्चात् विषाक देता है। वह बीच की अवधि 'अबाधाकाल' कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थास-मात्र होता है। अवाधा का अर्थ अन्तर है। बंध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है।^{१३}

सभे काल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तप आदि साधना के द्वारा विफल बना कर स्वल्प समय में भोग लिए जाते हैं। आत्मा भी इन नियमों हो जाती है।

यहि स्वाभाविक रूप से ही वह उदय में जाँ^{१४} ने आकृत्मिक घटनाओं की सम्भावना एवं तप आदि साधना की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है, परन्तु अपवर्तना से कर्म की उद्धीरणा या अप्राप्तवाल उदय होता है। अतः आकृत्मिक घटनाओं से कर्म-सिद्धांत के प्रति मन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता। तप आदि साधना की सफलता का भी यही मुख्य कारण है।

कर्म का परिपाक और उदय सहेतुक भी होता है और निहेतुक भी। अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी। किसी बाह्य कारण के अभाव में भी कोष—वेदनीय-पुद्गलों के तीव्र विषाक से अपने आप कोष आ गया—यह उनका निहेतुक उदय है।^{१५} इसी तरह हास्य^{१६} भय, वेद, और कगाय के पुद्गलों का भी उदय होता है।^{१७}

स्वतः उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गतिहेतुक उदय—नरकगति गं असाना का नीत्र उदय होता है। इसे गतिहेतुक विषाक कहते हैं।

स्थितिहेतुक उदय—भोहकर्म की उच्छ्राप्तनम स्थिति में मिथ्यात्व भोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थितिहेतुक विषाक-उदय है।

भवहेतुक उदय—द्वंद्वावरण (विसके उदय से नीद आती है) यह सभी संसारों जीवों में होता है लथापि मनुष्य और तिर्यक दोनों को ही नीद आनी है, देव, नारक को नहीं। यह भवहेतुक विषाक उदय है।

गति, स्थिति और भव के कारण से किन्तु ही कर्मों का स्वतः विषाक-उदय हो जाता है।

दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गलहेतुक उदय—किसी ने पहचर केंका, घाव हो गया, असाना का उदय हो गया। यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असाना-वेदमीय का पुद्गलहेतुक विषाक-उदय है।

किसी ने अपणाद कहा, कोष आ गया। यह कोष-वेदनीय-पुद्गलों का सहेतुक विषाक-उदय है।

पुद्गल-गरिणाम के द्वारा होने वाला उदय—घड़िया भोजन किया किन्तु न पचने से अतीण हो गया। उससे रोग उत्पन्न हुआ। यह असाना-वेदनीय का विषाक-उदय है।

मदिरा आदि नशीली वस्तु का उगांग किया, उमाद आ गया। यह ज्ञानावरण का विषाक-उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणमन-हेतुक-विषाक-उदय है।

^{१३.} बाधा--कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा-कर्मणो लंधस्योदयस्य चान्तरम्।

—भगवती ६।३।२३६

^{१४.} स्थानाङ्ग शा७६ वृत्ति: एव १८२

^{१५.} स्थानाङ्ग ४

^{१६.} स्थानाङ्ग शा७५-७९

इसी तरह विविध हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है।^{५५}

यदि ये हेतु प्राप्त नहीं होते तो कर्मों का विपाक रूप में उदय नहीं होता। उदय का दूसरा प्रकार है प्रदेशोदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता है। यह कर्मवेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दण्डा है। जो कर्म-बंध होता है वह अवश्य ही भोग जाता है।

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! किये हुए पाप-कर्म भोगे बिना नहीं छूटते-क्या ?

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—हाँ गौतम ! यह सत्य है।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—कैसे भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! मैंने दो प्रकार के कर्म बताये हैं—(१) प्रदेश-कर्म और (२) अनुभाग-कर्म। जो प्रदेश-कर्म हैं वे अवश्य ही भोगे जाते हैं तथा जो अनुभाग-कर्म है वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते।^{५६}

पुरुषार्थ से भाग्य में परिवर्तन हो सकता है

वर्तमान में हम जो पुरुषार्थ करते हैं उसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है। भूतकाल की दृष्टि ने उसका महसूब है और नहीं भी है। वर्तमान में किया गया पुरुषार्थ यदि भूतकाल में किये गये पुरुषार्थ से दुर्बल है तो वह भूतकाल के किये गये पुरुषार्थ पर नहीं स्था सकता। यदि वर्तमान में किया गया पुरुषार्थ भूतकाल के पुरुषार्थ से प्रबल है तो वह भूतकाल के पुरुषार्थ को प्रत्यया भी कर सकता है।

कर्म की केवल बंध और उदय से दो ही अवस्थाएँ होतीं तो बढ़ कर्म में परिवर्तन को अवकाश नहीं होता। किन्तु अन्य अन्तर्भार भी हैं—

(१) आपवतना—इससे कर्म-स्थिति का अल्पीकरण [स्थितिघात और रूप का मन्दीकरण (रसाचात)] होता है।

(२) उद्वर्तना से कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रूप का तीव्रीकरण होता है।

(३) उद्वीरणा से दीर्घकाल उदय में आने वाले कर्म शीघ्र—तत्काल उदय में आ जाते हैं।

(४) एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है, एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है, शुभ रूप में ही उदय में आता है, वह शुभ है और शुभ विपाक बाला है। जो कर्म शुभ रूप में बंधता है, अशुभ रूप में उदय में आता है वह अशुभ और अशुभ विपाक बाला है। जो कर्म अशुभ रूप में बंधता है, अशुभ रूप में ही उदय में आता है वह अशुभ और अशुभ विपाक बाला है। कर्म के उदय में जो यह अन्तर है उसका भूल कारण संक्षण (यद्यकर्म में आन्मा द्वारा अन्यथा-करण) कर देना है।

५५. प्रज्ञापना २३।१।२१८

५६. भगवन् १।४।४, वृत्ति

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

संक्रमण की स्थिति को छोड़ कर सामान्य रूप से जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका कल उसे प्राप्त होता है। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है।^{१०६}

कर्म की मुख्यतः दो अवस्थाएँ हैं—बन्ध (ग्रहण) और उदय (फल)। कर्म को बंधने में जीव स्वतन्त्र है किन्तु उसके फल को भोगने में वह स्वतन्त्र नहीं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है; वह चढ़ने में स्वतन्त्र है, अपनी इच्छानुसार चढ़ सकता है; किन्तु असावधानीयता गिर जाय तो वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है।^{१०७} वह इच्छा से गिरना तहीं चाहता है तथापि गिर जाता है, वह गिरने में स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति भी पीने में स्वतन्त्र है किन्तु उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र है। इसकी इच्छा न होने हुए भी भाँग अपना चमचार दिखाएगी ही। उसकी इच्छा का फिर कोई मूल्य नहीं।

उक्त कथन का यह अर्थ नहीं कि वह कर्मों के विपाक में आत्मा कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। जैसे भाँग के नशे की विरोधी वस्तु का मैवन किया जाय तो भाँग का नशा नहीं चढ़ता, या नाममात्र का ही चढ़ता है, उसी प्रकार प्रणस्त अध्यवसायों के हारा पूर्वबढ़ कर्मों के विपाक को मन्द भी किया जा सकता है और उष्ट भी किया जा सकता है। उस अवस्था में कर्म प्रदेशों से उद्दित होकर ही निर्जीव हो जाते हैं। उसकी कालिक मर्यादा (स्थितिकाल) को कम करके भी उदय में भी लाया जा सकता है।

कर्म के दो प्रकार हैं—

- (१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता।
- (२) अनिकाचित—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

दूसरे शब्दों में (१) निषग्धम—इसका कोई प्रतिकार नहीं होता, इसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। (२) सोपकम—यह उपचार-साध्य होता है।

जीव निकाचित कर्मोदय की ओरेधा से कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की दुलि से होने वाले हैं—जब उक जीव उस कर्म को नष्ट करने का प्रयास नहीं करता तब तक वह उस कर्म के अधीन ही होता है और जब जीव प्रदूषन पुण्यार्थ के साथ मनोवन और परीक्षण आदि सामग्री के सहयोग से सत् प्रयास करता है तब कर्म उसके अधीन होता है। जैसे—उदयकाल से पहले कर्म को उदय में लाकर नष्ट कर देना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना। पूर्वबढ़ कर्मों की स्थिति प्रौढ़ फल-शक्ति नष्ट कर उन्हें बहुत ही शीघ्र नष्ट करने के लिए तपत्प्रया की जाती है।

पातञ्जल योगभाष्य में भी अदृष्टजन्य केदनीय कर्मों की तीन गतियाँ निरूपित की गई हैं। उनमें एक गति

१९. सुचिष्णा कर्मा सुचिष्णफला भवन्ति ।

दुचिष्णणा कर्मा दुचिष्णफला भवन्ति ॥ ---दणाथुतस्कन्ध ६

२००. कर्मं चिणति सवसा, तस्मुदमिमित्, परवसा होन्ति ।

रुक्खं दुरुहड़ सवसो, विग्लसपरवसो पड़ तन्तो ॥ —विशेषावस्था भाष्य १।३

यह है—कई कर्म विना फल दिये ही प्रायशिकत आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।^{१०१} इसे जैन-पारिभाषिक शब्दों में प्रदेशोन्नास्त्रहृष्टा है।

उदीरणा

गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया—‘भगवन् ! जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है अथवा अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है ?’ उत्तर मिला—जीव अनुदीर्ण पर उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलों की उदीरणा करता है।

(१) उदीर्ण कर्म-पुद्गलों की पुनः उदीरणा की जाय नो उस उदीरणा की तर्ही पर सी परिसमाप्ति नहीं हो सकती। अतः उदीर्ण की उदीरणा नहीं होती।

(२) जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा वर्तमान में नहीं पर सूक्ष्म भविष्य में होने वाली है या जिसकी उदीरणा^{१०२} नहीं होने वाली है, उन अनुदीर्ण—कर्म-पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती है।

(३) जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके हैं (उद्यानलार पश्चात्-कृत) वे गतिहीन हो गये हैं, उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

(४) जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य) है उन्हीं की उदीरणा होती है।

उदीरणा का कारण

कर्म जब स्वाभाविक रूप में उदय में आते हैं तब नवीन पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अबाधा स्थिति पूर्ण होते ही कर्म-पुद्गल स्वतः उदय में आ जाते हैं। स्थिति-काय से पूर्व उदीरणा द्वारा उदय में लाये जा सकते हैं। एतदर्थे इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।^{१०३}

इसमें भारय और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ से कर्म में भी परिवर्तन हो सकता है, यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा ‘कारण’ से होती है। करण का अर्थ ‘योग’ है। योग के तीन प्रकार हैं—सत्, वचन और काय।

उद्धान, बन, वीर्य आदि इन्हीं के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का है। मिथ्यात्व, अवत, प्रमाद, कथाय रहित योग शुभ है और इनसे सहित योग अशुभ है। सत् प्रवृत्ति शुभ योग है और असत् प्रवृत्ति अशुभ योग है। नात् प्रवृत्ति और असत् प्रवृत्ति दोनों से उदीरणा होती है।^{१०४}

१०१. कृतस्याऽदिप्तवस्य नाशः अदत्तफलस्य कस्मचित् पापकर्मणः

प्रायशिकत्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः। —गातंजलयोग २। १३ आद्य

१०२. भगवती १। ३। ३५

१०३. भगवती १। ३। ३५

१०४. भगवती १। ३। ३५

वेदना

गौतम ने भगवान् से पूछा—‘भगवान् ! अन्यथाधिकों का यह अभिमत है कि भवी जीव एवंभूत वेदना (जिस प्रकार कर्म वाधा है, उसी प्रकार) भोगते हैं—बया यह कथन उचित है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! अन्यथाधिकों का प्रस्तुत एकान्त कथन मिथ्या है। मेरा यह अभिमत है कि कितने ही जीव एवंभूत-वेदना भोगते हैं और कितने ही जीव अन-एवंभूत-वेदना भी भोगते हैं।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! यह कैसे ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं वे एवंभूत-वेदना भोगते हैं और जो जीव किये हुए कर्मों से ग्राह्यना वेदना भोगते हैं वे अन-एवंभूत-वेदना भोगते हैं।

निर्जरा

आत्मा और कर्मण वर्गण के परमाणु, ये दोनों पृथक् हैं। जब तक पृथक् रहते हैं तब तक आत्मा, आत्मा है और परमाणु-परमाणु है। जब दोनों का नियोग होता है तब परमाणु ‘कर्म’ कहलाते हैं।

कर्म-प्राप्योभ्य-परमाणु जब आत्मा में चिपकते हैं, तब वे कर्म कहलाते हैं। उग पर अपना प्रभाव ढालने के परमाणु वे बकर्म हो जाते हैं। शकर्म होते ही वे आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस अलगाव का नाम निर्जरा है।

कितने ही फल टहनी पर एकार टूटते हैं तो कितने ही फल प्रयत्न से प्राप्त होते हैं। दोनों ही फल पकने हैं किन्तु दोनों के पकने की प्रक्रिया पृथक् पृथक् है। जो सहज रूप से पकता है उसके पकने का समय लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकाया जाता है उसके पकने का समय कम होता है। कर्म का परिपाक ठीक इसी-प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म-परिपाक होता है वह निर्जरा विषयी-निर्जरा कहलाती है। इसके लिए किसी भी प्रकार का नवीन प्रयत्न नहीं करना पड़ता इसलिए यह निर्जरा न धर्म है और न अधर्म है।

निश्चित काल-मर्यादा से युवे युग्म-योग के द्वारा कर्म का परिपाक होकर निर्जरा होती है, वह अविषयी निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा नहेतुक है। इसका हेतु युग्म-प्रयास है, अतः धर्म है।

आत्मा पहले या कर्म ?

आत्मा पहले है या कर्म पहले है ? दोनों में पहले कौन है और पीछे कौन है ? यह एक प्रश्न है।

उत्तर है—आत्मा और कर्म दोनों अनादि हैं। कर्मस्तति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिपान-प्रतिक्रिया जीव सूतन कर्म वर्धता रहता है। ऐसा कोई भी झण नहीं, जिस समय सांसारिक जीव कर्म नहीं वासता है। इस दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि भी कहर जा सकता है पर कर्म-स्तति की ग्राहेका आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है। १०५

अनादि का अन्त कैसे ?

प्रश्न है—जब आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है तब उसका अन्त कैसे हो सकता है ? यद्योऽपि जो अनादि होता है उसका नाश नहीं होता।

उन्नर है—अनादि का अन्त नहीं होता। यह सामुदायिक नियम है, जो जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह नियम लागू नहीं भी होता। स्वयं और मिट्ठी का सम्बन्ध अनादि है तथापि ये पृथक्-पृथक् होने हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है।^{१०६} यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नहीं है। किसी एक कर्मविशेष का अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। नवीन कर्म का बन्धन होता रहता है। इस प्रकार प्रवाह रूप से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध अनादि काल से है।^{१०७} न कि व्यक्तिशः। अतः अनादिकालीन कर्मों का अन्त होता है। संवर के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह सकता है और तप द्वारा चंचित कर्म नष्ट होते हैं। तब आत्मा मुक्त बन जाता है।^{१०८}

आत्मा बलवान् या कर्म

आत्मा और कर्म इन दोनों में अधिक शक्ति-मम्पन्न कौन है? क्या आत्मा बलवान् है या कर्म बलवान् है?

समाधान है—आत्मा भी बलवान् है और कर्म भी बलवान् है। आत्मा में अनन्त शक्ति है तो कर्म में भी अनन्त शक्ति है। कभी जीव काल आदि लक्षियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है, और कभी कर्मों की बहुलता होने पर भी जीव उनसे दब जाता है।^{१०९}

बहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते हैं पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है क्योंकि कर्म का कर्ता आत्मा है। वह मकड़ी की तरह स्वयं कर्मों का जाल फैला कर उनसे उत्तमता है। यदि वह चाहे तो कर्मों को काट भी सकता है। कर्म चाहे किलने भी शक्तिशाली हों पर आत्मा उनसे भी अधिक शक्तिशाली है।

लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर है और पानी मुलायम है किन्तु मुलायम पानी एवं वर के भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। कठोर चट्टानों में भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। यीर हनुमान को जब तक स्व-स्वरूप का परिज्ञान नहीं हुआ तक तक वह नाग-पाश में बंधा रहा, रावण की ठोकरें खाता रहा, अपमान के जहरीले घूंट पीना रहा, किन्तु ज्यों ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, ज्यों ही नाग-पाश को लोडकर मुक्त हो गया। आत्मा को भी जब तक अपनी विराट् शक्ति का ज्ञान नहीं होता तब तक वह भी कर्मों को अपने में अधिक शक्तिमान् समझकर उनसे दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनसे मुक्त हो जाता है।

ईश्वर और कर्मवाद

जैनधर्मन का यह स्पष्ट मत्तव्य है कि जीव स्वयं जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।^{११०} न्यायदर्णन^{१११} की तरह वह कर्मफल का नियन्ता ईश्वर को नहीं मानता। कर्मफल का नियन्ता कर्म के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुदायम्

१०६. द्वयोरत्यनादिसम्बन्धः कनकोपल-सत्रिभः।

१०७. (क) पंचाध्यायी ३।४५, र. राजमल, (ख) लोकप्रकाश ४३४, (ग) स्वानाङ्क १।४।३ टीका

१०८. उत्तराध्ययन २।४।४५

१०९. गणधरवाद २-२५

११०. उत्तराध्ययन सूत्र २।०।३७

१११. (क) न्यायदर्णन सूत्र ४।१ (ख) गौतमसूत्र अ. ४। आ. १, स. २१

होता है।^{११२} जिससे वह द्रव्य, कीर्ति, काल, प्राकृति, भव, गति, स्थिति, प्रभृति उच्चय के अनुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा के संस्कारों को मनिन करता है। उससे उच्चका फलोपचार्य होता है। असूत्र और विषय, परम्परा और अपर्याप्य भोजन में कुछ भी ज्ञान नहीं होता तथापि आत्मा का संयोग पाकर वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल विपाक उत्पन्न करते हैं। वह बिना किसी प्रेरणा अथवा विज्ञान के अपना कार्य करते ही हैं। अपना प्रभाव ढालते ही हैं।^{११३}

कालोदायी भगवान् ने भगवान् भी भंडावीर हे प्रवर्ण किया—भगवन् : क्या जीवों के किये ये याद कर्मों का परिपाक पापकारी होता है।

भगवान् ने उत्तर दिया—कालोदायी ! हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन् ! किस प्रकार होता है ?

भगवान् ने रूपक की भाषा में समाधान करते हुए कहा—कालोदायी ! जिस प्रकार कोई पुष्ट मनोज, सम्यक् प्रकार से पका हुआ शुद्ध भग्नादश व्यंजनों से परिसूर्ण विषयुक्त भोजन करता है। वह भोजन आपातभद्र—ज्ञात समय अच्छा होता है—किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है त्यों-त्यों विकृति उत्पन्न होती है। वह परिणामभद्र नहीं होता। इसी प्रकार प्राणातिपात्र आदि अठारह प्रकार के पापकर्म आपातभद्र और परिणाम-भद्र होते हैं। कालोदायी, इसी प्रकार पापकर्म पाप-विपाक वाले होते हैं।

कालोदायी ने निवेदन किया—भगवन् ! क्या जीवों के किये हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकर्मी होता है ?

भगवान् ने कहा—हाँ होता है।

कालोदायी ने पुनः प्रवन्न किया—भगवन् ! कैसे होता है ?

भगवान् ने कहा—कालोदायी ! प्रणातिपात्रिरति यात् मिथ्यादर्शनशल्य से विरति आपातभद्र प्रतीत नहीं होती, पर परिणामभद्र होती है। इसी प्रकार हे कालोदायी ! कल्याणकर्म भी कल्याणविपाक वाले होते हैं।

जैसे गृणित करते वाली मशीन जड़ होने पर भी अंक गिनने में भूल नहीं करती वैसे ही कर्म भी जड़ होने पर भी फल देने में भूल नहीं करता। उसके लिए ईश्वर को नियंता मानने की आवश्यकता नहीं है। आखिर ईश्वर वही फल प्रदान करेगा जैसे जीव के कर्म होगे, कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने में समर्थ नहीं होगा। इस प्रकार एक और ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना वस्तुतः ईश्वर का उपहास है। इससे यह भी सिद्ध है कि कर्म की शक्ति ईश्वर से भी अधिक है और ईश्वर भी उसके अधीन ही कार्य करता है। दूसरी दृष्टि से कर्म में भी कुछ करने-धरने की शक्ति नहीं माननी होगी, क्योंकि वह ईश्वर के सहारे ही अपना फल दे सकता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के अधीन हो जाएंगे। इससे तो यही तकनीकीत है कि कर्म को ही अपना फल देने वाला स्वीकार किया जाय। इससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी अवृण्ण रहेगा और कर्मवाद के सिद्धांत में भी किसी प्रकार की वाधा समुपस्थित नहीं होगी। जैन संस्कृति की चिन्तनधारा प्रस्तुत कथन का ही समर्थन करती है।

११२. भगवती ७।१०

११३. भगवती ७।१०

कर्म का संविभाग नहीं

वैदिकदर्शन का यह मन्तव्य है कि आत्मा सर्वभूतिमान ईश्वर के हाथ की कठपुतली है। उसमें स्वयं हुम्ह भी कायं करने की क्षमता नहीं है। स्वर्ग और नरक में जेजने वाला, सुख और दुःख को देने वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव स्वयं और नरक में जाता है।^{११४}

जैन-दर्शन के कर्म सिद्धांत ने प्रस्तुत कथन का खण्डन करते हुए कहा है—ईश्वर किसी का उत्थान और पतन करने वाला नहीं है। वह तो बीतराग है। आत्मा ही अपना उत्थान और पतन करता है। जब आत्मा स्वभाव-दशा में रमण करता है तब उत्थान करता है और जब विभावदशा में रमण करता है तब उसका पतन होता है। विभावदशा में रमण करने वाला आत्मा ही दैतरणी नदी और कूटशालमली वृक्ष है और स्वभाव-दशा में रमण करने वाला आत्मा कामधेनु और नन्दतव्य है।^{११५} यह आत्मा सुख और दुःख का कर्ता भोक्ता स्वयं ही है। एक भार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और अणुभ मार्ग पर जलने वाला आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु है।^{११६}

जैनदर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है कि जो भी सुख और दुःख प्राप्त हो रहा है। उसका निर्माता आत्मा स्वयं ही है। जैसा आत्मा कर्म करेगा वैसा ही उसे कल भोगना गड़ेगा।^{११७} वैदिक-दर्शन और बौद्धदर्शन की तरह कह कर्मफल के संविभाग में विश्वास नहीं करता। विश्वास ही नहीं अपितु उस विचारधारा का खण्डन भी करता है।^{११८} एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति में विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि विभास को हीकार किया जायेगा तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? पाप-पुण्य करेगा कोई और भोगेगा कोई और। अतः यह सिद्धांत युक्त-युक्त नहीं है।^{११९}

कर्म का कार्य

कर्म का मुख्य कार्य है—आत्मा को रासार में आबद्ध रखना। जब तक कर्म-बंध की परम्परा का प्रवाह प्रवहमान रहता है तब तक आत्मा मुक्त नहीं बन सकता। यह कर्म का सामान्य कार्य है। विशेष रूप से देखा जाय तो भिन्न-भिन्न कर्मों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। जिनके कर्म हैं उनके ही कार्य हैं।

आठ कर्म

जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल कल प्रदान करती हैं। उनके नाम हैं—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गौत्र श्रीर (८) अन्तराय।^{१२०}

११४. महाभारत बनपवं अ. ३, श्लोक २८

११५. उत्तराध्ययन २०।३८

११६. उत्तराध्ययन २०।३७

११७. उत्तराध्ययन ४।४

११८. आत्ममीमांसा, पं. इलसुख मालचण्डिया पृ. १३१

११९. द्वाषिषिका, आचार्य अमितगति ३०-३१

१२०. (क) उत्तराध्ययन ३३।२-३ (ख) स्थानाङ्क नामां४७६ (ग) प्रजापता २३।१ (घ) भगवती ४।१, पृ. ४५३

इन आठ कर्म-प्रकृतियों के भी दो अवान्तर भेद हैं। इनमें चार घाती हैं और चार अघाती हैं (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनाकरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय ये चार घाती हैं ।^{१२१} (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम, (४) गोप्र —ये अघाती हैं ।^{१२२}

जो कर्म आत्मा से ब्रह्मकर उसके स्वरूप का या उसके स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं वे घाती कर्म हैं। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर आत्मा के ज्ञान आदि गुणों पर होता है। इनसे गुणविकास अवश्य होता है। जैसे बादल सूर्य के चमचमाले प्रकाण को आच्छादित कर देता है। उसकी रथिमयों को बाहर नहीं आने देता वैसे ही घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण (१) अनन्तज्ञान, (२) अनन्तदण्डन, (३) अनन्तसुख और (४) अनन्तवीर्य गुणों को प्रकट नहीं होने देता। ज्ञानदर्शनाधरणीय कर्म आत्मा में अनन्त ज्ञान-दर्शन शक्ति के प्रादुर्भाव की रोकते हैं। मोहनीयकर्म आत्मा के सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चरित्र गुण का अवरोध करता है जिससे आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त नहीं होता। अन्तरायकर्म आत्मा की अनन्तश्वीर्यशक्ति आदि का प्रतिघात करता है जिससे आत्मा गलती ज्ञानन्त विराम्यता का विषय हो जाता है। इस प्रकार घाती-कर्म आत्मा के विभिन्न गुणों का घात करते हैं।

जो कर्म आत्मा के निजगुण का घात नहीं कर देता आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करता है वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्यग्निक द्रव्यों से होता है। इनकी अनुभाग शक्ति जीव के गुणों पर सीधा असर नहीं करती। अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्यग्निक द्रव्यों से सम्बन्ध जुँड़ता है, जिससे आत्मा 'अभूतोऽग्नि सूर्तं इव' रहती है। उसे शरीर के कागगृह में ब्रह्म रहना पड़ता है। जो जीव के गुण (१) अव्यावाध सुख, (२) अटल अवगाह व (३) असूतिकर्म और (४) अग्नुरूपधुमाव को प्रकट नहीं होने देता। वेदनीय कर्म आत्मा के अव्यावाध सुख को आच्छादित करता है। आयुष्यकर्म आत्मा की अटल अवगाहना, प्राशवत स्थिरता को नहीं होने देता। नामकर्म आत्मा की अरुणी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोप्र कर्म आत्मा के अग्नुरूपधुमाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अगना प्रभाव दिखाते हैं। जब घातीकर्म नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा केवलज्ञान केवलदर्शन का घारक अद्वितीय ज्ञन जाता है और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं तब विदेह सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

आठों कर्मों की अवान्तर अनेक उल्लंघन प्रकृतियाँ हैं। विस्तार भव्य से हम उन मध्यी का यहाँ पर निरूपण नहीं कर रहे हैं।

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता वा सून आधार तन्त्रमिति के कथायों की तीव्रता और मन्दता है। कथायों की तीव्रता जिस प्राणी में जितनी अधिक होगी उतना ही अशुभ कर्म प्रबल होगा और कथायों की मन्दता जिस प्राणी में जितनी अधिक होगी उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे।

कर्मों के प्रदेश: विभाजन

प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं द्वारा जिन कर्मप्रदेशों का संभ्रह करता है वे प्रदेश नाना वर्षों में विभक्त होकर आत्मा के साथ ब्रह्म हो जाते हैं। आठ कर्मों में आयुकर्म को सबसे कम हिस्सा प्राप्त होता है।

१२१. (क) पंचाङ्गशास्त्री २१९९८

(ख) गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

१२२. पंचाङ्गशास्त्री २१९९९

नाम और मोत्र शीतों का हिस्ता यरावर होता है। उसमें कुछ अधिक भाग आनाचरणीय, दर्शनाचरणीय और अन्तराय कर्मों को प्राप्त होता है। इन तीनों का हिस्ता समान रहता है, उसमें अधिक भाग सोहनीयकर्म को मिलता है। सबसे अधिक भाग बेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तर-प्रकृतियों में विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बंधे हुए कर्म के प्रदेशों की न्यूनता व अधिकता का यही मूल आधार है।

कर्मवधु

लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ कर्मवर्गण के पुद्गल न हों। प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करता है और कायाय के उत्तराप से उत्तराप होता है यद्यपि वह कर्मयोग्य-पुद्गलों की सर्व दिशाओं से ग्रहण करता है। आगमों में स्पृष्ट निषेध है कि असूचित जीव उत्तराप न होने पर छहों दिशाओं से कर्म ग्रहण करते हैं, आधात होने पर कभी तीन, चार और कभी पाँच दिशाओं से ग्रहण करते हैं किन्तु ऐष जीव नियम से सर्व-दिशाओं से ग्रहण करते हैं।^{१२३} किन्तु जीव के सम्बन्ध में वह मर्यादा है कि जिस झेत्र में वह स्थित है उसी झेत्र में स्थित कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, अत्यन्त स्थित पुद्गलों को नहीं।^{१२४} यह भी विस्मरण नहीं होना चाहिए कि जितनी योगों की चंतवता में तरतमना होगी उस के अनुसार न्यूनाधिक रूप में जीव कर्मपुद्गलों को ग्रहण करेगा। योगों की प्रवृत्ति मन्द होगी तो परमाणुओं की संख्या भी कम होगी। आगमिक भाग में इस ही प्रदेश-बन्ध कहते हैं। दूसरे ग्रन्थों में कहा जाय तो आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं। उन प्रदेशों में एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों का बन्ध होना प्रदेश-बन्ध है। अर्थात् जीव के प्रदेशों और कर्म-पुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर बद्ध हो जाना प्रदेश-बन्ध है।^{१२५}

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल अन्योन्य एक दूसरे से बद्ध, एक दूसरे से स्पृष्ट, एक-दूसरे में अवगाढ़, एक दूसरे में स्नेह-प्रतिबद्ध हैं और एक दूसरे में एकमेक होकर रहते हैं ?

उत्तर में महावीर ने कहा—हे गौतम ! हौ रहते हैं।

हे भगवन् ! ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?

हे गौतम ! जैसे एक लहड़ हो, जल से पूर्ण, जल ने विनारे तक भरा हुआ, जल से नवालन, जल से उपर उठा हुआ और अरे हुए घड़े की तरह स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस लहड़ में एक बड़ी, सौ छेदों वाली नाव छोड़ता है तो हे गौतम ! वह नाव उन आमद-द्वारों—छिद्रों द्वारा भरती-भरती जल से पूर्ण, उपर तक भरी हुई, बढ़ते जल से उंकी हुई होकर, अरे घड़े की तरह होगी या नहीं ?

हौ भगवन् ! होगी।

हे गौतम ! इसी हेतु मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़ और प्रतिबद्ध हैं और परस्पर एकमेक होकर रहते हैं।^{१२६}

यही आत्म-प्रदेशों और कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध प्रदेशबन्ध है।

१२३. (क) उत्तराध्ययन ३२।१८, (ख) भगवती १।३।४

१२४. विशेषाचारण्यका भाष्य गा. १९।४।, पृ. ११६

१२५. (क) भगवती १।४।४० लृति, (ख) नवतत्त्व प्रकारण गा. ३। की वृत्ति

(ग) मन्त्रलक्ष्मप्रकरण अ. ८, देवानन्दसूरिकृत

१२६. भगवती १।६

प्रकृतिबन्ध

योगों की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये गये कर्म-परमाणु ज्ञान को आवृत्त करना, दर्शन को आच्छाप्त करना, सूख, दुख का अनुभव करना आदि विभिन्न प्रकृतियों (स्वभावों) के रूप में परिष्ठ प्रतिकृति होते हैं। आत्मा के साथ वह होने से पूर्व कार्मणवर्गण के पुद्गल एक रूप थे, बहु होने के साथ ही उनमें नाना प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसे आगम की भाषा में प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ये दोनों योगों की प्रवृत्ति से होते हैं।^{१२३} वेवल योगों की प्रवृत्ति में जो बध होता है वह सूखी दीवार पर हड़ा के भौंके के साथ आने वाली रेती के समान है। ग्यारहवें, चारहवें और तेरहवें गुणस्थान में कथायाभाष के कारण कर्म का बंधन इसी प्रकार का होता है। कथायरहित प्रवृत्ति गो होने वाला कर्मबन्ध निवेद, अस्थायी और नाममात्र का होता है, इससे शसार नहीं बढ़ता।

योगों के साथ कथाय की जो प्रवृत्ति होती है उसमें अमुक समय तक आत्मा से पृथक् त होने की कानिक मर्यादा पुद्गलों में निर्मित होती है। यह कालमर्यादा ही आगम की भाषा में स्थितिबन्ध है। इसमें शब्दों में कहा जाय तो आत्मा के द्वारा ग्रहण की गई ज्ञानावरण आदि कर्म-पुद्गलों को राणि किनने काम तक आत्म-प्रदेशों में रहेगी, उसकी मर्यादा स्थितिबन्ध है।^{१२४}

अनुभागबन्ध

जीव के द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मों की प्रकृतियों का नीत्र, मन्द आदि विवाक अनुभागबन्ध है। उदय में आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मन्द कीभा होगा, यह प्रकृति आदि की तरह नामेवंड के समय ही नियन हो जाता है। इसे अनुभागबन्ध कहते हैं।^{१२५}

उदय में आने पर कर्म अपनी मूलप्रकृति के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं। ज्ञानावशीयकर्म अपने अनुभाग-हठ देने की एक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है। दर्शनावशीय कर्म दर्शन को आवृत्त करता है। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपनी प्रकृति के अनुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करते हैं। उनकी मूलप्रकृति में डलट-फेर नहीं होता।

पर उत्तर-प्रकृतियों के सम्बन्ध में यह नियम पूर्णतः नाम नहीं होता। एक कर्म को उत्तर-प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर-प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो सकती है। जैसे भतिज्ञानावरणकर्म, भृतज्ञानावरणकर्म के स्थान में परिवर्तित हो जाता है। फिर उभया फल भी शृतज्ञानावरण के स्थान में हो होता है। किन्तु उत्तर-प्रकृतियों में भी कितनी ही प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो जंजारीय होने पर भी पररपर संत्रपण नहीं करती, जैसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। आयुकर्म की उत्तर-प्रकृतियों में भी नंकमण नहीं होता। जैसे — नारक आयुष्य तिवंच आयुष्य के रूप में या अन्य आयुष्य के रूप में नहीं बदल सकता। इसी शक्ति पर आयुष्य भी।^{१२६}

प्रकृति-संकरण की तरह बंधकालीन रस में भी परिवर्तन ही मरता है। मन्दरस वाला कर्म वश में तीव्ररस वाले कर्म के रूप में बदल सकता है और तीव्ररस, मन्दरस के रूप में हो सकता है। अतः जीव एवं भूत तथा

१२३. (क) पंचम कर्मग्रन्थ गाया १३, (ख) स्थानाङ्क रात्रि०६ की टीका

१२४. स्थिति: कालावधारणम्

१२५. (क) मरावती १।१०८० वृत्ति, (ख) तत्त्वार्थसूत्र ८।१२

१२६. (क) तत्त्वार्थसूत्र ८।१२२, भाष्य, (ख) विशेषावशक भाष्य गा. १५३८

अन-ग्रन्थात् वेदना देती है। १३१

इस विषय में स्थानाङ्क की चतुर्भिंशी का उल्लेख पहले किया जा चुका है। १३२

जिन्होंने इसकी विभिन्न प्रवस्थाएँ हैं। पूर्ण कारण क्या है? जैन कर्मसाहित्य समाधान करता है कि कर्म की विभिन्न प्रवस्थाएँ हैं। पूर्ण से उन्हें आग्रह अंदरों में विभक्त कर सकते हैं। १३३ (१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वत्तन-उत्कर्ष, (४) अपवर्तन-अपकर्ष, (५) मंकरण, (६) उद्यय, (७) उदीरण, (८) उपशमण, (९) निधत्ति, (१०) निकालित और (११) अआग्रहात्मा।

(१) बन्ध आत्मा के माध्य कर्म-परमाणुओं का बन्ध होना, कीर्ति-नीचता एकमेका हो जाना बन्ध है। १३४ बन्ध के चार प्रकारों का वर्णन हम कर चुके हैं।

(२) सत्ता—आबद्ध-कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाने तब तक वे आत्मा गे ही सम्बद्ध रहते हैं। इस जैन दार्शनिकों ने सत्ता कहा है।

(३) उद्वत्तन-उत्कर्ष—आत्मा के माध्य आबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभागवंश तत्कालीन परिणामों में प्रवहमान कथाय वी नीत्र एवं मन्द धारा के अनुरूप होता है। इसके परमाणु की स्थिति-विशेष अथवा भाव-विशेष के कारण उस स्थिति एवं रूप में वृद्धि होना उद्वत्तन-उत्कर्ष है।

(४) अपवर्तन-अपकर्ष पूर्वशास्त्र कर्म की स्थिति एवं अनुभाग को कालान्तर में न्यून कर देना अपवर्तन-अपकर्ष है। इस प्रकार उद्वत्तन-उत्कर्ष गे विपरीत अपवर्तन-अपकर्ष है।

सारांश यह है कि संसार को घटाने-घटाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अव्यवसायों पर विशेष आवृत है।

(५) संक्रमण—एक प्रकार के काम परमाणुओं की स्थिति आदि के दूसरे प्रकार के कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि के रूप में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। इस प्रकार वे परिवर्तन के लिए कुछ निष्पत्ति मर्यादाएँ दें जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। संक्रमण के चार प्रकार हैं— (१) प्रकृति-संक्रमण, (२) स्थिति-संक्रमण, (३) अनुभाव-संक्रमण, (४) प्रदेश-संक्रमण। १३५

(६) उदय—कर्म का अलदान इदय है। यदि कर्म अपना फल देवत विजीर्ण हो तो वह कलोदय है और अल त्रिये रित ही उदय में आकर नहीं हो जाय तो ग्रदंगीदय है।

(७) उदीरणा—नियत समय में पूर्व कर्म का उदय में आमा उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रथले ने आम आदि फल पकाये जाने हैं वैसे ही माध्यना रो आबद्ध कर्म का नियन समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा रहका है। सामान्यतः यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के समानोय कर्म की उदीरणा होती है।

(८) उपशमन—कर्मों के विद्यमान रहत हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अड़ा लना देना उपशम है। मर्यादा कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं, किन्तु उद्वत्तन, अपवर्तन और संक्रमण

१३१. भगवती ५१५

१३२. (क) स्थानाङ्क ४१४। १३३. (ख) तुलना कीजिए—अंगुलगतिकाव १६३२-२३३

१३३. (क) द्रव्यसप्तह टीका गा. ३३

१३४. (क) नन्दार्थगुल १४ दर्वार्थसिद्धि (ख) उच्चराध्ययन २८। २४ नेमिचन्द्रीय टीका

१३५. स्थानाङ्क ४२१६

की संभावना हो, वह उपर्यामन है। जैसे अंगारे को राष्ट्र से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह शपथ कर्यम कर सके। किन्तु जैसे आकरण के हृदये ही अंगारे जलाने लगते हैं वैसे ही उपर्याम भाव के दूर हृदये ही उपर्यामन कर्म उदय में आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

(१) **निधत्ति**—जिसमें कर्मों का उदय और संकलन न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की संभावना हो, वह निधत्ति^{१३६} है। यह भी चार प्रकार का है।^{१३७} (१) प्रकृति-निधत्ति, (२) स्थिति-निधत्ति, (३) अनुभाव-निधत्ति, (४) प्रदेश-निधत्ति।

(२) **निकाचित**—जिसमें उद्वर्तन, अपवर्तन, संकलन एवं उद्दीरण इन चारों अवस्थाओं का सभाव हो, वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा ने जिस रूप में कर्म की वैधा है उसी रूप में भोगे बिना उसकी निर्जरा नहीं होती। वह भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप में चार प्रकार का है।^{१३८}

(३) **अवाधाकाल**—कर्म ब्रंधने के पश्चात् अमुक गमय तक फल न देने की अवस्था का नाम अवाध-अवस्था है। अवाधाकाल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सामरोपम की है उतने ही सो वर्ष का उसका अवाधाकाल होता है। जैसे आनादरणीय की स्थिति तीस कोटाकोटि सामरोपम की है तो अवाधाकाल तीस सी (तीन हजार) वर्ष का है।^{१३९} भगवती में मूल अट्ठ कर्मप्रहृतियों का अवाधाकाल बताया है और प्रशापना^{१४०} में उनकी उच्चर-प्रकृतियों का भी अवाधाकाल उल्लिखित है, विशेष जिज्ञासुओं को मूलप्रन्थ देखने आहिए।

जैन कर्मसंग्रहित्य में कर्मों की इन अवस्थाओं एवं प्रक्रिया का जैसा विश्लेषण है, जैसा अन्य दार्शनिकों के साहित्य में दृग्योचर नहीं होता। हाँ, योगदर्शन में नियत-विषयकी अनियतविषयकी, और आवायगमन के रूप में कर्म की विविध दणा का उल्लेख किया है। नियतविषयकी कर्म का अर्थ है—जो नियत नमय पर अपना फल देकर ही नष्ट होता है। अनियतविषयकी कर्म का अर्थ है जो कर्म विना फल दिये ही आहमा में पृष्ठक हो जाते हैं और आवायगमन का अर्थ है एक कर्म का दूसरे में मिल जाना। योगदर्शन ने इन त्रिविधि अवस्थाओं की तुलना क्रमशः निकाचित, प्रदेशोदय और संकलन के साथ की जाती है।

कर्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का अर्थ है—वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक जीवन। परलोक जीवन किस जीव का कैगा होता है इसका मूल्य आधार उसका पूर्वकृत कर्म है। जीव अपने ही प्रमाद में भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं।^{१४१} पुनर्जन्म कर्मसंकी जीवों के होता है।^{१४२} अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद सम्बन्ध है।

आत्मव्य-कर्म के पुद्गल-परमाण जीव में देव, नारक आदि अवस्थाओं में गति की जन्ति उत्पन्न करते

^{१३६.} कर्मप्रकृति गा. २

^{१३७.} स्थानाङ्ग ४१२१६

^{१३८.} स्थानाङ्ग २।२८६

^{१३९.} भगवनी २।३

^{१४०.} प्रशापना २।३।२।२१-२५

^{१४१.} आचारण १।२।६

^{१४२.} भगवनी २।५

है।^{१४३} इसी में जीव ताएँ जन्म-स्थान में (अमुका आयु में) उत्पन्न होता है।

भगवान् महावीर ने कहा—कोध, मान, भाषा और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण करने वाले हैं।^{१४४} गीता में कहा गया है—जैसे फटे हुए कण्डे को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहनता है वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के पश्चात् नये शरीर को धारण करता है।^{१४५} यह याचतेन प्रवृत्ति से होता है।^{१४६} तथागत बुद्ध ने अपने पैर से चूमने वाले तीक्ष्ण कटे को पूर्वजन्म में किये हुए प्राणी-बध का विपाक कहा है।^{१४७}

नवजात शिष्य के ल्प, भय, शोक आदि होते हैं। उसका मूल कारण पूर्वजन्म की सूति है।^{१४८} जन्म लेते ही बच्चा मां का स्तन-पान करने लगता है, यह पूर्वजन्म में किये हुए आहार के अस्थान से ही होता है।^{१४९} जैसे एक सुखक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है।^{१५०} नवोत्पन्न शिष्य में जो मुख-दृश्य का अनुभव होता है वह भी पूर्व अनुभवयुक्त होता है। जीवन के प्रति मोह और मृत्यु के प्रति भय है, वह भी पूर्वधृद संस्कारों का परिणाम है। यदि पहले के जन्म में उसका अनुभव नहीं होता तो सबोत्तम प्राणी में ऐसी तृतीया प्राप्त नहीं हो सकती थीं। इस प्रकार अनेक मुक्तियों देकर भारतीय चिन्तकों ने पुनर्जन्म सिद्ध किया है।

वर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके कल रूप परलोक या पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जिन कर्मों का फल बतंभान भव में प्राप्त नहीं होता उन कर्मों के प्रोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है। पुनर्जन्म और पूर्वभव न माना जायेगा तो कृतकर्मों का निहेतुक विनाश और अकृत कर्म का भोग मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी। इन दोषों के परिहार हेतु ही कर्मवादियों ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है।

भारत के सभी दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध में विचार अभिव्यक्त किये हैं। इनका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—

पूनान के महान् तन्त्रवेत्ता लिटो ने दर्शन की व्याख्या की है और उसका केन्द्र विन्दु पुनर्जन्म को मानता है।

लिटो के जाने माने हुए शिष्य अरस्तु पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं लिए इतने अवश्यकीय है कि उन्होंने अपने समकालीन दार्शनिकों का आह्वान करने हुए कहा कि हमें इस मत का कदाचि आदर नहीं करना चाहिए कि हम मानव हैं, तो आने विचार मृत्युनांक तक ही सीधित में रहें। अपितु अपने दैवी अंश को जागृत कर अमरत्व को प्राप्त करें।

१४३. स्थानाङ्ग १।४०

१४४. दण्वेकालिक ८।३९

१४५. शीमद् भगवद् गीता ८।२२

१४६. शीमद् भगवद् गीता ८।२६

१४७. इति एकानवतिकल्पे शमत्या में पुरुषो हतः।

तेन कर्मविषाक्तं पादं विद्वोऽस्मि विश्रवः॥

१४८. न्यायसूत्र ३।१।१२

१४९. न्यायसूत्र ३।१।१२

१५०. विशेषावस्पक भगव्य

लूपर के अभिमतानुसार भावी जीवन के नियंत्रण करने का अर्थ है— स्वयं के इक्ष्वरत्व का तथा उच्चतर नैतिक जीवन का नियंत्रण और स्वेच्छावाद का स्वीकार।

फाँसीरी धर्म-प्रचारक मोगिला नवा। इनादि सन् गार्ह के अनुसार— देह के भाव ही आत्मा का नाश भासने का अर्थ होता है कि विवेकपूर्ण जीवन का अन्त और विकारभय जीवन के लिए द्वारा भूक्त करना।

फैन्च विचारक रेपन का अभिमान है कि भावी जीवन में विश्वास न करना नैतिक और प्राध्यात्मिक पतन का कारण है।

मैकेटगार्ड की दृष्टि में आत्मा में अमरत्व वीर माध्यक युक्तियाँ भूमारे भावी जीवन के भाव ही पूर्वजन्म की निष्ठि होती है।

गर देवगी जौन्स निखने हैं कि अमरत्व के नियंत्रण का अर्थ होता है पूर्ण नास्तिकता।

श्री प्रियल फैटिमत ने अपने अमरत्व-विचार नामक अन्य में लिखा है— “यह कहना अतिशयोक्तिगूण न होगा कि मूल्य विषयक चिन्तन ने ही मनुष्य को मज्जे अर्थ में मनुष्य बनाया है।”

इन स्वयं अबतरणी से भी यह साइद है कि विषय के गमी मूर्धेय मनीषियाँ ने आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के नियन्त्रण को स्वीकार किया है।

विपाकसूक्ष्म के प्रत्येक अध्ययन में पूर्वजन्म का चर्चा है। जो अक्षित दुष्प्र ने कराह रहा है और जो मुख के सामर पर तैर रहा है, उन सभी के मम्बन्ध में यह जिशामा व्यक्त की गई है कि यह इस प्रकार कैसे है? भगवान् उस का पूर्व भव सुनाकर जिजामु को ऐसा समाधान देते हैं कि वह उसका रहस्य सद्यं समझ जाता है। अन्याय, अत्याचार, वेश्यामन, प्रजापीड़न, रिक्षत, हिंसा, नरसंघ यज्ञ, माम-भक्षण आदि ऐसे दुष्कृत्य हैं जिनके कारण विविध प्रकार की यातनाएं भोगने का उल्लंघन है। गुरुविगाक में सुपात्र-दान का प्रातिकल मुख घताया गया है।

द्यात्मा साहित्य

विपाकसूक्ष्म का विषय अत्यधिक मरल और मुगम होने गे इस पर न निर्युक्ति का निष्पत्ति किया गया, न भाव्य निखना गया और न चूषियाँ ही रखी गईं। अवैप्रयम आचार्य अमयदेव ने इस पर संकृत भाषा में दीक्षा का निष्पत्ति लिखा। प्रारम्भ में आचार्य ने भगवान् महाधीर को नमस्कार कर विपाकसूक्ष्म पर वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की और विपाकशूत का जबरार्थ प्रस्तुत लिया। वृत्तिकार ने अनेक पारिभाषिक शब्दों के गठान और सामूहिक अर्थ भी दिये हैं। उदाहरण के रूप में ‘रदुकूह’ का अर्थ ‘रद्दुकूह, रद्दुकूह, राष्ट्रकूट—‘रद्दुकूहेनि राष्ट्रकृटो मण्डलोपञ्जीवी राजनियोगिकः’—किया है। वृत्ति के अन्त में विज्ञों को यह नम्र निवेदन किया है कि वे वृजि को परिष्कृत करने का अनुग्रह करें। प्रस्तुत वृत्ति का प्रकाशन गार्वशयम सन् १८४६ में राय अनपत्रमिहजी ने कलकत्ता से किया। उसके पश्चात् सन् १९२० में आमोदय समिति बम्बई से और मुक्ति कमल जैन गोहनमाला बड़ीदा से और सन् १९३४ में गुर्जर अन्धरतन वत्यान्ति गांधीरोड अनुवाद में अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणी के माध्य प्रकाशित हुआ है।

पी. एल वेदा ने अन् १९३३ में प्रस्तावना के साथ प्रस्तुत आगम प्रकाशित किया। जैनधर्म प्रचारक समाज भावनगर में वि. सं. १९८७ में गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ। जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय कोटा से सन् १९३५ में और वि. सं. २४४६ में हैदराबाद में क्रमशः मूलि आनन्दसागरजी व पूज्य अमोलकशृणिजी ने हिन्दी अनुवाद संहित इस आगम का प्रकाशन करवाया। जैनागमस्त्रमाला कार्यालय लुधियाना से वि. सं. २०१० में हिन्दी में आचार्य आत्मारामजी म० कृत विस्तृत दीक्षा युक्त मंस्कारण प्रकाशित हुआ है। दीक्षा में अनेक रहस्य उद्घाटित

किये गये हैं। जैनगाम्बोलार ममिति राजकोट ने मन् १९५९ में पूज्य धासोलालजी ग. कृत संस्कृत व्याख्या व हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। इनकी संस्कृत टीका पर आचार्य श्रभयदेव की चृत्ति का स्पष्ट प्रभाव है। जैनमाहित्य-प्रकाशन-ममिति अहमधारावाद से सन् १९४३ में शोपानदास जीवाभाई पटेल ने गुजराती छायानुवाद प्रकाशित किया है। उस तरह समय-समय पर विभिन्न स्थानों में प्रस्तुत आगम के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

प्रस्तुत संस्करण

आगमों के अभिनव गंस्करण की मांग प्रतिपल प्रनिध्यन बड़ती हुई देख कर आगमसंघ के युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी ने आगम-वर्तीभी के प्रकाशन के सम्बन्ध में चिन्तन किया और विविध विज्ञों के महर्षोंग में कार्य प्रारम्भ हुआ। मुझे लिखने हुए परम आल्पाद है कि स्वल्पावधि में प्रागमों के व्येष्ठतम संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इन संस्करणों की सामान्य पाठकों में लेकर सूर्धन्य मनोधियों तक तो मुक्तकांड में प्रशंसा की। युवाचार्यश्री की प्रबल प्रेरणा से वह कार्य अत्यन्त द्रुतगति से प्रगति पर है। इनाद्दन आगम प्रकाशित हो रहे हैं।

आगममाला की लड़ी की कड़ी में विपाकसूत्र प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत आगम के कुशल सम्पादक हैं। इंडिन श्रीरामचन्द्रलालजी, जो जैनदर्शन के अस्त्वेषु अभ्यानी हैं। वर्षों में धम्म और क्षमणियों को आगम और दर्शन का अभ्यास कर रहे हैं। प्रस्तुत आगम में उन्होंने चिन्ताग्र में न जाकर बहुत ही संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत किया। यह विवेचन संक्षेप में होने पर भी सारणी है। पं. प्रबर रुलम कलाधर शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की प्रतिभा का चमत्कार भी यथा-तथा निहारा जा सकता है।

मुझे दृढ़ आह्मदिक्षिवास है कि यह आगम जन-जन को प्रेरणादायी सिद्ध होगा। भौतिक प्रक्ति के युग में पल-पुमे मानवों को आत्मानिक चिन्तन प्रदान करेगा।

वागरेचा भवन
गर्वसिवाना
दि. १०.१९८२

वेबेन्ड्रमुनि शास्त्री

श्री आगाम प्रकाशन समिति, हयातर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री सागरमलजी बेताला	इन्दौर
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारम्यमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री दुलीचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री जसराजजी सा. पारख	दुर्ग
महामंत्री	श्री जी. सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
मंत्री	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री जानराजजी मूथा	पाली
सहमंत्री	श्री जानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री शार. प्रगल्चन्दजी चोरड़िया	मद्रास
परामर्शदाता	श्री माणकचन्दजी सचेती	जोधपुर
कार्यकारिणी सदस्य	श्री एस. सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मोतीचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री तेजराजजी भण्डारी	जोधपुर
	श्री भवरलालजी गोठी	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चोपड़ा	ब्यावर
	श्री जनराजजी मेहता	मेहतासिटी
	श्री भंवरलालजी श्रीधीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेहतिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर

त्रिष्णयस्त्रूची

प्रथम श्रुतस्कन्ध : दुःखविपाक

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रथम अध्ययन : मृगापुत्र			
सारः संक्षेप	३	अभग्नसेन का वर्तमानभव	४५
उत्क्षेप-चम्मालगारी	५	अभग्नसेन का भविष्य	५६
सुधमस्त्वामी का आगमन	६		
आर्य जम्बू की जिज्ञासा	८	बलुर्ध अध्ययन : शकट	
सुधर्मस्त्वामी का समाधान	९	जम्बूस्त्वामी की जिज्ञासा	५८
जन्मान्ध मृगापुत्र	१०	सुधर्मस्त्वामी का समाधान	५९
मृगापुत्र के विषय में गौतम की जिज्ञासा	१२	शकट के पूर्वभव का वृत्तान्त	५९
मृगापुत्रविषयक प्रश्न	१६	शकट का वर्तमान भव	६०
भगवान् द्वारा समाधान	१७	शकट का भविष्य	६३
इक्षवाई का अत्याचार	१७		
इक्काई को भयंकर रोग	१८	पंचम अध्ययन : द्रुहस्पतिहत्त	
इक्काई की मृत्यु	२०	प्रस्तावना	६५
मृगापुत्र का जन्म	२२	पूर्वभव	६६
मृगापुत्र का भविष्य	२३	वर्तमान भव	६७
		भविष्य	६९
द्वितीय अध्ययन : उजिभत्तक			
उत्क्षेप	२६	षष्ठ अध्ययन : नन्दिवरद्धन	
उजिभत्तक-परिचय	२७	प्रस्तावना	७०
उजिभत्तक की दुर्दृष्टि	२७	गौतमस्त्वामी का प्रश्न	७१
पूर्वभव-विवरण : भीम कूटग्राह	३०	भगवान् का उत्तर—नन्दिवेषण का पूर्वभव	७१
उजिभत्तक का भविष्य	३८	जेलर का घोर अत्याचार	७२
तृतीय अध्ययन : अभग्नसेन		पितृवध का दुःसंकल्प	७६
उत्क्षेप	४१	षष्ठ्यन्त्र विफल : घोर कदर्थना	७६
घोरपल्ली	४१	नन्दिवेषण का भविष्य	७७
चौरसेनापति विजय	४१		
अभग्नसेन	४२	सप्तम अध्ययन : उम्बरदत्त	
अभग्नसेन का पूर्वभव	४४	प्रस्तावना	७९
अभग्नसेन का निवायभव	४४	उम्बरदत्त का वर्तमान भव	७९
		पूर्वभव सम्बन्धी पृच्छा	८१
		पूर्वभव-वर्णन	८१
		उम्बरदत्त का भविष्य	८८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अष्टम अध्ययन : शौरिकदत्त		पूर्वभव	१७
प्रस्तावना	८९	देवदत्ता का भविष्य	१०९
शौरिकदत्त का वत्तमानभव	८९	दशम अध्ययन : अंजु	
पूर्वभव-कथा	९०	प्रस्तावना	११०
शौरिकदत्त का भविष्य	९४	पूर्वभव	१११
नवम अध्ययन : वेददत्ता		दत्तमुख भव	११६
उल्लेप	९६	भविष्यत् वृत्तान्त	११३
वर्तमान भव	९६		

द्वितीय श्रुतस्कन्ध : सुखचिपाक

सार : संक्षेप	११४	द्वितीय अध्ययन : भद्रनन्दी	१२९
प्रथम अध्ययन : सुवाहुकुमार		तृतीय अध्ययन : मुजालकुमार	१३०
प्रस्तावना	११६	चतुर्थ अध्ययन : सुवासवकुमार	१३१
सुवाहु का जन्म : गृहस्थजीवन	११७	पंचम अध्ययन : जिनदास	१३२
सुवाहु का धर्मान्वयन	११८	षष्ठि अध्ययन : ध्रनपनि	१३३
गृहस्थधर्म-स्वीकार	११९	सप्तम अध्ययन : महावल	१३४
गोतम की सुवाहुविषयक जिज्ञासा	१२०	अष्टम अध्ययन : भद्रनन्दी	१३५
भगवान् द्वारा समाधान	१२२	नवम अध्ययन : महाचन्द्र	१३६
सुपात्र-दान	१२६	दशम अध्ययन : चरदस	१३७
सुवाहु की प्रक्रिया	१२७	परिशिष्ट	१४१
सुवाहु का भविष्य		अनध्यायिकाल	१५०

पञ्चमगणहर-सिरियुहमसामिविरहयं एककारसमं अंगं

विवागसुयं

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचितं एकाब्दशासङ्गम्

विपाकश्रुतम्

विपाकसूत्र-प्रथम श्रुतस्कन्धा

सार : संक्षेप

विपाकसूत्र अपने व्यापिदान के अनुसार एक पुभ कर्मों का विपाक—फल प्रदर्शित करने वाला आरहवां अंग-शास्त्र है। समस्त कर्मप्रकृतियाँ मुख्यतः दो भागों में विभक्त की जाती हैं: पुभ और अशुभ। इनमें से अशुभ प्रकृतियाँ पाप—दुःख रूप और शुभ प्रकृतियाँ पुण्य—सातारूप सुख प्रदान करती हैं। इन दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों का फल-विपाक दिखलाने के लिए प्रस्तुत शास्त्र को दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया गया है—दुःखविपाक और सुखविपाक। दुःखविपाक में पापकर्मों का और सुखविपाक में पुण्य कर्मों का फल प्रतिपादित किया गया है।

जैन साहित्य में कर्मसिद्धान्त का अत्यन्त विस्तारपूर्वक सांगोषांग वर्णन किया गया है। बहुसंख्यक स्वतन्त्र ग्रन्थों की इस मौलिक तथा दुर्लभ सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए रचना की गई है। यद्यपि वह सब कर्म-साहित्य जिजासुओं के लिए बहुत रस-प्रद है, मगर सबके लिए सुगम-सुबोध नहीं है। इस कभी की पूर्ति के लिए 'विपाकसूत्र' सर्वोत्तम साधन है। इसमें कथाओं के माध्यम से कर्म-विपाक की प्रस्तुपणा अत्यन्त सुगम एवं सुबोध धीली में की गई है। इस दृष्टि से विपाकसूत्र का अपना विशिष्ट एवं मौलिक स्थान और महत्व है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन विस्तृत है और शेष अध्ययन अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं।

प्रथम अध्ययन में विजय भत्रिय-नरेश के पापी पुत्र मृगापुत्र का वर्णन किया गया है। मृगापुत्र पूर्वभवोपाजित प्रकृष्ट पापकर्म के उदय से जब रानी मृगा के गर्भ में आया तो रानी राजा के अप्रिय, अनिष्ट एवं अनगमती हो गई। जन्म हुआ तो जन्म से ही अन्धा, बहिरा, लूला-लंगड़ा और हृष्ठकसंस्थानी हुआ। उसके शरीर के हाथ, पैर, कान, आँख, नाक आदि अवयवों का अभाव था, मात्र उनके निशान थे। मृगा दंवी जन्मते ही उसे धूरे (उकरड़े) पर फिकवा देना चाहती थी, मगर अपने पति के समझाने-बुझाने पर गुप्त रूप से भौयरे (भूगृह) में रख कर उसका पालन-पोषण करने लगी।

एकदा भगवान् महावीर के कहने पर गौतम स्वामी को मृगापुत्र का पता लगा। वे उसे देखने के लिए गए। जिस भूगृह में मृगापुत्र रहता था वह असह्य सहाय से व्याप्त था। मृगादेवी उसका भोजन-पानी साथ लेकर गौतम स्वामी के साथ वहाँ गई। अत्यन्त गृद्धिपूर्वक उसने वह आहार ग्रहण किया। उदर में जाते ही भ्रस्मक व्याधि के प्रभाव से वह आहार हजम हो गया और तत्काल मवाद और रुधिर के रूप में बदल गया। उसने उस रुधिर और मवाद का वर्मन किया और उसे भी चाट गया।

यह सब लोमहृष्टक वीभत्स एवं दधनीय दशा देखकर गौतम स्वामी भ० महावीर की

सेवा में लौटे। उसकी दुर्दशा का कारण पूछा। तब भगवान् ने उसके पूर्व जन्म का विवरण इस प्रकार बतलाया—

भारतवर्ष में शतहार-नरेश का प्रतिनिधि विजयवर्द्धमान नामक खेट का शासक 'इकाई' नामक राष्ट्रकूट (राठीड़) था। यह राष्ट्रकूट अत्यन्त अधर्मी, अधर्मनुयायी, अधर्मनिष्ठ, अधर्मदर्शी, अधर्मप्रज्वलन एवं प्रधर्मचारी था। आठवें शताब्दी में वो लिशिष्टताएँ होनी चाहिए उनमें से एक भी उसमें नहीं थी। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक दृष्टि से अष्ट और अधर्म शासक था। सब तरह से प्रजा का अधिक से अधिक उत्पीड़न करने में ही वह अपनी शान मानता था। वह रिश्वतखोर था, व्याजखाऊ था और निरपराध जनों पर भूठे आरोप लगाकर उन्हें तंग किया करता था। रात-दिन पाप-कृत्यों में तल्लीन रहता था।

तीव्रतर पापकर्मों के आचरण का तात्कालिक फल यह हुआ कि कुछ समय के पश्चात् उसके शरीर में एक साथ सोलह कष्टकारी असाध्य रोम उत्पन्न हो गए। इन रोगों के फलस्वरूप 'हाय-हाय' करता वह चल बसा। अपने पार्षों के विषाक्त को भोगने के लिए वह प्रथम नरक में नारक के रूप में उत्पन्न हुआ। नरक की लम्बी आयु भोगने के पश्चात् वह मृगापुत्र के रूप में जन्मा है।

मृगापुत्र के अतीत की यह कहानी सुनने के बाद गौतम स्वामी ने उसके भविष्य के विषय में पूछा।

भगवान् ने मृगापुत्र का भविष्य बतलाते हुए कहा—

१. वह प्रथम नरक की एक सागरोपम की आयु पूर्ण करके सिंह की पर्याय में जन्म लेगा। इस पर्याय में भी वह अतीव अधर्मी होगा।
२. सिंह-पर्याय का अन्त होने पर वह पुनः प्रथम नरक में जन्मेगा।
३. नरक से निकल कर सरीसृप—रेंग कर चलने वाला जन्म होगा।
४. तत्पश्चात् दूसरे नरक में उत्पन्न होगा।
५. फिर पक्षी-योनियों में जन्म लेगा।
६. पक्षियों में जन्म-मरण करने के पश्चात् तीसरी नरकभूमि में। फिर—
७. पुनः सिंह-पर्याय में।
८. तदन्तर चौथे नरक में।
९. उरगजातीय प्राणियों में।
१०. पाँचवें नरक में।
११. स्त्री के रूप में।
१२. छठी तमःप्रभा नरकभूमि में।
१३. मनुष्यपर्याय में—नर के रूप में।
१४. तमस्तमःप्रभा नामक सातवें नरक में।
१५. लाखों बार जलचर जीवों की साढ़े बारह लाख कुलकोटियों में।
१६. तत्पश्चात् चतुर्थपदों में, उरपरिसपों में, भुजपरिसपों में, लेचरों में, चौ-इन्द्रियों में, तौ-इन्द्रियों में, दो-इन्द्रियों में, कटुक रस वाले बत्सपति-वृक्षों में, वायुकाय, अप्काय, तेजस्काय तथा पृथ्वीकाय में लाखों-लाखों बार उत्पन्न होकर मृत्यु को प्राप्त करेगा।

१७. इतना दीर्घकालिक भवभ्रमण करने और असीम-अपार वेदनाएँ भोगने के अनन्तर बैल के रूप में जन्मेगा । तत्पश्चात्—

१८. उसे मनुष्यभव की प्राप्ति होगी । मनुष्यभव में संयम की साधना करके वह सिद्धि प्राप्त करेगा ।

शासन के माध्यम से प्राप्त सत्ता का दुरुपयोग करने वालों, रिश्वतखोरों, प्रजा पर अनुचित कर-भार लादने वालों और इस प्रकार के पापों का आचरण करने वालों के भविष्य का यह एक निर्मल दर्पण है । आज के बातावरण में प्रस्तुत अध्ययन और आगे के अध्ययन सी अत्यन्त उपयोगी और शिक्षाप्रद हैं ।

प्रथम अध्ययन में प्रदर्शित पाप के दुखरूप विपाक का ही शगले अध्ययनों में निरूपण किया गया है । घटनाओं एवं पापाचार के प्रकार में किञ्चित् भिन्नता होते हुए भी दुःखविपाक के सभी अध्ययनों का मूल स्वर एक-सा है ।

विस्तार से जानने के लिए जिजासु-जन मूल शास्त्र का अध्ययन करें ।

विपाकसूत्र

प्रथम श्रुतरूपकठि : प्रथम अद्यायन

उल्कोप

१—तेण कालेण तेण समएर्ज चंपा नामं नगरी होत्था । वर्णओ । पुण्यभद्रे चेहए । वर्णओ ।

१—उस काल तथा उस समय में चंपा नाम की एक नगरी थी । चंपा नगरी का वर्णन औपपातिक सूत्रान्तर्गत नगरी के वर्णन के ही सदृश समझ लेना चाहिये । (उस नगरी के बाहर ईशान-कोण में) पूर्णभद्र नामक एक चंत्य-उद्यान था । पूर्णभद्र चंत्य का वर्णन औपपातिक सूत्र में विस्तार-पूर्वक किया गया है, अतः जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासापूर्ति वहीं से कर लेना चाहिए ।

विवेचन—व्यवहार में काल तथा समय, ये दोनों शब्द सामान्यार्थक हैं । फिर सूत्रकार ने इन दोनों शब्दों का पृथक् प्रयोग क्यों किया ? इस शब्दों का आचार्य अभ्यदेव सूरि ने इस तरह समाधान किया है—

‘काल कालस्तद्युपेः को विदेषः ? तद्वारै त्रामात्यः वर्त्तमानवसर्पिणी चतुर्थारक-लक्षणः कालः, विशिष्टः पुनस्तदेकदेशभूतः समयः ।’

सूत्रकार को काल शब्द से सामान्य-वर्त्तमान अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आरा अभिप्रेत है और समय शब्द से चौथे आरे के उस भाग का ही प्रहण करना अभीष्ट है जबकि यह कथा कही जा रही है ।

तत्त्वज्ञ पुरुष महीना, वर्ष आदि रूप से जिसका कलन—निर्णय करते हैं अथवा ‘यह एक पक्ष का है’, ‘दो महीने का है’, इस तरह का कलन (संख्या-गिनती) को काल कहते हैं । अथवा कलाओं—समयों के समूह को काल कहते हैं । निश्चय काल का स्वरूप बर्तना है अर्थात् समस्त द्रव्यों के बर्तन में जो निमित्त कारण होता है वह निश्चय काल है ।

सुधर्मस्वामी का आगमन

२—तेण कालेण तेण समएर्ज समणस्स मगवओ महावीरस अंतेष्वासी अजजसुहृष्टे नामं अणगारे जाहसंपन्ने वर्णओ—(कुलसम्पन्ने, बल-रूप-विषय-णाण-दंसण-चरित्त-लाघवसम्पन्ने, औषंसी, तेर्षसी, वर्चसी, जर्षसी, जियकोहे, जियमाणे, जियमाए, जियलोहे, जिइदिए, जियनिहे, जियपरिसहे, जीवियास-भरणभय-विष्प्रमुक्ते, तवप्पहाणे, गुणप्पहाणे एवं करण-चरण-निग्रह-णिरुद्धय-अजजव-महू-लाघव-खंति-गुत्ति-पुत्ति-विड्जा-पंक-वंभ-वय-नय-नियम-सच्च-सोय-णाण-दंसण-चरिसे ओराले धोरे धोरपरिसहे धोरव्वए धोरतवस्सी धोरवंभचेरवासी चच्छुडसरीरे संखित्तविडलतेउलेसे) चउहसपुष्ट्वी चञ्चनाणोदगाए पंचाहि अणगारसएहि सद्दि संपरिवृडे पुव्वाण्णुविव जाव (चरमाणे गामाण्णुगामं दूहज्जमाणे सुहं सुहेण विहरमाणे) जेणेव चंपानयरी जेणेव पुण्यभद्रे चेहए तेणेव चवागच्छइ,

उचागच्छता अहापदिलवं जाव (उग्गहं उग्गिष्ठह, अहापदिलवं उग्गहं उग्गिष्ठिता संजमेण तदसा अप्याणं मावेमाणे) विहृतः । परिसा निगमा । धम्मं सोक्ष्मा निसम्म जामेव विसि पात्रमूया तामेव विसि पदिगाय ।

२—उस काल उस समय में श्रमण भगवान् भगवान् स्वामी के शिष्य—जातिसम्पन्न (जिसकी माता में मातृजनोचित प्रशस्त गृण विद्यमान हों अथवा जिसका मातृपक्ष निर्मल हो) कुल-सम्पन्न—उत्तम पितृपक्ष सहित, बलसम्पन्न—उत्तम प्रकार के संहनन के बल से युक्त, रूपसम्पन्न—देवों की अपेक्षा भी अधिक मुन्दर रूप वाले, विनयवाले, चार ज्ञान सहित, क्षायिकसमक्ति से सम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, लाघव-सम्पन्न-द्रव्य से अल्प उपशिवाले और भाव से ऋषि, रस, व साता इन तीन प्रकार के गोरव (गर्व) से रहित, श्रोजस्वी-मनस्तेजसम्पन्न-वर्धमानपरिणाम वाले, तेजस्वी-शरीर की कान्ति वाले, वर्चस्वी-सौभाग्यादि गुणयुक्त वचन वाले अथवा वर्चस्वी-प्रभावशाली, यशस्वी-यशःसम्पन्न, क्रोध, मान, माया तथा लोभ को जीतने वाले, पांच इन्द्रियों और निद्रा के विजेता, वावीस परिषद्हों को जीतने वाले, जीने की आशा तथा मृत्यु के भय से रहित, तपःप्रधान—उत्कृष्ट तप करने वाले, गुणप्रधान—उत्कृष्ट संघर्ष गुणवाले, करणप्रधान—पिण्डशुद्धि आदि करणसत्तरीप्रधान, चरणप्रधान—महाव्रतादिक चरणसत्तरीप्रधान, निग्रह-प्रधान—अनाचार में नहीं प्रवर्तित होने वाले, निश्चय-प्रधान—तत्त्व का निश्चय करने में उत्तम, आर्जवप्रधान—माया का निग्रह करने में वरिष्ठ, मार्दव-प्रधान—मान का निग्रह करने में श्रेष्ठ, लाघवप्रधान—क्रिया को करने की कुशलता वाले, क्षान्ति-प्रधान—क्रोध को नियन्त्रण में रखने में कुशल, गुणितप्रधान—मनोगुणित, वचनगुणित व कायगुणित का सरलता पूर्वक पालन करने में आदर्श, मुक्तिप्रधान—निलोभीपने में श्रेष्ठतम, विद्याप्रधान—देवताधिष्ठित प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं में परम निष्णात, मन्त्रप्रधान—हरिणेगमेषी आदि देव-यद्यिष्ठित विद्याओं से भरपूर अथवा जो साधन-सहित हो—साधने से सिद्धि होती हो वह विद्या और साधनरहित मात्र पाठ करने से जो सिद्ध हो जाते हों वे मन्त्र, इन दोनों में कुशल, ब्रह्म-प्रधान—ब्रह्मचर्य की साधना अथवा सर्वकुशल अनुष्ठानों में कुशल, वेदप्रधान—लौकिक-लौकिकोत्तर आगमों सम्बन्धी कुशलता से सम्पन्न, नयप्रधान—नैगमादि सात नयों के सूक्ष्मता से जाता, नियमप्रधान—अनेक प्रकार के अभिग्रहों को धारण करने में वरिष्ठ, सत्यप्रधान—सत्यवाणी बोलने में कुशल, दर्शन-प्रधान—चक्रदर्शनादि से अथवा सम्यक्त्व गुण से श्रेष्ठ, चारित्र-प्रधान—प्रतिलेखनादि सत्क्रियाओं को करने में जागृत, श्रोराज—उदार, भयानक—उप तपस्त्वर्थ करने के कारण समीपवर्ती अल्पसत्त्व वाले मनुष्यों की दृष्टि में भयानक, घोरपरिषह—इन्द्रियों व कषाय नामक शत्रुओं को वशवर्ती करने में निर्दय, घोरवत—दूसरों के लिये जिन ब्रह्मों का अनुष्ठान दुष्कर प्रतीत हो, ऐसे विशुद्ध महाव्रतों को पालने वाले, घोर तपस्वी—उप तपस्या करने वाले, घोर ब्रह्मचर्यवासी—उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य के धारक, उजिभतशरीर—शरीर के सत्कार-शृङ्खार से रहित, संक्षिप्त-विपुल-तेजोलेश्य—अनेक योजनप्रभाण रही हुई वस्तुओं को जला सकने की क्षमता वाली दिस्तीर्ण तेजोलेश्या को जिन्होंने अपने शरीर में ही समाविष्ट कर लिया है, ऐसी क्षक्ति से सम्पन्न, जोदह पूर्वों के जाता, केवलज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञान-मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यवज्ञान के धारक, पांच सौ अनगारों (साधुओं) से घिरे हुए सुधर्मी अनगार-भुनि क्रमशः विहार करते हुए अर्थात् अप्रतिबद्ध विहारी होने से विविधत ग्राम से अनन्तर के ग्राम में चलते हुए, साधुवृत्ति के अनुसार सुखपूर्वक विहरण करते हुए चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक चैत्य-उद्यान में साधुवृत्ति के अनुरूप [अवग्रह (आश्रय) उपलब्ध कर संयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए] विचरने

लगे। धर्मकथा सुनने के लिये जनता (परिषद) नगर से निकलकर वहाँ आयी। धर्मकथा अवण कर और हृदय में अवधारण कर जिस ओर से आयी थी उसी ओर (यथास्थान) चली गई।

३—तेण कालेण तेण समएण अज्जसुहम्मस्स अन्तेवासी अज्जजंब्र नामं अणगारे सत्तुस्तेहे, जहा गीयमसामी तहा, जाव (समचउरंसंठाणसंठिए, अज्जरिसहनारायसंघयणे, कणगपुलगाणिघस-पम्हगोरे, उगगतवे, दिसतवे, तसतवे, महातवे, ओराले, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूङ्खसरीरे, संखित्तयिजलतेउलेसे, चौहसपुष्वी, चउणाणोवगए, सञ्चवक्षुरसन्निवाई समणस्स भगवओ महाबीरस्स अदूरसामन्ते उड्ढआण् अहोसिरे आणकोट्रोवगए संजमेण तयसा अत्याणं मावेमाणे) विहुरइ।

तए ण अज्जजंब्र नामं अणगारे जायसङ्सए, जायकोउहुल्ले, उप्पन्नसङ्हे उप्पन्नसंसए, उप्पन्नकोउहुल्ले, संजायसङ्हे संजायसंसए, संजायकोउहुल्ले, समुप्पन्नसङ्हे समुप्पन्नसंसए, समुप्पन्नकोउहुल्ले, उद्धाए उद्धेइ, उद्धाए उद्धेत्ता) जेणेव अज्जसुहम्मे अणगारे तेणेव उवागाए, तिक्खुतो आयाहिण पयाहिण करेइ, करेत्ता वंदह नमंतद, बंदित्ता, नमंमित्ता (अज्जसुहम्मस्स वेरस्स णज्ज्वासणे नातिद्वेरे सुसूसमाणे जमंसमाणे अभिमुहं पंजेलिउडे विणएण) जाव पञ्जुवासह, पञ्जुवासित्ता एवं वयासी।

३—उस काल उस समय में आर्य सुधर्मास्वामी के शिष्य जम्बू स्वामी थे, जो सात हाथ प्रमाण शरीर वाले तथा गौतम स्वामी के समान थे। (श्री गौतम स्वामी का वर्णन भगवती सूत्र में वर्णित है। तदनुसार पालथी भारकर वैठने पर जिनके शरीर की ऊँचाई और चौड़ाई बराबर हो ऐसे समचतुरस संस्थान वाले हैं, जो वज्रऋषभनारायसंहनन के (हृडिडयों की रचना की दृष्टि से सर्वोत्तम सुदृढ व सबल अस्थिवंधन के) धारक हैं, जो सोने की रेखा के समान और पद्म-पराग, (कमल-रज) के समान वर्ण वाले हैं, जो उग्र (साधारण मनुष्य जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता ऐसे) तप करने वाले हैं, दीप्त तपस्वी (कर्मरूपी वन को भस्म करने में समर्थ तप करने वाले), तप्त-तपस्वी (जिस तप से कर्मों को सन्ताप हो—कर्म नष्ट हो जाए—ऐसे कठोर तप को करने वाले), महातपस्वी (किसी तरह की आकांक्षा-आभीप्सा रक्षे विना निष्काम भाव से किये जाने वाले महान् तप को करने वाले) हैं, जो उदार हैं, आत्म-शत्रुओं को नष्ट करने में निर्भीक हैं, जो दूसरों के द्वारा दुष्प्राप्य गुणों को धारण करने वाले हैं, जो घोर तप के अनुष्ठान के कारण तपस्वी पद से अलंकृत हैं, जो शरीर में ममत्व वृत्ति से रहित हैं, जो अनेक योजन-प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तुओं के दहन में समर्थ विस्तीर्ण तेजो-लेश्या को—तपोजन्य विशिष्ट लक्ष्य-विशेष को संक्षिप्त किये हुए हैं, जो चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं, जो चार ज्ञान के धारक हैं, जिन्हें सम्पूर्ण अक्षरसंयोग का ज्ञान है, जिन्होंने उत्कुटुक आसन लगा रखा है, जो अधोमुख है तथा धर्मव्यान रूप कोष्ठक में प्रवेश किये हुए, भगवान् भगवार के पास संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं) ऐसे आचार को धारण करने वाले यावत् ध्यान रूप कोष्ठ को प्राप्त हुए आर्य जम्बू नामक अनगार विराजमान हो रहे हैं। तदन्तर जातश्रद्ध (अर्थात् तत्त्व को जानने की इच्छा में जिनकी प्रवृत्ति हो) जातसंशय (इच्छा में प्रवृत्ति होने का कारण संशय है, वयोंकि संशय होने से ही जानने की इच्छा होती है) जात-कुसुहल—(कुतूहल—उत्सुकता अर्थात् श्री सुधर्मास्वामी से प्रश्न करने पर उनसे अपूर्व वस्तु-तत्त्व की समझ प्राप्त होगी इत्यादि) उत्पद्धश्रद्ध, उत्पद्धसंशय, संजातसंशय, संजातसंशय, संजातकुतूहल, समुत्पद्धश्रद्ध, समुत्पद्धसंशय,

समुत्पन्नकुतूहल होकर श्री जम्बूस्वामी उठने को तैयार हुए, तैयार होकर, उठकर खड़े हुए, खड़े होकर जिस स्थान पर आर्यं सुधर्मा स्वामी विराजमान थे, उसी स्थान पर पद्धार गये । दाहिनी ओर से बाथीं और तीन बार अङ्गजलिबद्ध हाथ घुमाकर आवर्तनपूर्वक प्रदक्षिणा करने के पश्चात् बन्दना-नमस्कार करके आर्यं सुधर्मा स्वामी से न बहुत दूर और न बहुत पास, सुधर्मा स्वामी की सेवा करते हुए विनय पूर्वक इस प्रकार बोले—

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में जातशब्द, उत्पन्नशब्द, संजातशब्द और समुत्पन्नशब्द आदि विशेषण प्रयोग किये गये हैं, वे अन् में उल्लङ्घ होने वाली किन्तु प्रवस्थाओं के द्वातक हैं । प्रथम तीन अवग्रह रूप, दूसरे तीन इहारूप और तीसरे तीन अवायरूप और चौथे तीन धारणारूप समझना चाहिए ।

४—जहाँ भूते ! समणेण भगवया भवावीरेण जाव^१ संपत्तेण दसमस्स अंगस्स पष्टावागरणस्स अयमटृठे पश्चते, एकारसमस्त ऊं भूते ! अंगस्स विवागसुयस्स समणेण जाव^२ संपत्तेण के अदृढे पश्चते ?

५—हे भगवन् । यदि मोक्ष को प्राप्त हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने प्रश्नव्याकरण नामक म्यारहवें अङ्ग का यह अर्थ प्रतिपादित किया है तो विपाकश्रुत नामक ग्यारहवें अङ्ग का यावत् मोक्ष को सम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने क्या अर्थं प्रतिपादित किया है ?

सुधर्मा स्वामी का उत्तर

५—तए ऊं अङ्गसुहृस्मे अणगारे जंबुं अणगारं एवं व्यासी—“एवं खलु, जंतु । समणेण जाव^३ संपत्तेण एकारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयवसंधा पश्चता; तं जहा—तुहविवागा य सुहविवागा य ।”

जहाँ भूते ! समणेण जाव^४ संपत्तेण एकारसमस्स अंगस्स विवागसुयस्स दो सुयवसंधा पश्चता, तं जहा—तुहविवागा य सुहविवागा य, पठमस्स ऊं, भूते ! सुयवसंधस्स तुहविवागाणं समणेण जाव^५ संपत्तेण कहु अज्ञायणा पश्चता ?

५—तदनन्तर आर्यं सुधर्मा स्वामी ने (अपने सुविनीत शिष्य) श्री जम्बू अनगार को इस प्रकार कहा—हे जम्बू (घर्म की आदि करने वाले, तीर्थप्रवर्तक) मोक्षसंलब्ध भगवान् श्रीमहावीर स्वामी ने विपाकश्रुत (जिसमें शुभ-प्रशुभ कर्मों के सुख-दुःख रूप विपाक—परिणामों का दृष्टान्तपूर्वक कथन है) नाम के ग्यारहवें अङ्ग के दो श्रुतस्कन्ध प्रतिपादित किये हैं, जैसे कि—दुःखविपाक और सुखविपाक ।

हे भगवन् ! यदि मोक्ष को उपलब्ध श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने विपाकश्रुत संज्ञक एकादशवें अङ्ग के दुःखविपाक और सुखविपाक नामक दो श्रुतकन्ध कहे हैं, तो हे प्रभो ! दुःखविपाक नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध के मोक्षसम्प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कितने अच्ययन प्रतिपादित किये हैं ?

६—तए ऊं अङ्गसुहृस्मेयणगारे जंबुं एवं व्यासी—एवं खलु जम्बू ! समणेण……आइगरेण तित्ययरेण जाव संपत्तेण तुहविवागाणं दस अज्ञायणा पश्चता, तं जहा—

१-२-३-४-५. यहाँ ‘जाव’ शब्द से भगवती, समवायाङ्ग आदि सूत्रों में उल्लिखित तथा नमोत्थु ऊं पाठ में भगवान् के जितने विशेषण बताए गये हैं, वे समझ लेना चाहिये ।

मिथापुते य उज्जित्येऽभगवा, सगदे बहस्सई नन्दी ।
उच्चर सोरियवत्ते य देवदत्ता य अंजु य ॥१॥

६—तत्पश्चात् आर्यं सुधर्मास्वामी ने अपने अन्तेवासी श्री जम्बू अनगारको इस प्रकार कहा— हे जम्बू ! धर्म की आदि करने वाले, तीर्थप्रवर्तक, मोक्ष को उपलब्ध श्री श्रमण भगवान् महाबीर स्वामी ने दुखविपाक के दस अध्ययन फरमाये हैं जैसे कि—

(१) मृगापुत्र (२) उजिकतक (३) अभग्नसेन (४) शकट (५) बृहस्पति (६) नन्दिवर्धन (७) उम्बरदत्त (८) शौरिकदत्त (९) देवदत्ता और (१०) अञ्जु ।

७—‘अहं भंते ! समणेण आइगरेण तित्ययरेण जाव संपत्तेण दुहृविवागाणं दस अज्जयणा पश्चत्ता; तं जहा—मिथापुते य जाव अंजु य, पद्मस्त्वं यं भंते ! अज्जयणस्स दुहृविवागाणं समणेण जाव संपत्तेण के अट्ठे पश्चत्ते ?’

तए ण से सुहम्भे जंबु अनगारं एवं वयासी—‘एवं खलु जम्बू ! तेण कालेण तेण समणेण मियग्नामे नामं नवरे होत्या । वण्णओ ।’ तस्से ण मियग्नामस्स [नयरस्स बहिया उत्तरपुरतिथमे दिसीभाए चंदणपायवे नामं उज्जाणे होत्या सब्बोउय । वण्णओ । तत्य ण सुहम्भस्स जक्खस्स जक्खायवणे होत्या, चिराइए जहा पृष्णमहे ।

८—अहो भगवन् ! यदि धर्म की आदि करने वाले, तीर्थप्रवर्तक मोक्ष को समुपलब्ध श्रमण भगवान् महाबीर स्वामी ने दुखविपाक के मृगापुत्र से लेकर अञ्जु पर्यन्त दश अध्ययन कहे हैं तो मुवितप्राप्त श्रमण भगवान् महाबीर ने, प्रभो ! दुखविपाक के प्रथम अध्ययन का क्या पूर्ण कहा है ?

इसके उत्तर में आर्यं सुधर्मा स्वामी अपने (सुविष्य) श्री जम्बू अनगार को कहते हैं—हे जम्बू ! उस काल उस समय में मृगाग्राम नाम का एक नगर था जिसका वर्णन श्रीपातिक सूत्र में किये गये नगरवर्णन के हो समान जान लेना चाहिए । उस मृगाग्राम संज्ञका नगर के बाहर उत्तर पूर्व दिशा के मध्य अर्थात् ईशान कोण में सब ऋतुओं में होने वाले फल पुष्प आदि से युक्त चन्दन-पादप नामक एक उपवन था । इसका भी वर्णन श्रीपातिक सूत्र से समझ लेना चाहिये । उस उद्यान में सुधर्मा नामक यक्ष का एक पुरातन यक्षायतन था जिसका वर्णन पूर्णभद्र यक्षायतन की तरह समझना ।

जन्मांघ मृगापुत्र

८—तत्थ ण मियग्नामे नवरे विजए नगमं छलिए राया परिवसह, वण्णओ । तस्से ण विजयस्स

१. प्रस्तुत आगम में प्रायः चार स्थानों पर ‘वण्णओ’ पद का प्रयोग प्राप्त होता है—प्रथम नगर के साथ, दूसरा उद्यान के साथ, तीसरा विजय राजा और चौथा रानी मृगावती के साथ । जैनागमों की अपनी एक पारम्परिक प्रणालिका ही है कि यदि किसी एक आगम में किसी उद्यान, नगर, चैत्य, राजा, रानी, संयमशील साधु का सांगोपांग वर्णन कर दिया हो, प्रसंगवेण उस वर्णन को पुनः नहीं दुहराते हुए निदिष्ट आगम से उसका वर्णन जान लेने के लिये ‘वण्णओ’ ऐसा सक्रितिका शब्द निदिष्ट किया जाता है । अतः जहाँ कहीं वण्णओ शब्द का संकेत हो वहाँ श्रीपातिक सूत्र में वर्णित नगर, उद्यान, यक्ष, यक्षायतन, राजा व रानी के वर्णन की तरह समझ लेना चाहिये ।

खत्तियस्स मिया नामं देवी होत्था । आहोण १ वणओ । तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स पुते मियाए देवीए अत्तए मियापुते नामं बारए होत्था । जाइ-अध्ये, जाइ-मूए, जाइ-बहिरे, जाइ-यंगुले, हुंडे य बायवे य । नत्थ णं तस्स दारगस्स होत्था वा पाया वा कणा वा आळधी वा णासा वा । केवल से तेसि अंगोषंगाण आगिर्ड आगिहमित्ते । तए णं सा मियादेवी तं मियापुतं बारगं रहस्सयंसि भूमिघरंसि रहस्सएणं भत्तपश्चेण पडिजागरमाणी पडिजागरमाणो विहरइ ।

८—उस मृगापुत्र नामक नगर में विजय नाम का एक क्षत्रिय राजा निवास करता था । उस विजय नामक क्षत्रिय राजा की मृगा नामक रानी थी । उस सर्वांगसुन्दरी रानी का रूप-लावण्य औपदातिक सूत्र में किये गये राजीवण्णन के ही समान जान लेना । उस विजय क्षत्रिय का पुत्र और मृगा देवी का आत्मज मृगापुत्र नाम का एक बालक था । वह बालक जन्म के समय से ही अन्धा, मृगा, बहरा, लूला, हुण्ड था (उसके शरीर के सभी अवयव चिना देंग के—बेढ़ब थे) वह बातरोग से पीड़ित था । उसके हाथ, पैर, कान, आँख और नाक, भी न थे । इन अंगोषंगों का केवल आकार ही था और वह आकार-चिह्न भी नाम-मात्र का (उचित स्वरूपबाला नहीं) था । वह मृगादेवी गुप्त भूमिगृह (मकान के नीचे के तलघर) में गुप्तरूप से आहुरादि के द्वारा उस बालक का पालन-पोषण करती हुई जीवन बिता रही थी ।

९—तथ्य णं मियगामे नयरे एके जाइअन्धे पुरिसे परिवसेइ । से णं एगेणं सचक्षुएणं पुरिसेणं पुरश्चो वण्डएणं पगड़िज्जमाणे पगड़िज्जमाणे फुट्टहडाहडसीसे मचिछपाचडगरपहकरेणं णश्चिज्ज-माणमगे मियगामे नयरे गिहे गिहे कालुणवडियाए वित्त कप्पेमाणे विहरइ ।

१०—उस मृगाग्राम में एक जन्मान्ध पुरुष रहता था । आँखों वाला एक व्यक्ति उसकी लकड़ी पकड़े रहा करता था । उसी की सहायता से वह चला करता था । उसके मस्तक के बाल बिखरे हुए अत्यन्त अस्त-ब्यस्त थे । (अत्यन्त मेला-कुचेला होने के कारण) उसके पीछे मकिखियों के झुण्ड के भुज्ड भिनभिनाते रहते थे । ऐसा वह जन्मान्ध पुरुष मृगाग्राम नगर के घर-घर में कारुण्यमय-दैन्यमय भिक्षादृति से अपनी आजीविका चला रहा था ।

१०—तेणं कालेणं तेणं समदेणं समणे भगवं महावीरे जाव सप्तोसरिए । जाव परिसा निग्याया । तए णं से विजए खत्तिए इमोसे कहाए लङ्घदङ्घे समाणे, जहा कूणिए तहा निग्यए जाव पञ्जुवासइ ।

१०—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर (नगर के बाहर चन्दन-पादप उद्वान में) पधारे । उनके पदार्पण के समाचारों को जानते ही जनता उनके दर्शनार्थ निकली । तदनन्तर विजय नामक क्षत्रिय राजा भी महाराजा कूणिक की तरह भगवान् के शुभागमन के वृत्तान्त को जानकर दर्शनार्थ नगर से चला यावत् समवसरण में जाकर भगवान् की पर्युपासना—सेवा-भक्ति करने लगा ।

११—तए णं से जाइअन्धे पुरिसे तं महुया जणसद्व जाव सुणेत्ता तं पुरिसं एवं वयासी—“कि णं देवाणुप्पिया ! अज्ज मियगामे नयरे इन्द्रमहे इ वा जाव (खंदमहे इ वा उज्जाण-गिरिजत्ता इ वा जग्नो णं बहुदे उगा भोगा एगदिसि एगाभिमुहा) निगच्छंसि ?” तए णं से पुरिसे जाइअन्ध-

पुरिसं एवं वयासी—'नो खलु, देवाणुप्तिप्या । इन्द्रमहे इ वा जाव निगच्छह । समणे जाव विहरह । तए णं एए जाव निगच्छति ।' तए णं से जाइ अंधपुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—'गच्छामो ण देवाणुप्तिप्या ! अम्हे वि समणे भगवं जाव पञ्जुवासामो ।' तए णं जाइअन्धे पुरिसे लेणं पुरश्चोबद्धएणं पुरिसेणं पगङ्गुज्जमाणे पगङ्गुज्जमाणे जेणेव समणे भगवं भहावीरे सेणेव उगावए, उवागच्छस्ता तिकखुसो आयाहिणं पव्याहिणं करेह, करेता वंदह, नमंसइ, वंवित्ता नमंसित्ता जाव पञ्जुवासह । तए णं समणे भगवं भहावीरे विजयस्स स्वत्तियस्स तोसे य……घम्ममाहवष्टह, जाव परिसा पडिगया, विजए वि गण ।

११—तदनन्तर वह जन्मान्ध पुरुष नगर के कोलाहलमय चातावरण को जानकर उस पुरुष के प्रति इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रिय ! वया आज मृगाग्राम नगर में इन्द्र-महोत्सव है [स्कन्द-महोत्सव है, उद्यान की या पर्वत की यात्रा है, जिसके कारण ये उग्रवंशी तथा भोगवंशी आदि एक ही दिशा में—एक ही ओर] नगर के बाहर जा रहे हैं ? (यह सुन) उस पुरुष में जन्मान्ध से कहा—हि देवानुप्रिय ! आज इस ग्राम (नगर) में इन्द्रमहोत्सव नहीं है किन्तु (इस मृगाग्राम—नगर के बाहर चन्दन-पादप उद्यान में) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे हैं; वहाँ ये सब दर्शनार्थ जा रहे हैं । तब उस जन्मान्ध पुरुष ने कहा—चलो, हम भी चलें और चलकर भगवान् की पर्युपासना करें । तदनन्तर दण्ड के द्वारा श्रावे को ले जाया जाता हुआ वह जन्मान्ध पुरुष, जहाँ पर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पर आ गया । वहाँ आकर वह सीन बार दक्षिण ओर से आरम्भ करके प्रदक्षिणा (आवत्तन) करता है । प्रदक्षिणा करके वंदन-नमस्कार करता है । वन्दना तथा नमस्कार करके भगवान् की पर्युपासना—सेवा भक्ति में तत्पर हुया । तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर ने विजय राजा तथा नगर-जनता को धर्मोपदेश दिया । यावत् कथा सुनकर विजय राजा तथा परिषद् यथास्थान चले गये ।

मृगापुत्र के विषय में गौतम की जिज्ञासा

१२—तेणं कालेणं तेणं समार्णं समणस्स भगवओ भहावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इन्द्रभूई नामं अणगारे जाव विहरह । तए णं से भगवं गोयमे तं जाइअन्धपुरिसं पासइ, पासित्ता जायसकु जाव एवं वयासी—'अस्थिं णं भंते ! केहि पुरिसे जाइअन्धे जाइअन्धरुवे ?'

हंता अस्थि ।

"कहु णं भंते ! से पुरिसे जाइअन्धे जाइअन्धरुवे ?"

'एवं खलु, गोयमा ! इहेव मियाग्रामे नयरे विजयस्स खसियस्स पुत्ते मियादेवीए अस्तए मियापुत्ते नामं दारए जाइअन्धे जाइअन्धरुवे । नस्थिं णं तस्स दारगस्स जाव आगिहमित्ते । तए णं सा मियादेवी जाव पडिजागरमाणी पविजागरमाणी विहरह ।'

तए णं से भगवं गोयमे समणे भगवं भहावीरं वंदह, नमंसइ, वंवित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! सुझेहि अबमणुश्चाए समाणे मियापुत्तं दारगं पासित्तए ।'

'अहासुहं देवाणुप्तिप्या !'

१३—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य इन्द्र-

भूति नाम के अनगार भी वहाँ विराजमान थे । भगवान् गौतम स्वामी (दन्तभूति अनगार) ने उस जन्मान्ध पुरुष को देखा और देखकर जातश्रद्ध—प्रबृत्त हुई शहा बाले—भगवान् गौतम इस प्रकार बोले—‘अहो भगवन् ! क्या कोई ऐसा पुरुष भी है कि जो जन्मान्ध व जन्मान्धरूप हो ?’

भगवान् ने कहा—‘हाँ, ऐसा पुरुष है ।’

‘हे प्रभो ! वह पुरुष कहाँ है जो जन्मान्ध व जन्मान्धरूप हो ?’

भगवान् ने कहा—‘हे गौतम ! इसी मृगाग्राम नगर में विजयनरेश का पुत्र और मृगादेवी का आत्मज मृगापुत्र नाम का बालक है, जो जन्मतः श्राद्धा तथा जन्मान्धरूप है । उसके हाथ, पैर, चक्षु आदि अङ्गोपाङ्ग भी नहीं हैं ! मात्र उन अङ्गोपाङ्गों के आकार ही हैं । उसकी माता मृगादेवी उसका पालन-पोषण सावधानी पूर्वक छिपे-छिपे कर रही है ।

तदनन्तर भगवान् गौतम ने भगवान् महावीर स्वामी के चरणों में घन्दन-नमस्कार किया । घन्दन-नमस्कार करके उनसे विनती—प्रार्थना की कि—‘हे प्रभो ! यदि आपको अनुज्ञा प्राप्त हो तो मैं मृगा-पुत्र को देखना चाहता हूँ ।’

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—‘गौतम ! जैसे तुम्हें सुख उपजे वैसा करो ।’

१३—तए ण से भगवं गोथमे समणेण सगवया महावीरेण अदभणुस्ताए समाणे हुदुतुडे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअत्त्रो पडिनिकछमेह, पडिनिकिछमित्ता अतुरियं जाव [अचल-मसंभंते जुगंतरपलोयणाए विट्ठीए पुरओरियं] सोहेमाणे जेणेव मियगामे नथरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिला मियगामं तयरं मञ्जांमञ्जेज्जं अणुपविसइ, अणुप्पविसिला जेणेव मियादेवीए गिहे तेणेव उवागच्छइ ।

१३—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आङ्गा प्राप्त कर प्रसन्न व सन्तुष्ट हुए श्रीगौतम स्वामी भगवान् के पास से (मृगापुत्र को देखने के लिये) निकले । विवेकपूर्वक (जरा भी उतावल किये दिना ईयसिमिति का यथोचित पालन करते हुए) भगवान् गौतम स्वामी जहाँ मृगा-ग्राम नगर या वहाँ आये और आकर मृगाग्राम नगर के मध्यमार्ग से मृगाग्राम नगर में प्रवेश किया । क्रमशः जहाँ मृगादेवी का घर था, गौतम स्वामी वहाँ पहुँच गये ।

१४—तए ण सा मियादेवी भगवं गोयमं एउजमाणं पासइ, पासित्ता हुदुतुड जाव एवं बयासी—“संदिसहु ण देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पबोयणं ?”

तए ण से भगवं गोथमे मियादेवी एवं बयासी—“अहं ण देवाणुप्पिए, तब पुत्रं पासिजं हृष्टमागए ।”

तए ण सा मियादेवी मियापुतस्स दारगास्स अणुमस्तजायए चत्तारि पुत्रे सरवालंकारविभूतिए करेइ, करेत्ता भगवओ गोयमस्स पाएसु पाडेइ, पाडेत्ता एवं बयासी—“एए ण भते ! मम पुत्रे, पासहु ।”

१४—तदनन्तर उस मृगादेवी ने भगवान् गौतम स्वामी को आते हुए देखा और देखकर हृषित प्रमुदित हुई इस प्रकार कहने लगी—‘भगवन् ! आपके पश्चारने का क्या प्रयोजन है ?’

इसके उत्तर में भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—“हे देवानुप्रिये ! मैं तुम्हारे पुत्र को देखने आया हूँ !”

तब मृगादेवी ने मृगापुत्र के पश्चात् उत्पन्न हुए चार पुत्रों को वस्त्र-भूषणादि से अलंकृत किया और अलंकृत करके गौतमस्वामी के चरणों में डाला (नमस्कार कराया) और हाल करके (नमस्कार कराने के पश्चात्) इस प्रकार कहा—‘भगवन् ! ये मेरे पुत्र हैं; इन्हें आप देख लीजिए !’

१५—तए ण से भगवं गोयमे मियादेवि एवं वयासी—“नो खलु देवाणुप्पिए ! अहं ए तव पुत्रे पासितं हृष्वमागए। तत्थ ण जे से तब जेट्टे मियापुसे दारए दाह्वधन्धे जाइअन्धरुवे, जं ण तुमं रहस्यांसि भूमिघरंसि रहस्याण्णं भस्याणेण पडिजागरभाणो पडिजागरभाणी विहरसि तं ण अहं पासितं हृष्वमागए।”

तए ण सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी—‘से के ण गोयमा ! ते तहाल्वे नाणी वा सबस्सी वा, जेणं तव एसमट्टे सम ताव रहस्सीकए तुवभं हृष्वमवखाए, जओ ण तुम्हे जाणह ?’।

तए ण भगवं गोयमे मियादेवि एवं वयासी—“एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे, तओ ण अहं जाणामि !”

१५--यह सुनकर भगवान् गौतम मृगादेवी से बोले—हे देवानुप्रिये ! मैं तुम्हारे इन पुत्रों को देखने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ, किन्तु तुम्हारा जो ज्येष्ठ पुत्र मृगापुत्र है, जो जन्मान्व व जन्मान्धरूप है, तथा जिसको तुमने एकान्त भूमिगृह (भोरे) में गुप्तरूप से सावधानी पूर्वक रक्खा है और छिपे-छिपे खानपान आदि के द्वारा जिसके पालन-पोषण में सावधान रह रही हो, उसी को देखने मैं यहाँ आया हूँ !

यह सुनकर मृगादेवी ने गौतम से (आश्चर्यचकित होकर) निवेदन किया कि—हे गौतम ! वे कौन तथारूप ऐसे ज्ञानी व तपस्वी हैं, जिन्होंने मेरे द्वारा एकान्त गुप्त रक्खी यह बात आपको यथार्थरूप में बता दी। जिससे आपने यह गुप्त रहस्य सरलता से जान लिया ?

तब भगवान् गौतम स्वामी ने कहा—हे भद्रे ! मेरे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं और प्रभु महावीर स्वामी ने ही मुझे यह रहस्य बताया है।

१६—जाव च ण मियादेवी भगवया गोयमेण सङ्घि एयमट्टे संलब्द, तावं च ण मियापुत्तस्स दारगहस्स भस्वेत्ता जाया यावि होत्या। तए ण सा मियादेवी भगवं गोयमं एवं वयासी—‘तुम्हे ण भंते। इहं चेव चिट्ठुहु जा। ण अहं तुवभं मियापुत्रं दारगं उवदसेमि ति कट्टु जेणेव भत्त-पाणघरे तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छित्ता वस्थपरियद्युयं करेह, करेत्ता कट्टुसगदियं गिष्ठुइ, गिष्ठुत्ता दिडलस्स ग्रसण-पाण-खाइम-साइमस्स भरेह, भरित्ता सं कट्टुसगदियं अणुकट्टुसाणी अणुकट्टुसाणी जेणेव अगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—“एहं ण तुम्हे भंते। अम अणुगच्छह, जा ण अहं तुवभं मियापुत्रं दारगं उवदसेमि !” तए ण से भगवं गोयमे मियादेवि पिट्ठुश्चो समणुगच्छइ।

१६—जिस समय मृगादेवी भगवान् गौतमस्वामी के साथ संलाप-संभाषण-वार्तालाप कर रही थी उसी समय मृगापुत्र दारक के भोजन का समय हो गया। तब मृगादेवी ने भगवान् गौतम स्वामी से निवेदन किया—‘भगवन् ! आप यहीं ठहरिये, मैं अभी मृगापुत्र बालक को दिखलाती हूँ।’ इतना

कहकर वह जहाँ भोजनालय था, वहाँ आती है और आकर वस्त्र-परिवर्तन कर काष्ठ-शकट—लकड़ी की गाढ़ी को—पहुँच करती है और उसमें योग्य परिमाण में (विपुल मात्रा में) अशन, पान, खादिम व स्वादिम आहार भरती है। तदनन्तर उस काष्ठ-शकट को खींचती हुई जहाँ भगवान् गौतम स्वामी थे वहाँ आती है और भगवान् गौतम स्वामी से निवेदन करती है—‘प्रभो ! आप मेरे पीछे पश्चारें। मैं आपको मृगापुत्र दारक बताती हूँ। (यह सुनकर) गौतम स्वामी मृगादेवी के पीछे-पीछे चलने लगे।

१७—तए णं सा मियादेवी तं कट्टुसगडियं अणुकङ्कुमाणी [अणुकङ्कुमाणी जेणेव भूमिघरे लेणेव उवागच्छदः उवागच्छता चउप्पुडेण वत्थेण मुहं बंधेह । मुहं बंधमाणी भगवं गोयमं एवं वयासो—‘तुम्हे वि य णं भंते ! मुहपोत्तियाए मुहं बंधह ।’ तए णं से भगवं गोयमे मियादेवीए एवं वत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं बंधेह ।

१८—तत्पश्चात् वह मृगादेवी उस काष्ठ-शकट को खींचती-खींचती जहाँ भूमिगृह (भोरा) था वही पर आती है और आकर चार पड़ वाले वस्त्र से मुह को बांधकर भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार निवेदन करने लगी—‘हे भगवन् ! आप भी मुख-वस्त्रका से मुह को बांध ले ।’ मृगादेवी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भगवान् गौतमस्वामी ने भी मुख-वस्त्रका से मुख को बांध लिया।

१९—तए णं सा मियादेवी परमुही भूमिघरस्स दुवारं विहाडेह । तए णं गंघे निगच्छदः-से जहानामए अहिमडे इ वा जाव [गोभषे इ वा सुणहमडे इ वा भज्जारमडे इ वा मणुस्समडे इ वा भहिसमडे इ वा मूसगमडे इ वा आसमषे इ वा हृतिथमडे इ वा सीहमडे इ वा दग्धमडे इ वा विगमडे इ वा दोविगमडे इ वा सयकुहिय-विणटु-दुरभिवादण-दुविभगंधे किमिजालाउलसंसत्ते असुइ-विलीण-विगय-खीभच्छदरिसणिजे भवेयारुवे सिथा ?

तो इणटुे समटुे, एतो अणिटुतराए चेव अकंततराए चेव अप्पियतराए चेव अमणुष्णतराए चेव अमणामतराए चेव] यथे पन्नते ! तए णं से मियापुत्ते दारए तस्स विडलस्स असण-पाण-खाइम-साइमस्स गन्धेण अमिभूए समाणे तंसि विडलस्सि असण-पाण-खाइम-साइमस्सि मुच्छए तं विडल असण-पाण खाइम-साइम आसएण आहारेह, आहारिसा खिप्पामेव विडंसेह, तओ पच्छा प्रयत्ताए य सोणियत्ताए य परिणामेह; तं पि य णं से पूर्यं च सोणियं च आहारेह ।

२०—तत्पश्चात् मृगादेवी ने पराड़-मुख होकर (पीछे को मुख करके) जब उस भूमिगृह के दरवाजे को खोला तब उसमें से दुर्गन्ध निकलने लगी। वह गंध मरे हुए सर्प यावत् (गाय, कुत्ता, बिली, मनुष्य, महिला, मूषिक, अश्व, हाथी, शिह, व्याघ्र, भेड़िया, ढोपिक आदि का कलेवर सड़ गया हो, गल गया हो, दुर्गन्धित हो, जिसमें कीड़ों का समूह बिलबिला रहा हो, जो अमुचि, विकृत और देखने में भी बीभत्स हो, वह दुर्गन्ध ऐसी थी ? नहीं, वह दुर्गन्ध) उससे भी अधिक अनिष्ट (अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ज एवं अमनाम) थी !

१. अशन—रोटी, दास, खाली, आत आदि सामग्री अशन शब्द से अभिप्रेत है।

२. पानी मात्र का अहण पान शब्द से किया गया है।

३. द्राघ, पिस्ता, वाद्यम आदि ऐवे व मिठाई आदि पदार्थ छाव हैं।

४. पान, सुपारी, हलायची, लवंग आदि मुखवास योग्य पदार्थ स्वादिम शब्द से इष्ट हैं।

तदनन्तर उस महान् शशन, पान, खादिम, स्वादिम के सुगत्य से आङ्गष्ट व मूँच्छित हुए उस हो गया (जठराग्नि द्वारा पचा दिया गया) वह आहार तत्काल पीव (मवाद) व रुधिर के रूप में परिवर्तित हो गया। मृगापुत्र दारक ने पीव व रुधिर रूप में परिवर्तित उस आहार का वमन कर दिया। वह बालक अपने ही द्वारा वमन किये हुए उस पीव व रुधिर को भी खा गया।

मृगापुत्र-विषयक-प्रश्न

१९—तए णं भगवत्तो गोयमस्स तं मियापुसं वारणं पासित्ता अयमेशारुषे अज्ञातिथए चितिए कपिए पत्तिए मणोगए संकर्ष्ये समुप्पज्जित्या—‘अहो णं इमे दारए पुरापोराणाणं दुच्छिष्णाणं दुप्पज्जिकंताणं असुभाणं पावाणं कडाणं कम्माणं पावणं फलवित्तिविसेसं पच्चणुमवमाणे विहरइ। न मे दिट्टा नरगा वा नेरह्या वा। पच्चवक्षं खलु अयं पुरिसे नरगप्पिरुवयं वेयणं वेयइ।’ त्ति कट्टु मित्रं देवि आपुच्छइ, आपूच्छित्ता मिथाए देवोए गिहाक्षो पिणिवखमह, पिणिणिवखमित्ता मियमामं नयरं मज्जां-मज्जेणं निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे लेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावोरं तिक्खुतो आयाहिणपया।हिणं करेइ, करेत्ता वंवह, समंसइ, वंदित्ता-नमंतित्ता एवं वयसो—‘एवं खलु अहं तुम्हेहि अहमणुण्णाए समाणे मियमामं नयरं मज्जां-मज्जेण अणुपविसित्ता जेणेव मिथाए देवोए गिहे तेणेव उवागए। तए णं से मियादेवी भम एजमाणं पासइ, पासित्ता हट्टा, तं चेव सब्बं जाव पूयं च सोणियं च आहारेइ। तए णं इमे श्रुत्तिथए चितिए कपिए पहिथए मणोगए संकर्ष्ये समुप्पज्जित्या—अहो णं इमे वारए पुरा जाव विहरइ।

से णं भते। पुरिसे पुरुषस्वे के आसो? किनामए वा किमोत्तए वा? क्यरंसि शामंसि वा नमरंसि वा? कि वा दृच्चा कि वा भोच्चा कि वा समाधरित्ता केसि वा पुरा जाव विहरइ?

२०—मृगापुत्र दारक को ऐसी (वीभत्स तथा करुणाजनक) दशा को देखकर भगवान् गौतम स्वामी के मन में ये विकल्प उत्पन्न हुए—अहो! यह बालक पूर्वजन्मों के दुष्चीर्ण (दुष्टता से किए गए) व दुष्प्रतिकान्त (जिन कर्मों को विनष्ट करने का कोई सुगम उपाय ही नहीं है) अशुभ पापकर्मों के पापरूप फल को पा रहा है। नरक व नारकी तो मैंने तहीं देखे, परन्तु यह मृगापुत्र सचमुच होते हुए भगवान् गौतम ने मृगादेवी से पूछ कर कि अब मैं जा रहा हूं, उसके घर से प्रस्थान किया। मृगाग्राम नगर के मध्यभाग से चलकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे; वहाँ पधार गये। पथारकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करके बन्दन तथा नमस्कार किया और बन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—

भगवन्! श्रापथो से आज्ञा प्राप्त करके मृगाग्राम नगर के मध्यभाग से चलता हुआ जहाँ मृगादेवी का घर या वहाँ मैं पहुचा। मुझे आते हुए देखकर मृगादेवी हृष्ट तुष्ट हुई यावत् पीव व शोणित-रक्त का आहार करते हुए मृगापुत्र को देखकर मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—अहह! यह बालक पूर्वजन्मोपाजित महापापकर्मों का फल भोगता हुआ वीभत्स जीवन विता रहा है। भगवन्! यह पुरुष मृगापुत्र पूर्वभव में कौन था? किस नाम व गोत्र का था? किस श्राम शृथवा नगर का रहने वाला था? क्या देकर, क्या भोगकर, किन-किन कर्मों का आचरण कर और किन-किन पुराने कर्मों के फल को भोगता हुआ जीवन विता रहा है?

भगवान् रामा विजयवर्द्धमाण

२०—‘गोयमा !’ इसमणे भगवं भगवीरे भगवं गोयमे एवं वयासी—खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इह जम्बूद्वीपे दीये भारहे वासे सयदुवारे नामं नयरे होत्या रिद्धत्यमिय । वर्णग्रो । तत्य णं सयदुवारे नयरे वर्णवर्द्ध नामं राया होत्या । वर्णओ । तस्स णं सयदुवारस्स नयरस्स अद्वरसामन्ते वाहिणपुरत्थमे विलीभाए विजयवद्धमाणे नामं खेडे होत्या । रिद्धत्यमियसमिहु । तस्स णं विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंचमायसयाहं आभोए यादि होत्या । तत्य णं विजयवद्धमाणे खेडे इक्काई नामं रट्कूडे होत्या, अहम्मिए जाव (अधम्माणुए अधम्मिट्ठे अधम्मकषाई अधम्मपलज्जणे अधम्मसमुवाचारे) दुप्पडियाणवे । से णं इक्काई रट्कूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पञ्चवण्हं गामसयाणं आहेवच्चं जाव पालेमाणे विहरइ ।

२०—‘हे गोतम !’ इस तरह सम्बोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने भगवान् गोतम के प्रति इस प्रकार कहा—‘हे गोतम ! उस काल तथा उस समय में इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में शतद्वार नामक एक समृद्धिशाली नगर था । उस नगर में धनपति नाम का एक राजा राज्य करता था । उस नगर से कुछ दूरी पर (न अधिक दूर और अधिक समीप) दक्षिण और पूर्व-दिशा के मध्य—अग्निकोण में विजयवद्धमान नामक एक खेट—(नदी व पर्वतों से घिरा हुआ अथवा धूलि के प्राकार से बेलित) नगर था जो ऋद्धि-समृद्धि आदि से परिपूर्ण था । उस विजयवद्धमान खेट का पांच सौ ग्रामों का विस्तार था । उस व जयवद्धमान खेट में इक्काई-एकादि नाम का राष्ट्रकूट—राजा की ओर से नियुक्त प्रतिनिधि—प्रान्ताधिपति था, जो परम अधार्मिक यावत् (अधर्मानुगामी, अधर्मनिष्ठ, अधर्मभाषी, अधर्मनिरागी, अधर्मचारी) तथा दुष्प्रत्यानन्दी—परम असत्तोषी, (साधुजनविद्वेषी अथवा पापकृत्यों में ही सदा आनन्द मानने वाला) था । वह एकादि विजयवद्धमान खेट के पांच सौ ग्रामों का आधिपत्य—शासन और पालन करता हुआ जीवन बिता रहा था ।

इक्काई का अत्याचार

२१—तए णं से इक्काई विजयवद्धमाणस्स खेडस्स पंच गामसयाहं बहूहिं करेहि य भरेहि य विद्वीहि य उक्कोडाहि य पराभवेहि य विजजेहि य भिजजेहि य कुतेहि :य लंघपोसेहि य आसीदणेहि य पंथकोट्टेहि य ओर्वीलेमाणे ओर्कोलेमाणे विहम्मेमाणे विहम्मेमाणे तज्जेमाणे तालेमाणे तालेमाणे निद्वणे करेमाणे करेमाणे विहरइ ।

तए णं से इक्काई रट्कूडे विजयवद्धमाणस्स खेडस्स बहूणं राई-सर-तलधर-माईविय-कोडु विय-सेट्टि-सत्यवाहाणं अन्नेसि च बहूणं गामेल्लगपुरिसाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य मंसेसु य गुज्जेसु य निच्छेसु य ववहारेसु य सुणमाणे भणइ न ‘सुणेमि’, असुणमाणे भणइ ‘सुणेमि’ एवं पस्समाणे, मासमाणे, गिणहमाणे जाणेमाणे । तए णं से इक्काई रट्कूडे एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं कलिकलुसं समज्जिजमाणे विहरइ ।

२१—तदनन्तर वह एकादि नाम का प्रतिनिधि (प्रान्ताधिपति) विजयवद्धमान खेट के पांच सौ ग्रामों को करों-महसूलों से, करों की प्रचुरता से, किसानों को दिये धान्यादि के द्विगुण आदि के

प्रहण करने से, रिषबत-धूमखोरी से, दमन से, अधिक व्याज से, हत्यादि के अपराध लगा देने से, धन-प्रहण के निमित्त किसी को स्थान आदि का प्रदान्धक बना देने से, चोर आदि व्यक्तियों के पोषण से, ग्रामादि को जलाने से, पथिकों को मार पीट करने से, व्यथित-पीड़ित करता हुआ, धर्म से विमुच्य करता हुआ, कशादि से ताड़ित और संधनों को निर्धन करता हुआ प्रजा पर अधिकार जमा रहा था।

तदनन्तर वह राजप्रतिनिधि एकादि विजयवद्धमान खेट के राजा-भांडलिक, ईश्वर-युवराज तलवर-राजा के प्रिय कृपापात्र अथवा राजा की ओर से जिन्हें उच्च सन्मान, पदबी, आसन-स्थान-विशेष प्राप्त हुआ हो ऐसे नागरिक लोग, माडंबिक (मडंब—जिसके निकट दो-दो योजन तक कोई ग्राम न हो उस प्रदेश को मडंब कहते हैं, उसके अधिपति) कोटुम्बिक—बड़े कुटुम्बों के स्वामी, श्रेष्ठी, सार्थनायक तथा अन्य अनेक ग्रामीण पुरुषों के कार्यों में, कारणों में, गुप्त मन्त्रणाश्रों में, निश्चयों और विदादास्पद निर्णयों अथवा व्यावहारिक बातों में सुनता हुआ भी कहता था कि “मैंने नहीं सुना” और नहीं सुनता हुआ कहता था कि “मैंने सुना है।” इसी प्रकार देखता हुआ, बोलता हुआ, अहण करता हुआ और जानता हुआ भी वह कहता था कि मैंने देखा नहीं, बोला नहीं, अहण किया नहीं और जाना नहीं। इसी प्रकार के वंचना-प्रधान कर्म करने वाला मायाचारों को ही प्रधान कर्तव्य मानने वाला, प्रजा को पीड़ित करने रूप विज्ञान वाला और मनमानी करने को ही सदाचरण मानने वाला, वह एकादि प्रान्ताधिपति द्वुःख के कारणीभूत परम कलुषित पापकर्मों को उपाजित करता हुआ जीवन-यापन कर रहा था।

इष्काई को भयकर रोग

२२—तए णं तस्स रद्गुडस्स अश्या क्याइ सरीरगंसि जगगसमगमेव सोलस रोगायंका पाउब्युया। तं जहा—

सासे कासे जरे वाहे कुच्छिसूले भगंदरे।
अरिसे अजीरए विद्वौ, मुद्दसूले अकारए॥
अच्छिवेयणा कण्ण-देयणा कंडू उथरे कोडे॥

तए णं से इष्काई रद्गुड्डे सोलसहि रोगायंकेहि अभिभूए समाणे कोडुम्बियपुरिसे सद्वावेहि, सद्वाविस्ता एवं वयासी—“शच्छह णं तुझमे देवाणुपिया! विजयवद्धमाणे लेडे सिघाडग-तिग-चउषक-चच्चर-महापह-पहेसु महया महया सहेण उर्घोसेमाणा उर्घोसेमाणा एवं वयह—इह खलु देवाणुपिया! इष्काई रद्गुडस्स सरीरगंसि सोलस रोगायंका पाउब्युया, तं जहा—सासे कासे जरे जाव कोडे। तं जो णं इच्छह देवाणुपिया! क्षेज्जो वा वेज्जपुस्तो वा जाणश्रो वा जाणयपुस्तो वा तेगिच्छी वा तेगिच्छपुस्तो था इष्काई रद्गुड्डे तेसि सोलसण्हे रोगायंकाणं एशदवि रोगायंकं उवसामित्तए तस्स णं इष्काई रद्गुड्डे वित्तलं अस्थसंपयाणं दलयहि। दोच्चं पि तच्चं पि उर्घोसेह, उर्घोसित्ता एयमाणत्तियं पच्चपिणहि।”

तए णं ते कोडुवियपुरिसा जाव पच्चपिणति।

२२—उसके बाद किसी समय उसके शरीर में एक साथ ही सोलह प्रकार के रोगातंक (जीवन के लिये अत्यन्त कष्टकर अथवा लगभग असाध्य रोग) उत्पन्न हो गये। जैसे कि—स्वास,

कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भयन्दर, अशं, बवासीर, अजीण, दृष्टिशूल, मस्तक-शूल, अरोक, अक्षिवेदना, कर्णवेदना, खुजली, जलोदर, और कुष्टरोग—कोङ् ।

तदनन्तर उक्त सोलह प्रकार के अयंकर रोगों से खेद को प्राप्त वह एकादि नामक प्रान्ताधिपति सेवकों को बुलाता है और बुलाकर इस प्रकार कहता है— “देवानुप्रियो ! तुम जाओ और विजयबद्धमान खेट शूगाटक (त्रिकोणभाग) चिक-त्रिपथ (जहाँ तीन मार्ग मिलते हैं) चतुष्क-चतुष्पथ (जहाँ चार मार्ग एकत्रित होते हैं) चत्वर (जहाँ चार से अधिक मार्गों का संगम होता हो) महापथ—राजमार्ग और साधारण मार्ग पर जाकर अत्यन्त लंबे स्वरों से इस तरह घोषणा करो— ‘हे देवानुप्रियो ! एकादि प्रान्तपति के शरीर में श्वास, कास, ज्वर यावत् कोङ् नामक १६ भयञ्कर रोगातंक उत्पन्न हुए हैं । यदि कोई बैद्य या वैद्यपुत्र, जायक या जायक-पुत्र, चिकित्सक या चिकित्सक-पुत्र उन सोलह रोगातंकों में से किसी एक भी रोगातंक को उपशान्त करे तो एकादि राष्ट्रकूट उसको बहुत सा धन प्रदान करेगा !’ इस प्रकार दो तीन बार उद्घोषणा करके मेरी उस आज्ञा के यथार्थ पालन की मुफ्के सूचना दो ।”

उन कीटुमिक पुरुषों-सेवकों ने आदेशानुसार कार्य सम्पन्न करके उसे सूचना दी ।

२३—तए ण से विजयबद्धमाणे खेडे इमं एथारुवं उग्घोषणं सोच्चा निसम्म वहवे वेज्जा य जाव॑ सस्थकोसहृत्यगया सएऽहिंसो सएऽहिंतो गिहेहितो पडिनिकखमन्ति, पडिनिकखमित्ता विजयबद्धमाणस्स खेडस्स मज्जसं मज्जेणं जेणेव इक्काइ रटुकूडस्स गिहे तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता इक्काइ-रटुकूडस्स सरीरं परामुसंति, परामुसित्ता तेसि रोगाणं निदाणं पुछर्त्ति, पुच्छर्त्ता, इक्काइरटु-कूडस्स वहाँहि अवभंगेहि य उव्वट्टणेहि य सिणेहुपाणेहि य वभणेहि य विरेयणेहि य सेयणाहि य अवद्वहणाहि य अवपहाणेहि य अणुवासणाहि य अविकम्भेहि य निरुहेहि य मिराकेहेहि य तच्छणेहि य पच्छणेहि य सिरोवत्योहि य लत्पणाहि य पुडपागेहि य छल्लोहि य पूलेहि य कलेहि य बीएहि य सोलियाहि य गुलियाहि य ओसहेहि य भूसज्जेहि य इच्छर्त्ति तेसि सोलसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए, नो चेव णं संचार्णति उवसामित्तए । तए णं ते वहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणया य जाणयपुत्ता य तेगिच्छयाहि य तेगिच्छयपुत्ता य जाहै नो संचार्णति तेसि सालसण्हं रोगायंकाणं एगमवि रोगायंकं उवसामित्तए, ताहे संता तंता परितंता जामेव विसि पाउबधूया तामेव विसि पडिगया ।

२४—तदनन्तर उस विजयबद्धमान खेट में इस प्रकार की उद्घोषणा को सुनकर तथा अवधारण करके अनेक बैद्य, वैद्यपुत्र, जायक, जायकपुत्र, चिकित्सक, चिकित्सकपुत्र अपने शस्त्रकोष (श्रीजार रखने की पेटी या थंडी) को हाथ में लेकर अपने धरों से निकलते हैं और निकलकर विजयबद्धमान नामक खेट के मध्यभाग से जाते हुए जहाँ एकादि प्रान्ताधिपति का घर था, वहाँ पर आते हैं । आकर एकादि राष्ट्रकूट के शरीर का संस्पर्श करते हैं, संस्पर्श करके निदान (रोगों के मूल कारण) की पृच्छा करते हैं और पूछकर के एकादि राष्ट्रकूट के इन सोलह रोगातंकों में से किसी एक रोगातंक को शान्त करने के लिये अनेक प्रकार के अभ्यंगन (मालिश), उद्वर्तन (उवटन-बरणा बगौरह मलने) स्तेहपान (घृतादि स्निग्ध पदार्थों के पान कराने), वभन (उलटी कराने), विरेचन (जुलाब अथवा अधोद्वार से मल को निकालने, स्वेदन (पसीने), अवदन (गर्म लोहे के कोश आदि से चर्म पर दागने),

अवस्तान (चिकनाहृट दूर करने के लिए अनेक विधि द्रव्यों से संस्कारित जल से स्नान कराने), ग्रनुवासन (गुदा द्वारा पेट में तैलादि के प्रवेश कराने), निरुह (ओषधियों को ढालकर पकाये गए तैल के प्रयोग—विरेचन विशेष), वस्तिकर्म (गुदा में बत्ती आदि के प्रक्षेप करने), शिरोवेध (नाड़ी के वेधन करने), तक्षण (क्षुरा, चाकू आदि सामान्य शस्त्रों द्वारा कर्तन-काटना), प्रतक्षण (विशेष रूप से कर्तन—बारीक शस्त्रों से त्वचा विदारण करने) शिरोवस्ति (सिर में चर्म कोश बांधकर उसमें ओषधि-द्रव्य-संस्कृत तैलादि को पूर्ण कराने-भराने) तर्पण (स्नानघ पदाथों से शरीर को दृहण—तृप्त करने) पुटपाक—(अमुक रस का पुट देकर पकाई हुई ओषधि) छल्ली (छाल) मूलकन्द (मूली, गाजर, आलू आदि जमीकन्द) शिलिका (चिरायता आदि ओषधि) गुटिका—अनेक द्रव्यों को महीन पीसकर ओषधि के रस की भावना आदि से बनाई गई गोलियें ओषधि (एक द्रव्यनिमित दवा) और भेषज्य (अनेक द्रव्य-संयोजित दवा) आदि के प्रयोग से प्रयत्न करते हैं अर्थात्—इन पूर्वोक्त साधनों का रोगोपशान्ति के लिए उपयोग करते हैं परन्तु उपर्युक्त अनेक प्रकार के प्रयोगात्मक उपचारों से वे इन सोलह रोगों में से किसी एक रोग को भी उपशान्त करने में समर्थ न हो सके ! जब उन वैद्यपुत्रादि शान्त (शारीरिक खेद) नात्त (मानसिक खेद) तथा परितान्त (शारीरिक व मानसिक खेद) से लेदित हुए जिवर से आये थे उधर ही चल दिए ।

इक्काई की मृत्यु : मृगापुत्र का वर्तमान भव

२४—तए णं इक्काई रहुकूडे वेजज-पद्मियाइश्छिए परियारणपरिच्छते निविष्णोसहभेसज्जे सोलहरोगायकेहि अभिभूए समाणे रज्जे य रट्ठे य जाव (कोसे य कोट्टायारे य बले य बाहणे य पुरे य) अन्तरे य मुच्छिए रज्जे च रट्ठे च आसाएमाणे पत्थेमाणे पीहमाणे अमिलसमाणे अद्वद्वहृष्टसट्टे अद्वाइजाई वाससयाईं परमाउथं पालइत्ता कालमासे कालं किञ्चित्ता इमीसे रथणप्पभाए पुढ़वीए उष्को-सेणं सागरोवमद्विइएसु नेरद्वएसु नेरइयत्ताए उवबन्ने । से णं तग्गो अणंतरं उच्चद्वित्ता इहेव मियमामे नयरे विजयस्स खत्तियस्स मियाए वेवोए कुच्छिसि पुतत्ताए उवबन्ने ।

२५—इस प्रकार वैद्यों के द्वारा प्रत्यारूपात होकर (अर्थात् इन रोगों का प्रतीकार और उपचार हमसे सम्भव नहीं है, इस तरह कहे जाने पर) सेवकों द्वारा परित्यक्त होकर ओषधि और भेषज्य से निविष्ण (उदासीन) विरक्त-उपरत, सोलह रोगातंकों से परेशान, राज्य, राष्ट्र-देश, यावत् (कोष, भंडार, बल, बाहन, पुर तथा) अन्तःपुर-रणवास में मूच्छित-आसक्त एवं राज्य व राष्ट्र का आस्वादन प्रार्थना स्पृहा-इच्छा और अभिलाषा करता हुआ वह एकादि प्रान्तपति आतं—मनोव्यथा से अविहित, दुखातं—शारीरिक पीड़ा से पीड़ित और वशातं—इन्द्रियाधीन होने से परतन्त्र—स्वाधीनता रहित जीवन व्यतीत करके २५० वर्ष की सम्पूर्ण आयु को भोगकर यथासमय काल करके इस रत्नप्रभा पृथिवी—प्रथम नरक में उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वाले नारकों में नारकरूप से उत्पन्न हुआ । तदनन्तर वह एकादि का जीव भवस्थिति संपूर्ण होने पर नरक से निकलते ही इस मृगाम नगर में विजय क्षणिय की मृगादेवी नाम की रानी की कुञ्जि में पुरुषरूप में उत्पन्न हुआ ।

२६—तए णं सीसे मियादेवीए सरीरे वेयणा पाउड्युया, उज्जला जाव कुरहियासा । ज्येष्ठभिइं च णं मियापुत्ते दारए मियाए वेवोए कुच्छिसि गज्मत्ताए उवबन्ने, तप्पभिइं च णं मियादेवी विजयस्स खत्तियस्स अणिट्टा अकंता अणिया अमणुज्ञा अमणामा जाया यावि होत्पर ।

२५—मृगादेवी के उदर में उत्पन्न होने पर मृगादेवी के शरीर में उज्ज्वल यावत् ज्वलन्त—उत्कट व जाज्वल्यमान बेदना उत्पन्न हुई—तीव्रतर बेदना का प्रादुर्भाव हुआ। जिस दिन से मृगापुत्र बालक मृगादेवी के उदर में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ, तबसे लेकर वह मृगादेवी विजय नामक क्षत्रिय को अनिष्ट, अमनोहर, अप्रिय, अमनोज्ञ-असुन्दर—मन को न भाने दाली—मन से उत्तरी हुई, अप्रिय हो गयी।

२६—तए णं तोसे ग्रियाए देवीए अन्नया कयाइ पुष्ट्वरत्तावरत्तफालसमर्थसि कुहु बजागरियाए जागरमाणीए इसे प्रयालुदे अज्ञस्तिथए जाव॑ समुप्पजिज्ञत्था—“एवं खलु अहं विजयस्स खत्तियस्स पुष्ट्व इट्टा कंता पिया भणुणा मणामा धंडा विसासिया अणुभया आसो। जप्पामइं च णं मम इसे गल्मे कुच्छिसि गवमत्ताए उवशन्ने, तप्पमिइं च णं अहं विजयस्स खत्तियस्स अणिट्टा जाव अमणामा जाया यावि होत्था। नेच्छाइ णं विजए खत्तिए मम नामं च गोयं वा गिष्ठित्तए वा, किमंगपुण वंसणं वा परिभोगं वा। तं सेयं खलु ममं एयं गर्भं बहूहि गवमसाडणाहि य पाडणाहि य गालणाहि य नारणाहि य साडित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा भारित्तए वा एवं संयेहेइ, संयेहित्ता बहूणि खाराणि य कड़वाणि य तथूराणि य चवमसाडणाणि य खायमाणी य पीयमाणो य इच्छाइ तं गवमं साडित्तए-४ नो खेवं णं से गल्मे सडइ वा-४। तए णं सा मियादेवी जाहे तो संखाएइ तं गवमं साडिलाए वा-४ ताहे संता तंता परिवंता अकामिया असर्ववसा तं गवमं दुहं-दुहेणं परिवहृह।

२६—तदनन्तर किसी काल में महायरात्रि के समय कुटुम्बचिन्ता से जागती हुई उस मृगादेवी के हृदय में यह अध्यवसाय-विचार उत्पन्न हुआ कि मैं पहले तो विजय क्षत्रिय को इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और अत्यन्त मनगमती, ध्येय, चिन्तनीय, विश्वसनीय व सम्भाननीय थी परन्तु जबसे मेरी कुश्चि में यह गर्भस्थ जीव गर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ तबसे विजय क्षत्रिय को मैं अप्रिय यावत् मन से अग्राह्य हो गई हूँ। इस समय विजय क्षत्रिय मेरे नाम तथा गोत्र को ग्रहण करना—अरे स्मरण करना भी नहीं चाहते! तो फिर दर्शन व परिभोग-भोगविलास की तो बात ही क्या है? श्रातः मेरे लिये यही श्रेयस्कर है कि मैं इस गर्भ को अनेक प्रकार की शातना (गर्भ को खण्ड-खण्ड कर गिरा देने वाले प्रयोग) पातना (अखण्ड रूप से गर्भ को गिराने रूप क्रियाओं से) गालना (गर्भ को द्विभीभूत करके गिराने रूप उपायों से) व मारणा (मारने वाले प्रयोग) से नष्ट कर दूँ। इस प्रकार वह शातना, पातना, गालना और मारणा के लिये विचार करती है और विचार करके गर्भपात के लिये गर्भ को गिरा देने वाली खारयुक्त (खारी), कड़वी, कसेली, श्रीष्ठिधियों का भक्षण तथा पान करती हुई उस गर्भ के शातन, पातन, गालन व मारण करने की इच्छा करती है। परन्तु वह गर्भ उपर्युक्त सभी उपायों से भी शातन, पातन, गालन व मारण रूप नाश को प्राप्त नहीं हुआ। तब वह मृगादेवी शरीर से शान्त, मन से दुःखित तथा शरीर और मन से खिंच होती हुई इच्छा न रहते हुए भी विवशता के कारण अत्यन्त दुःख के साथ गर्भ वहन करने लंगी।

२७—तस्स णं दारगत्स गवमगवरस सेव अहु नालीओ अविमतरप्पवहाओ, अहु नालीओ बाहिरप्पवहाओ, अहु पूयप्पवहाओ, अहु सोणियप्पवहाओ, दुवे-दुवे कण्णसदेसु, दुवे दुवे अविष्ट-अंतरेसु,

बुवे बुवे नकंतरेसु, दुवे बुवे धमणि-अंतरेसु असिवखणं अभिकखणं पूयं च सोणियं च परिस्तवभाणीओ परिस्तवभाणीओ चेव विद्वृत्ति ।

तस्य एं दारगस्स गवमगयस्स चेव अगिगए नामं वाही पउब्सूए । जेण से दारग आहारेह, सेण खिप्पामेश विद्वंसमागच्छइ, पूयताएं सोणियता य परिणमह । तं पिय से पूयं च सोणियं च आहारेह ।

२७—गर्भगत उस बालक की श्राठ नाड़ियाँ अन्दर की ओर बह रही थी और श्राठ नाड़ियाँ बाहर की ओर बह रही थी । उनमें प्रथम श्राठ नाड़ियों से सधिर बह रहा था । इन सोलह नाड़ियों में से दो नाड़ियाँ कर्ण-विवरों—छिंद्रों में, दो-दो नाड़ियाँ नेत्रविवरों में, दो-दो नासिकाविवरों में तथा दो-दो धमनियों (हृदयकोष्ठ के भीतर की नाड़ियों) में वार-वार पीव व लोहू बहा रही थी । गर्भ में ही उस बालक को भस्मक नामक व्याघ्र उत्पन्न हो गयी थी, जिसके कारण वह बालक जो कुछ खाता, वह शीघ्र ही भस्म हो जाता था, तथा बहुतत्काल पीव व शोणित के रूप में परिणत हो जाता था । तदनन्तर वह बालक उस पीव व शोणित को भी खा जाता था ।

२८—तए णं सा मियादेवी अग्रया कथाइ नवण्हं मासाणं बहुपुण्णाणं दारगं पयाया जाइ-अन्धे जाव [जाइमूए जाइबहिरे, जाइपंगुले हुंडे य वायष्वे । णत्थ णं तस्य दारगस्स हृत्या वा पाया वा कण्णा वा अच्छी वा नासा वा । केवल से तेसि अंगाणं] [आगिहमेत्ते । तए णं सा मियादेवी तं दारगं हुंडं अधरूवं पासइ, पासिता भोया तत्या उविभगा संजातमया अम्मधाइं सहावेह, सहावेत्ता एवं वयासी—‘गच्छह णं देवाणुपिया ! तुयं एयं दारगं एगते उक्कुरुडियाए उज्ज्ञाहि ।’

तए णं मा अम्मधाई मियादेवीए ‘तह’ ति एयमट्ठं पडिसुणोइ, पडिसुणिता जेणेव विजए खत्तिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता करयलपरिभाहियं जाव (सिरसावत्तं मत्थए अंजलि कट्टु) एवं वयासी—‘एवं खलु सामी ? मियादेवी नवण्हं मासाणं जाव आगिहमेत्ते ! तए णं सा मियादेवी तं हुंडं अधरूवं पासइ, पासिता भोया तत्या उविभगा संजातमया ममं सहावेह, सहावेत्ता एवं वयासी—‘गच्छह णं तुम्हे देवाणुपिया ! एयं दारगं एगते उक्कुरुडियाए उज्ज्ञाहि ।’ तं संदिसहू णं सामी ! तं दारगं अहं एगते उज्ज्ञामि उवाहु मा !”

२९—तत्पश्चात् नी मास परित्युर्ण होने के अनन्तर मृगादेवी ने एक बालक को जन्म दिया जो जन्म से अन्धा और अवयवों की श्राकृति मात्र रखने वाला था । तदनन्तर विकृत, बेहूदे अंगोपांग वाले तथा अन्धरूप उस बालक को मृगादेवी ने देखा और देखकर भय, आस, उद्विनता और व्याकुलता को प्राप्त हुई । (भयातिरेक से उसका शरीर कपिने लगा) उसने तत्काल धायमाता को खुलाया और खुलाकर इस प्रकार कहा—‘हे देवानुप्रिये ! तुम जाओ और इस बालक को ले जाकर एकान्त में किसी कूड़े-कचरे के ढेर (रोडी) पर फेंक आओ । तदनन्तर उस धायमाता ने मृगादेवी के इस कथन को ‘बहुत अच्छा’ इस प्रकार कहकर स्वीकार किया और स्वीकार करके वह जहाँ विजय नरेश थे वहाँ पर आयी और दोनों हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगी—‘हे स्वामिन् ! पूरे नव मास हो जाने पर मृगादेवी ने एक जन्मान्ध यादत् अवयवों की श्राकृति मात्र रखने वाले बालक को जन्म दिया है । उस हुण्ड बेहूदे अवयववाले, विकृतांग, व जन्मान्ध बालक को देखकर मृगादेवी भयभीत हुई और मुझे खुलाया । खुलाकर इस प्रकार कहा—‘हे देवानुप्रिये ! तुम जाओ और इस बालक को ले जाकर

एकान्त में किसी कूड़े-कचरे के ढेर पर फैक आओ । अतः हे स्वामिन् ! माप ही मुझे बतलाएं कि मैं उसे एकान्त में ले जाकर फैक आऊं या नहीं ?

२९—तए ण से विजाए खस्तिए तोसे अस्मद्धाईए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म तहेव संभर्ते उद्गाए उट्ठेद्व उट्ठेसा जेणेव भियादेवी तेजेव उवागच्छइ, उवागच्छता भियादेवि एवं व्यासी— देवाणुत्पिया ! तुझ्मं पद्धं गब्मे । तं जष्ट णं तुझ्मे एयं एग्ते उक्कुरडियाए उज्जसि, तओ णं तुझ्मं पया तो थिरा भविस्सह । तो णं तुमं एयं दारगं रहस्सियंसि भूमिधर्तसि रहस्सेणं भत्तपाणेण पडिजागरमाणी विहुराहि; तो णं तुझ्मं पया थिरा भविस्सह ।” तए णं सा भियादेवी विजयस्स खत्तियस्स ‘तह’ सि एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेता तं दारगं रहस्सियंसि भूमिधर्तसि रहस्सेणं भत्तपाणेण पडिजागरमाणी विहुरइ ।

२९—उसके बाद वह विजय नरेश उस धायमाता के पास से यह सारा वक्तान्त सुनकर समझात न्याकुल—मे होकर लैमे दी लैठे थे (सत्त्वर) उठकर खड़े हो गये । खड़े होकर जहाँ रानी मृगादेवी थी, वहाँ आये और मृगादेवी से इस प्रकार कहने लगे—हे देवानुप्रिये ! तुम्हारा यह प्रथम गर्भ है, यदि तुम इसको’ (एकान्त स्थान में) कूड़े-कचरे के ढेर पर फिकवा दोगी तो तुम्हारी भावी प्रजा-सम्नान स्थिर न रहेगी अर्थात् उसे हानि पहुँचेगी । अतः (फैकने की अपेक्षा) तुम इस बालक को गुप्त भूमिगृह (भोरे) में रखकर गुप्त रूप से भत्तपानादि के द्वारा इसका पालन-पोषण करो । ऐसा करने से तुम्हारी भावी सन्तति स्थिर रहेगी । तदनन्तर वह मृगादेवी विजय क्षत्रिय के इस कथन को स्वीकृतिसूचक “तथेति” (बहुत अच्छा) ऐसा कहकर विनम्र भाव से स्वीकार करती है और स्वीकार करके उस बालक को गुप्त भूमिगृह में स्थापित कर गुप्तरूप से आहारपानादि के द्वारा पालन-पोषण करती हुई समय व्यतीत करने लगी ।

३०—एवं खलु गोयमा ! भियापुत्ते दारए पुरापोरादाणं जाव॑ पञ्चणुभवमाणे विहरइ !

३०—भगवान् महाबीर रवामी फरमाते हैं—हे गोतम ! यह मृगापुत्र दारक अपने पूर्वजन्मो-पाजित कर्मों का प्रत्यक्ष रूप से फलानुभव करता हुआ इस तरह सभय-यापन कर रहा है ।

मृगापुत्र का भविष्य

३१—भियापुत्ते णं भत्ते ! दारए इओ कालमासे कालं किञ्च्चा कहि गमिहिइ ? कहि उववज्जिजहिइ ?

३१—हे भगवन ! यह मृगापुत्र नामक दारक यहाँ से मरणावसर पर मृत्यु को पाकर कहाँ जायगा ? और कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

३२—गोयमा ! भियापुत्ते दारए छव्वीसं वासाइ परमाउयं पालहस्ता कालमासे कालं किञ्च्चा इहेव जम्बुद्वौवे हीवे भारहे वासे वेयद्वगिरिपायमूले सीहकुलंसि सीहसाए पञ्चायाहिइ । से णं तत्य सीहे भविस्सह अहमित्ते जाव बहुनगरणगम्यजसे सूरे दह्यपहारी साहसिए, सुबहुं पावकमं समज्जिजणइ, समज्जिजणिता, कालमासे कालं किञ्च्चा इमीसे रयणप्यभाए पुढ़वोए उद्दकोसं सागरोदमहु-हइसु जाव (नेरहएसु नेरहयत्ताए) उववज्जिजहिइ ।

से यं तओ अणंतरं उब्बटृत्ता सरीसेसु उब्बजिज्ञहि॒इ । तत्थ यं कालं किञ्च्चा शोच्चाए पुढ़वीए उक्कोसियाए तिणि सागरोषमट्टिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उब्बजिज्ञहि॒इ ।

से यं तओ अणंतरं उब्बटृत्ता पक्खोसु उब्बजिज्ञहि॒इ । तत्थ यि कालं किञ्च्चा, शोच्चाए पुढ़वीए लत सागरोषमट्टिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उब्बजिज्ञहि॒ति ।

से यं तओ सीहेसु । तयाणंतरं शोत्थीए । उरगो, पंचमीए । इस्योओ, छट्टीए । अणुओ, अहे सत्तमीए । तओ अणंतरं उब्बटृत्ता से जाहं इमाहं जलयरपर्चिवियतिरिक्षजोगिधाणं मच्छ-कच्छभ गाह-पगर-सुंसुमाराईं अद्वृतेरस-जाइकुल-कोडिजोगिपमुहसयसहस्राहं, तत्थ यं एगमेगंसि जोगिविहाणंसि अणेगसयसहस्रखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता, तत्थेव भुज्जो भुज्जो वच्चायाइस्सइ । से यं तओ अणंतरं उब्बटृत्ता चउप्पएसु एवं उरपरिसप्पेसु, भुयपरिसप्पेसु, खहयरेसु, चजरिरिएसु, तेइंदिएसु, वेइन्द्रिएसु, वणफहृए कदुयरुद्धिएसु, कदुयदुडिएसु, वाड-तेउ-गाउ-पुढ़वोसु अणेगसयसहस्रखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो मुज्जो वच्चायाइस्सइ ।

से यं तओ अणंतरं उब्बटृत्ता सुपहुपुरे नयरे गोणत्ताए पच्चायाहि॒इ । से यं तत्थ उम्मुक्क-बालमावे अग्रया कथांइ पहमपाउसंसि गंगाए महानईए खलीणमट्टियं खण्माणे तडोए वेलिलए समाप्ते कालयए तत्थेव सुपहुपुरे नयरे सेट्टिकुलंसि पुमत्ताए पच्चायाहिस्सइ ।

से यं तत्थ उम्मुक्क-बालमावे विष्णायपरिणयमेसे जोव्वणगमण्यपत्ते तहाल्वाणं येराणं अंतिए धध्यं सोच्चा निसम्म भुंडे भवित्ता अगराओ अणगारियं पव्वइस्सइ । से यं तत्थ अणगारे भविस्सइ, इरियासमिए जाव (भासासमिए एसणासमिए आथाणभंडमत्तणिक्षेवणासमिए, मणगुत्ते वथगुत्ते काथगुत्ते, गुत्ते गुत्तिदिए गुत्त-.) बंभयारी । से यं तत्थ भहाहं वासाहं सामण्णपरियाणं पात्रणित्ता आलोइयपडिकंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किञ्च्चा सोहम्मे कल्पे वेवत्ताए उब्बजिज्ञहि॒इ । से यं तओ अणंतरं चयं चइत्ता महाविवेहे वासे जाहं कुलाहं भवंति अमुहाहं…… जहा वद्धपइन्ने, सा चेव वत्तञ्चया, कुलाओ जाव सिक्षिष्ठहि॒इ ।

एवं खलु जंशु । समणेण भगवथा महावीरेण जाव संपत्तेण दुहविवागाणं पहमस्स अज्ञायज्ञस्स अयमट्ठे पञ्चते त्ति व्येमि ।

॥ पहमं अज्ञायणं समत्तं ॥

३१—(गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान्‌श्री ने कहा—) हे गौतम ! मुगापुत्र दारक २६ वर्ष के परिपूर्ण आद्युष्य को भोगकर मृत्यु का समय आने पर काल करके इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में वैताद्य पर्वत की तलहटी में सिंहकुल में सिंह के रूप में उत्पन्न होगा । वह सिंह महाश्रद्धर्मी तथा पापकर्म में साहसी बनकर अधिक से अधिक पापरूप कर्म एकत्रित करेगा । वह सिंह मृत्यु का समय आने मर मृत्यु को प्राप्त होकर इस रत्नप्रभापूर्वी नामक पहली नरकभूमि में, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है; —उन नारकियों में उत्पन्न होगा । अन्तररहित—विना व्यवधान के पहली नरक से निकलकर सीधा सरीसूपों (भुजाओं प्रथमा छाती के बल से चलने वाले तिर्यङ्ग प्राणियों) की योनियों में उत्पन्न होगा । वहाँ से काल करके दूसरे नरक में, जिसकी उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की है, उत्पन्न होगा । वहाँ से निकलकर सीधा पक्षी-योनि

में उत्पन्न होगा । वहाँ से मृत्यु के समय काल करके सात-सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले तीसरे नरक में उत्पन्न होगा । वहाँ से निकलकर सिंह की योनि में उत्पन्न होगा । वहाँ वह बड़ा अवधीं, दूर-दूर तक प्रसिद्ध शूर एवं गहरा प्रहार करने वाला होगा । वहाँ से काल करके चौथी नरकभूमि में जन्म लेगा । चौथे नरक से निकलकर सर्प बनेगा । वहाँ से पांचवें नरक में उत्पन्न होगा । वहाँ से निकलकर स्त्रीरूप में उत्पन्न होगा । स्त्री पर्याय से काल करके छठे नरक में उत्पन्न होगा । वहाँ से निकलकर पुरुष होगा । वहाँ से काल करके सबसे निकृष्ट सातवीं नरक भूमि में उत्पन्न होगा । वहाँ से निकलकर जो ये पञ्चेन्द्रिय तिर्थङ्करों में भृत्य, कच्छप, प्राहु, मगर, सुंसुमार आदि जलचर पञ्चेन्द्रिय जाति में योनियाँ हैं—उत्पत्तिस्थान हैं, एवं कुलकोटियों में, जिनकी संख्या साड़े बारह लाख है, उनके एक एक योनि-विद्यान्-योनि-भेद में लाखों बार उत्पन्न होकर पुनः पुनः उत्पन्न होकर मरता रहेगा । उत्पश्चात् चतुर्थदो में (चौपाये—पशु-योनि में) उरपरिसर्प—छाती के बल चलने वालों में, भूज-परिसर्प—भूजाश्रों के बल चलने वालों में, खेचर—आकाश में उढ़ सकने वाले जीवों में, एवं चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और दो इन्द्रिय वाले प्राणियों में तथा वनस्पति कायान्तर्गत कट्ट—कट्टवृक्षों में, कट्ट दुग्धवाली अकादि वनस्पतियों में, वायुकाय, अप्काय व पृथ्वीकाय में लाखों-लाखों बार जन्म भरण करेगा ।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर सुप्रतिष्ठपुर नामक नगर में वृथभ (बैल) के पर्याय में उत्पन्न होगा । जब वह बाल्यावस्था को त्याग करके युवावस्था में प्रवेश करेगा तब किसी समय, वर्षाकृतु के आरम्भ-काल में गंगा नामक महानदी के किनारे पर स्थित मृत्तिका—मिट्टी को खोदता हुआ नदी के किनारे पर गिर जाने से पीड़ित होता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जायगा । मृत्यु को प्राप्त हो जाने के अनन्तर उसी सुप्रतिष्ठपुर नामक नगर में किसी श्रेष्ठ के घर में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा । वहाँ पर वह बालभाव का परित्याग कर युवावस्था को प्राप्त होने पर तथा रूप-साधुजनोचित गुणों को धारण करने वाले स्थविर-बृह जैन साधुओं के पास धर्म को सुनकर, मनन कर तदनन्तर मुण्डित होकर अगारवृत्ति का परित्याग कर अनगारधर्म को प्राप्त करेगा अर्थात् गृहस्थावस्था को छोड़ कर साधुधर्म को अङ्गीकार करेगा । अनगारधर्म में ईर्यासमिति युक्त यावत् ब्रह्मानारी होगा । वह बहुत वर्षों तक यथाविद्य आमण्य-पर्याय (साधुदृति) का पालन करके आलोचना व प्रतिक्रमण से आत्मशुद्धि करता हुआ समाधि को प्राप्त कर समय आने पर कालमास में काल प्राप्त करके सौधर्म नाम के प्रथम देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होगा । तदनन्तर देवभव की स्थिति पूरी हो जाने पर वहाँ से च्युत होकर (देवशारीर को छोड़कर) महाविदेह धोत्र में जो आत्म-सम्पन्न (धनाढ्य) कुल हैं; - उनमें उत्पन्न होगा । वहाँ उसका कलाभ्यास, प्रवर्ज्याप्रहण यावत् मोक्षगमन रूप बक्तव्यता दृढ़प्रतिज्ञ की भाँति ही समझ लेनी चाहिये ।

सुधर्मी स्वामी कहते हैं—हे जम्बू ! इस प्रकार से निश्चय ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने, जो कि मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं; दुःखविषयक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादन किया है । जिस प्रकार मैंने प्रभु से साक्षात् सुना है; उसी प्रकार हे जम्बू ! मैं लुम्से कहता हूँ ।

द्वितीय अध्याय

उत्क्षेप

१—‘जह जन भर्ते ! समणेण जाव संपत्तेण दुहविवागाणं पद्मस्त अज्ञायणस्स अग्रमद्धे पश्चत्ते, क्षेत्रस्स जन भर्ते । अज्ञायणस्स दुहविवागाणं समणेण जाव संपत्तेण के लट्ठे पश्चत्ते ?’

तथा जन से सुहम्मे अणगारे जम्बूं अणगारं एवं वयासी ।

जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! यदि मोक्ष-संप्राप्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक के प्रथम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थं प्रतिपादित किया है तो हे भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने, जो यावत् मोक्ष को प्राप्त हुए हैं;—विपाकसूत्र के द्वितीय अध्ययन का क्या अर्थं बताया है ? इसके उत्तर में धीमुधर्मा अनगार ने श्रीजम्बू अनगार को इस प्रकार कहा—

२—एवं खालु जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण वाणियगामे नामं नगरे होत्था । रिद्वस्थितियसमिद्दे । तस्य जं वाणियगामस्स उत्तरपुरस्थितमे विसीभाए दूर्विपलासे नामं उड्जाणे होत्था । तथा जं दूर्विपलासे सुहम्मस्स जक्खायगणे होत्था । तथा जं वाणियगामे निते नामं राया होत्था । बण्णओ । तस्य जं मित्तस्स रशो सिरी नामं देखी होत्था । बण्णओ ।

३—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में वाणिजग्राम नामक एक नगर था जो क्रह्डिस्तमित-समृद्ध (क्रह्ड अर्थात् गगनचुम्बी अनेक बड़े-बड़े ऊने महलों वाला तथा अनेकानेक जनों से व्याप्त था तथा स्तिमित—अर्थात् स्वचक्र तथा परचक्र के भय से नितान्त रहित व समृद्ध अर्थात् श्रद्धान्य आदि महाक्रह्डियों से सम्पन्न) था । उस वाणिजग्राम के उत्तरपूर्व दिशा के भृद्यभाग-ईशानकोण में दूतिपलाश नामक उद्यान था । उस दूतिपलाश संज्ञक उद्यान में सुधर्मा नाम के यक्ष का यक्षायतन था । उस वाणिजग्राम नामक नगर में मित्र नामक राजा था जिसका वर्णन-प्रकरण पूर्ववत् ही जानना । उस मित्र राजा की धी नाम की पटरानी थी । उसका वर्णन भी पूर्ववत् ही जानना ।

४—तथा जं वाणियगामे कामज्ज्ञया नामं गणिया होत्था । अहीण जाव (पडिपुण्डिविद्यसरीरा लक्खण-दंजण-गुणोववेया माणुस्माण-पमाण-पडिपुण्डि-सुजाय-सव्वंगसु-दरंगी ससिसोमा-काराकंत-पियदंसणा) सुरुवा, जावसरिकलापंडिया, जउसट्टि-गणिया-गुणोववेया एगूणतीसविसेसे रममाणी, एकवीसरइगुणप्पहाणा बत्तीस-पुरिसोवथारकुसला, नवंगसुत्तपडिकोट्तिया, अटुरसवेसी-भासाविसारया, सिगारागारचारवेसा, गीयरइगन्धव्य-नटुकुसला संगय-गय-भाणिय-हृसिय-विहिय-विलास-सललिय-संलाव-निउणजुत्तोवथारकुसला सुरवररथण-जहुण-वयण-कर-चरण-मयण-लाक्षण-विलासकलिया ऊसियज्ञया सहस्रसंभा, विदिणछुत्त-चामर-वालवीयणीया, कण्णोरहृप्पयाया यावि होत्था । बहूणं गणियासहस्राणं आहेवक्त्रं जाव (पोरेवक्त्रं सामितं भट्टितं यहतरगत्तं आणा-ईसर-सेणावक्त्रं कारेमाणी पालेमाणी) विहरद्द ।

५—उस वाणिजग्राम नगर में समूर्ण पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर वाली, लक्षणी, मसा-

तिलकादि व्यञ्जनों एवं गुणों से परिपूर्ण, प्रभाणोपेत समस्त अंगोपांगों वाली, चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति से युक्त, कमलीय, सुदर्शन, परम सुन्दरी, ७२ कलाओं में कुशल, गणिका के ६४ गुणों से युक्त, २९ प्रकार के विशेषों-विषयगुणों में रमण करने वाली, २१ प्रकार के रतिगुणों में प्रधान, कामशास्त्र प्रसिद्ध पुरुष के ३२ उपचारों में कुशल, सुप्त नव अंगों से जागृत अर्थात् जिसके नव अंग (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक जिह्वा, एक त्वचा और मन) जागे हुए हैं, अठारह देशों की अठारह प्रकार की भाषाओं में प्रवीण, शृंगारप्रधान वेषयुक्त अर्थात् जिसका सुन्दर वेष मानो शृंगार का घर ही हो ऐसी, गीत (संगीत-विद्वा) रति (कामकीडा) गान्धर्व (नृत्ययुक्त गीत) नाट्य (नृत्यकला) में कुशल भन को आकर्षित करने वाली, उत्तम गति-गमन से युक्त (हास्य बोलचाल, व्यवहार एवं उचित उपचार में कुशल, स्तनादिगत सौन्दर्य से युक्त, गीत, नृत्यादि कलाओं से हजार भुद्रा का लाभ लेने वाली (कमाने वाली, जिसका एक रात्रि का शुल्क सहस्र स्वर्णमुद्राएँ थीं), जिसके विलास भवन पर ऊँची छवजा फहरा रही थी, जिसको राजा की ओर से पारितोषिक रूप में छत्र, चामर-चौंबर, बाल व्यंजनिका—चौंबरी या छोटा पंखा कृपायूर्वक प्रदान किये गए थे और जो कर्णीरथ नामक रथविशेष से गमनालभन करने वाली थी; ऐसी काम-छवजा नाम की गणिका-वेश्या रहती थी जो हजारों गणिकाओं का स्वाभित्व, नेतृत्व करती हुई समय व्यतीत कर रही थी ।

उज्जितक-परिचय

४—तस्य एं वाणिज्यग्रामे विजयमित्ते नामं सत्यवाहे परिवसङ्ग । अड्डे । तस्स एं विजयमित्तस्स सुभद्रा नामं भारिया होत्या । अहीण ।^१ तस्स एं विजयमित्तस्स पुत्रे सुभद्राए भारियाए अत्तए उज्जितयए नामं बारए होत्या । अहीण जाव^२ सुरुवते ।

४—उस वाणिज्यग्राम नगर में विजयमित्त नामक एक धनी सार्थवाह—ध्यापारीवर्ग का मुखिया निवास करता था । उस विजयमित्त की अन्धून पञ्चेन्द्रिय शरीर से सम्पन्न (सर्वज्ञसुन्दर) सुभद्रा नाम की भाव्या थी । उस विजयमित्त का पुत्र और सुभद्रा का भास्तव्य उज्जितक नामक सर्वज्ञ-सम्पन्न और ल्यवान् बालक था ।

५—तेण कालेण तेण समएणं समणे भगवं महावीरे समोसङ्गे । परिसा मित्याया । राया अहा कूपिग्नो तहा निगम्भो । धम्मो कहिभो । परिसा पडिया, राया य गम्भो ।

५—उस काले तथा उस समय में श्रमण भगवान् महावीरस्वामी वाणिज्यग्राम नामक नगर में (नगर के बाहर ईशान-कोण में स्थित दूतिपलाश उद्यान में) पद्धारे । प्रजा उनके दर्शनार्थ नगर से निकली । राजा भी कूपिक नरेश की तरह भगवान् के दर्शन को शया । भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया । उपदेश की सुनकर जनता तथा राजा दोनों वापिस चले गये ।

उज्जितक की बुद्धिशास्त्री

६—तेण कालेण तेण समएणं समणस्स भगवभ्नो महावीरस्स जेट्टे अन्तेवासी हन्तभूई नामं अणारे जाव^३ लेह्से छट्ठ-छट्ठेण जहा पण्णतीए पढमाए जाव—(पोरिसीए सज्जायं करेह, बीयाए

पोरिसीए शाणं ज्ञियाह, तद्याए पोरिसीए अच्छलभतुरिथ-प्रसंभते मुहपोत्तियं पठिलेहेह, पठिलेहिता भायण-वत्थाहं पठिलेहेह, पठिलेहिता भायणाहं पमज्जह, पमज्जिता भायणाहं उग्गाहेह, उग्गाहेता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छह, उवागच्छता समणे भगवं महावीरं वंडइ नमंसह, वंदिता ममंसिता एवं वयासी—इच्छामि णं भते ! तुझेहि अवभग्नणाए समाणे खन्दुखमण-पारणगंसि वाणियग्नामे नयरे उच्चनीयमज्जमकुलाहं घरसमुदाणस्स मिवखायरियाए अडित्तए ।

‘अहासुहं देवाणुप्तिया ! मा पठिबंधं !’

तए णं भयवं गोयमे समणेण भगवया महावीरेण अवभग्नणाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिमाओ तुद्वप्लासाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमह, पडिणिक्खमिता अतुरियमच्छलम-संभते जुगंतरपलोयणाए दिहुए पुरम्भेरियं सोहेमाणे सोहेमाणे) जेणेव वाणियग्नामे नयरे तेणे उवागच्छह, उवागच्छता उच्च-नीय-मज्जमपाहं कुलाहं घरसमुदाणस्स मिवखा-यरियाए अडमाणे जेणेव रायमणे तेणेव ओगाढे ।

तत्य णं भहवे, हत्थो पासह, सत्तद्वद्वद्वम्मयगुहियउपीलियक्त्त्वे, उहामिय घंटे, नानामणि-रयणविविहुगेवेउज्जत्तरकंचुहजे, पडिक्पिए, शय-पडागवरपंथामेल-आरुह-हत्यारोहे, गहियाउहप्पहरणे ।

अन्ने य तत्य बहवे आसे पासह, सन्द्वद्वद्वम्मयगुहिए, आविद्गुडे, ओसारियपंखरे, उत्तरकंचुइय-ओचूल-मुहुर्णाधर-चायर-पासगपरिमंडियक्त्तिए, आरुहआसारोहे गहियाउहप्पहरणे ।

अणे य तत्य बहवे पुरिसे पासह सन्द्वद्वद्वम्मयक्त्तए, उपीलियसरासणपट्टए पिण्ड-गेवेज्जे, खिमलकरबहु-चिघपट्टे, गहियाउहप्पहरणे ।

तेसि च णं पुरिसाणं मज्जगायं एगं पुरिसं पासह अबओडियथःध्यं उकिकत्तकणनासं नेहुतुप्तियगत्तं, वज्जस-करकडिजुयनिथत्य^१, कठेगुणरत्तमलदामं, चुणगुडियगसं, चुणयं बचम-पाणवियं तिलं-तिलं चेव छिज्जमाणं कागणिमसाहं खावियंतं पावं, खम्खरगसरहि हम्ममाणं, अणेगनरनारीसंपरियुडं चच्चरे चच्चरे खंडपडहएणं उग्धोसिज्जमाणं । इयं च णं एयाह्वं उःघोसणं पडिसुणोह—‘नो खलु देवाणुप्तिया ! उज्जित्यगस्स दारगस्स केह राया वा रायपुत्रो वा अवरज्जमह ; अप्पणो से लयाहं कम्माहं अवरज्जान्ति ।

६—उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उयेष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार, जो कि तेजोलेश्या को संक्षिप्त करके अपने अन्दर धारण किये हुए हैं तथा वेले की तपस्या करते हुए भगवती सूत्र में वर्णित जीवनचर्या चलाने वाले हैं, जैसे कि प्रथम-प्रहर में स्वाध्याय करके, दूसरे प्रहर में ध्यान और तीसरे प्रहर में मुख्यवस्त्रका पात्र आदि का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करके धीमी गति से भगवान् महावीर के पास गए । षष्ठं-भक्त के पारण की आज्ञा प्राप्त की । फिर वाणिज-ग्राम नगर में उच्च, नीच एवं मध्यम कुलों में भिक्षा के लिये ईर्यासमिति पूर्वक चलते हुए जहाँ राजमार्ग—प्रथान सार्ग है वहाँ पर पथारे ।

वहाँ (राजमार्ग में) उह्होने अनेक हाथियों को देखा । वे हाथी युद्ध के लिये उद्यत थे, जिन्हें

१. गाठान्तर—बज्जमक्खडियजुपनिथत्य (मोदी).

कवच पहिनाए हुए थे, जो शरीररक्षण दाकरण (धूल) आदि धारण किये हुए थे, जिनके उदर (पिट) दृढ़ बन्धन से बांधे हुए थे। जिनके भूलों के दोनों तरफ बड़े घण्टे लटक रहे थे। जो नाना प्रकार के मणियों और रत्नों से जड़े हुए विविध प्रकार के ग्रैवेयक (कण्ठाभूषण) पहने हुए थे तथा जो उत्तर कंचुक नामक तनुज्ञाणविशेष एवं अन्य कवच आदि सामग्री धारण किये हुए थे। जो इवजा पताका तथा पंचविध शिरोभूषण^१ से विभूषित थे एवं जिन पर आयुध व प्रहरणादि लिए हुए महाबत बैठे हुए थे अथवा उन हायियों पर आयुश (वह शस्त्र जो फेंका नहीं जा सकता, जैसे तलवार आदि) और प्रहरण (जो शस्त्र फेंके जा सकते हैं, जैसे तीर आदि) लदे हुए थे।

इसी तरह वहाँ अनेक अश्वों को भी देखा, जो युद्ध के लिये उच्यत थे तथा जिन्हें कवच तथा शारीरिक रक्षा के उपकरण पहिनाए हुए थे। जिनके शरीर पर सोने की बनी हुई भूल पड़ी हुई थी तथा जो लटकाए हुए तनुज्ञाण से युक्त थे। जो बख्तर विशेष से युक्त तथा लगाम से अन्वित मुख वाले थे। जो कोध से अश्वरों—होठों को चबा रहे थे। चामर तथा स्थासक (आभूषण-विशेष) से जिनका कटिभाग परिमिति—विभूषित हो रहा था तथा जिन पर सवारी कर रहे अश्वारोही-धूड़सवार आयुध और प्रहरण ग्रहण किये हुए थे अथवा जिन पर शस्त्रास्त्र लदे हुए थे।

इसी तरह वहाँ बहुत से पुरुषों को भी देखा जो दृढ़ बन्धनों से बंधे हुए लोहमय कुसूलादि से युक्त कवच शरीर पर धारण किये हुए, जिन्होंने शारासन-पट्टिका—धनुष खोंचने के समय हाथ की रक्षा के लिये बांधी जाने वाली चमड़े की पट्टी—कसकर बांध रखी थी। जो गले में ग्रैवेयक-कण्ठाभूषण धारण किये हुए थे। जिनके शरीर पर उत्तम चिह्नपट्टिका—वस्त्रखण्ड-तिमित चिह्न—निशानी लगी हुई थी तथा जो आयुधों और प्रहरणों (शस्त्रास्त्र) को ग्रहण किये हुए थे।

उन पुरुषों के मध्य में भगवान् गौतम ने एक और पुरुष को देखा जिसके हाथों को मोड़कर पृष्ठभाग के साथ रसी से बांधा हुआ था। जिसके नाक और कान कटे हुए थे। जिसका शरीर स्त्रिय (चिकना) किया गया था। जिसके कर और कटि-प्रदेश में दृष्टि पुरुषोंचित वस्त्र-युगम् (दो वस्त्र) धारण किया हुआ था अथवा बांधे हुएं हाथ जिसके कढ़ियुग (हथकड़ियों) पर रखें हुए थे अर्थात् जिसके दोनों हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई थीं, जिसके कण्ठ में कण्ठसूत्र—धागे के समान लाल पुष्पों की माला थी, जो गोरु के चूंच से पोता गया था, जो भय से संत्रस्त, तथा प्राणों को धारण किये रखने का आकांक्षी था, जिसको तिल-तिल करके काटा जा रहा था, जिसको शरीर के छोटे-छोटे मांस के टुकड़े खिलाए जा रहे थे अथवा जिसके मांस के छोटे-छोटे टुकड़े काकादि पक्षियों के खाने के योग्य किये जा रहे थे। ऐसा वह पापात्मा सेकड़ों पत्थरों या चाबुकों से मारा जा रहा था। जो अनेक स्त्री-पुरुष-समुदाय से विरा हुआ और प्रत्येक चौराहे आदि पर उद्धीषित किया जा रहा था अर्थात् जहाँ चार या इससे अधिक रास्ते मिले हुए हों ऐसे स्थानों पर फूटे ढोल से उसके सम्बन्ध में धौषणा सुनाई जा रही थी जो इस प्रकार है—

हे महानुभावो ! इस उज्जितक बालक का किसी राजा अथवा राजपुत्र ने कोई अपहार नहीं किया अर्थात् इसकी दुर्दशा के लिए अन्य कोई दोषी नहीं है, किन्तु यह इसके अपने ही कप्तानों का अपराध है—दोष है, जो इस दुःस्थिति को प्राप्त है !

१. हाथी के शिर के पांच आभूषण बतलाये गये हैं, जैसे कि—सीन इवजा और उनके बीच दो पताकाएँ।

७—तए ण से भगवन्नो गोयमस्तु तं पुरिसं पासिता इमे अज्ञातिथाए चित्तिए कण्ठिए परिष्ठाए
मणोगए संकप्ये समुप्पञ्जितथा—‘अहो ण इमे पुरिसे जाव नरयपञ्चिरुचियं वेयर्थ वेदइ’ सि कट्टु
बाणियगामे नयरे उच्च-नीच-मज्जमकुलाई जाव अडमाणे अहापञ्जत्तं सामुदाणियं गिर्हइ, मिञ्जिला
बाणियगामे नयरे भज्जामज्जरेण जाव पञ्जिवसेइ, पञ्जिवसिता समणं भगवं महावीरं वेदइ बज्जसइ,
बंविता, नमंसिता एवं बथासी—‘एवं खलु अहं भंते ! तुम्हेहि थबमणुषाए समाणे बाणियगामं जाव
तहेव वेदइ । से ण भंते ! पुरिसे पुञ्चभवे के आसी ? जाव’ पञ्जज्ञुभवमाणे विहुरइ ?

८—तत्पश्चात् उस पुरुष को देखकर भगवान् गौतम को यह चिन्तन, विचार, मनःसंकरुप
उत्पन्न हुआ कि—‘अहो ! यह पुरुष कैसी नरकतुल्य वेदना का अनुभव कर रहा है !’ ऐसा विचार
करके बाणिजग्राम नगर में उच्च, नीच, मध्यम (घनिक, निर्धन तथा मध्यम कोटि के) घरों में छमण
करते हुए यथापर्याप्त (आवश्यकतानुसार) भिक्षा लेकर बाणिजग्राम नगर के मध्य में से होते हुए
अमण भगवान् महावीर स्वामी के पास आये । उन्हें लाई हुई भिक्षा दिखलाई । तदनन्तर भगवान्
को वन्दना-नमस्कार करके उनसे इस प्रकार कहने लगे—

हे प्रभो ! आपकी आङ्गा से मैं भिक्षा के हेतु बाणिजग्राम नगर में गया । वहाँ मैंने एक ऐसे
पुरुष को देखा जो साक्षात् नारकीय वेदना का अनुभव कर रहा है । हे भगवन् ! वह पुरुष पूर्वभव में
कौन था ? जो यावत् नरक जैसी विषम वेदना भोग रहा है ?

पूर्वभव-विवरण

९—एवं खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जम्बूदीपे दीपे भारते वासे हस्तियाउरे
नामं नयरे होत्था, रिहुत्थ० ।^१ तत्थ ण हस्तियाउरे नयरे सुणदे णामं राया होत्था । महया हिमवत०^२
महूत-मलय-मंदर-महिवसारे । तत्थ ण हस्तियाउरे नयरे बहुभज्जसवेसभाए महं एगे गोमप्त्वे होत्था ।
अणेगखमभसथसंनिविद्वे, पासाईए वरिसणिज्जे गमिरुवे पञ्जिरुवे । तत्थ ण बहुवे भगरगोक्कवाणं सणाहा
य अणाहा य नगरगोक्कवाणो य नगरवलोक्हा य नगरपञ्चुयाओ य नगरवसमा य पञ्चतत्त्वाणिया
निरमया निरविभगा सुहंसुहेण परिवसति ।

१०—हे गौतम ! उस पुरुष के पूर्वभव का वृत्तान्त इस प्रकार है—उस काल तथा उस
समय में इस जम्बूदीप नामक दीप के अन्तर्गत इस भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नामक एक समृद्ध नगर
था । उस नगर का सुनन्द नामक राजा था । वह हिमालय पर्वत के समान महान् था । उस
हस्तिनापुर नामक नगर के लगभग मध्यभाग में सेकड़ों स्तम्भों से निर्मित सुन्दर मनोहर, मन को
प्रसन्न करने वाली एक विशाल गोक्काला थी । वहाँ पर नगर के अनेक सनाथ—जिनका कोई स्वामी
हो और अनाथ—जिनका कोई स्वामी न हो, ऐसी नगर की गायें, बैल, नागरिक, छोटी गायें—
बछड़ियाँ, भेंसे, नगर के सांड, जिन्हें प्रचुर मात्रा में घास-पानी मिलता था, भय तथा उपसर्गादि से
रहित होकर परम सुखपूर्वक निवास करते थे ।

१. प्रथम अ., सू. १९

२. अौपरातिक—१

३. औपरातिक—१४

९—तत्थ एं हस्तिष्णातरे नथरे भोमि नामं कूटग्राहे होत्था, अहमिभए जाव दुष्पिद्याणदे । तस्स एं भोमस्स कूटग्राहस्स उपला नामं भारिया होत्था, अहीणपद्धिपुणपर्चिवियसरोरा ।^१ तए एं सा उपला कूटग्राहिणी अन्नया क्याइ आवन्नसत्ता जाया वाचि होत्था । तएण एं तीसे उपलाए कूटग्राहिणीए तिष्ठं यासाणं बहुषद्धिपुणाणं अयमेवाहृते दोहृते पाउड्मूए—

१०—उस हस्तिनापुर नगर में भीम नामक एक कूटग्राह (घोखे से—कपटपूर्वक जीवों को कैसाने वाला) रहता था । वह स्वभाव से ही अधर्मी व कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था । उस भीम कूटग्राह की उपला नामक भार्या थी जो अहीन (अन्युन) पंचेन्द्रिय वाली थी । किसी समय वह उपला गर्भवती हुई । उस उपला नाम की कूटग्राह की पत्नी को पूरे तीन मास के पश्चात् इस प्रकार का दोहृद—मनोरथ (जो कि गर्भिणी स्त्रियों को गर्भ के अनुरूप उत्पन्न होता है) उत्पन्न हुआ—

१०—‘धन्नाऽमो एं ताओ अम्याओ [संपुण्णाओ एं ताओ अम्याओ, क्यथाओ एं ताओ अम्याओ, क्यपुण्णाओ एं ताओ अम्याओ, क्यलव्याणाओ एं ताओ अम्याओ, क्यविह्वाओ एं ताओ अम्याओ, सुलद्वे एं तासि माणुस्सए जम्मजीवियफले जाओ एं बहूण नगरगोरुवाम सणाहाण य जाव बसहाण^२ य ऊहेहि य थणेहि य बसणेहि य छेप्याहि य ककुहेहि य बहेहि य कणेहि य अच्छीहि य नासाहि य जिबमाहि य ओटुहेहि य कम्बलेहि य सोललेहि य तलिएहि य भजिएहि य परिसुक्केहि य लावणेहि य सुरं च अहुं च भेरगं च जाहं च सीहुं च पसम्नं च आसाएमाणीओ विसाएमाणीओ, परिभाएमाणीओ परिभंजेमाणीओ दोहृलं विणेति । तं जह एं अहमवि बहूणं नगर आव^३ विणिज्जामि’ त्ति कटुटु तंसि दोहृलंसि अविणिलजमाणंसि सुकका भुक्खा निम्मसा ओलुगा ओलुगासरीरा निलेया दीण-विषण-वयणा पंडुल्लहयमुहा ओमंथिय-मयण-कमला अहोइयं पुण्यवत्थगंधमल्लालंकाराहार अपरिभुंजमाणी करयलमलियव्य कमलमाला ओहय जाव (मणसंकल्पा करयसपल्लहत्थमुही अदृश्याणोवगया सूमिगयविद्वीथा) शियाइ ।

१०—वे माताएं जन्य हैं, पुण्यवती हैं, कृतार्थ हैं, सुलक्षणा हैं, उनका ऐश्वर्य सफल है, उनका मनुष्यजन्म और जीवन भी सार्थक है, जो अनेक धनाथ या सनाथ नागरिक पशुओं यावत् वृषभों के ऊधस् (वह ऐली जिसमें दूध भरा रहता है) ल्तन, वृषण-ग्रण्डकोष, पूँछ, ककुद (स्कन्ध का ऊपरी भाग) स्कन्ध, कर्ण, नेत्र, तासिका, जीभ, ओष्ठ (होठ) कम्बल—सास्ना (गाय के गले का चमड़ा) जो कि शूल्य (शूला-प्रोत), ललित (तले हुए) भृष्ट (भुने हुए), शुष्क (स्वयं सूखे हुए) और लवण-संस्कृत मास के साथ सुरा, मधु (पुण्यनिष्पन्न मदिरा-विशेष) भेरक (मद्य विशेष जो तालफल से निर्मित होती है) सीबु (एक विशेष प्रकार की मदिरा जो गुड़ व धान के मेल से निष्पन्न होती है) प्रसक्षा (वह मदिरा जो द्राक्षा आदि से बनती है) इन सब मर्दों का सामान्य व विशेष रूप से आस्वादन, विस्वादन, परिभाजन-वितरण (दूसरों को बाँटती हुई) तथा परिभोग करती हुई अपने दोहृद को पूर्ण करती हैं । काश ! मैं भी अपने दोहृद को इसी प्रकार पूर्ण करूँ ।

इस विचार के अनन्तर उस दोहृद के पूर्ण न होने से वह उपला नामक कूटग्राह की पत्नी सूखने लगी, (भोजन न करने से बल रहित होकर) भूखे व्यक्ति के समान दीखने लगी, मास रहित-

१. द्वि. घ., सूत्र—३

२. द्वि. घ., सूत्र—८

३. द्वि. घ., सूत्र—८

अस्थि-घोष हो गयी, रोगिणी व रोगी के समान शिथिल शरीर वाली, निस्तेज—कान्तिरहित, दीन तथा चिन्तातुर मुख वाली हो गयी। उसका बदन फीका तथा पीला पड़ गया, नेत्र तथा मुख-कमल मुर्झा गया, यथोचित पुष्प, वस्त्र, गन्ध, माल्य—फूलों की गूँधी हुई माला—आभूषण और हार आदि का उपभोग न करने वाली, करतल से भद्रित कमल की माला की तरह म्लान हुई कर्तव्य व अकर्तव्य के विवेक से रहित चिन्ताग्रस्त रहने लगी।

११—इमं च णं भीमे कूडगाहे जेणेव उपला कूडगाहिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ओहय० जाव पासइ, एवं वयासी—‘कि णं तुमे देवाणुप्तिए ! ओहय जाव जियासि ?’

तए णं सा उपला भारिया भीम कूडगाहुं एवं वयासी—‘एवं छलु, देवाणुप्तिया ! तम तिष्ठुं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं बोहला पाउबस्या—धन्ना णं ताओ जाओ णं बहूणं गोहवाणं अहेहि य जाव लावणेहि य सुरं च ६, आसाएमाणीओ ४ दोहलं विगेति ।’ तए णं अहुं देवाणुप्तिया ! तंसि दोहलंसि अविणिऊजमाणसि जाव जियासि ।’

१२—इतने में भीम नामक कूटग्राह, जहाँ पर उत्पला नाम की कूटग्राहिणी थी, वहाँ आया और उसने आतंध्यान छ्याती हुई चिन्ताग्रस्त उत्पला को देखा। देखकर कहने लगा—‘देवानुप्रिये ! तुम क्यों इस तरह शोकाकुल, हथेली पर भुख रखकर आतंध्यान में मग्न हो रही हो ? तदनन्तर वह उत्पला भार्या भीम नामक कूटग्राह को इस प्रकार कहने लगी—स्वाभिन् ! लगभग तोन मास पूर्ण होने पर मुझे यह दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताएँ धन्य हैं, कि जो चतुष्पाद पशुओं के ऊंधस्तन आदि के लवण-संस्कृत मास का अनेक प्रकार की मदिराओं के साथ आसवादन करती हुई अपने दोहद को पूर्ण करती हैं। उस दोहद के पूर्ण न होने से निस्तेज व हतोत्साह होकर मैं आतंध्यान में मग्न हूँ। (यहाँ पूर्वोक्त विवरण समझ लेना चाहिये।)

१३—तए णं से भीमे कूडगाहे उपलं भारियं एवं वयासी—‘सा णं तुम देवाणुप्तिया ! ओहयमणसंकप्या जाव जियाहि; अहुं णं तहा करिसासि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सइ ।’ तर्हि इट्टाहि जाव (कंताहि पियाहि मणुण्णाहि मणाम्याहि) धग्गूहि समासासेह ।

तए णं से भीमे कूडगाहे अद्वरत्सकालसमयंसि एगे अबीए सभद्र जाव (बहुवन्मियकवए उपीलियसरासणपट्टीए पिण्डुगेऽजे विमलवरबद्धचिदपट्टे गहियाजह) पहरणे सद्याओ गिहाओ निगच्छइ, निगच्छित्ता हृतिथणाउरं नयरं मज्जामज्जेण जेणेव गोमण्डवे तेणेव उवागए, बहूणं नगरयोहवाणं जाव वसभाण य अध्येगद्याणं ऊहे छिद्रइ जाव अध्येगद्याणं कंबले छिद्रइ, अपेनद्याणं अप्पमग्नाहुं अंगोदंगाहुं वियगेइ, वियगेत्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता उपला-ए कूडगाहिणी-ए उवणेह । तए णं सा उपला भारिया तर्हि बहूहि गोमसेहि य सोललेहि य सुरं च-५ कूडगाहिणी-ए उवणेह । तए णं सा उपला कूडगाहिणी संयुणबोहसा संवाणियदोहला विणीयदोहला बोच्छबोहला संपत्तदोहला तं गढ्म सुहंसुहेण परिवहइ ।

१४—तदनन्तर उस भीम कूटग्राह ने अपनी उत्पला भार्या से कहा—‘देवानुप्रिये ! तुम चिन्ताग्रस्त व आतंध्यान युक्त न होओ, मैं वह मब कुछ करूँगा जिससे तुम्हारे इस दोहद की परिपूर्ति हो जायगी। इस प्रकार के इष्ट, प्रिय, कान्त, मनोहर, मनोज धन्तों से उसने उसे समाशवासन दिया।

तत्पश्चात् भीम कूटग्राह आधी रात्रि के समय अकेला ही दृढ़ कवच पहनकर, धनुष-वाण

से मणिजत होकर, ग्रैवेयक धारण कर एवं आयुष प्रहरणों को लेकर अपने घर से निकला और हस्तिनापुर नगर के भज्जा से होता हुआ जहाँ नृपोनामिष पा वहाँ पर आया, और आकर वह नागरिक पशुओं यावत् बृषभों में से कई एक के ऊंचास्, कई एक के सास्ना-कम्बल आदि व कई एक के अन्यान्य अङ्गोपाङ्गों को काटता है और काटकर अपने घर आता है। आकर अपनी भार्या उत्पला को दे देता है। तदनन्तर वह उत्पला उन अनेक प्रकार के गूल आदि पर पकाये गये गोमांसों के साथ अनेक प्रकार की मदिरा आदि का आस्वादन, विस्वादन करती हुई अपने दोहद को परिपूर्ण करती है। इस तरह वह परिपूर्ण दोहद वाली, सम्मानित दोहद वाली, विनीत दोहद वाली, व्युच्छित्र दोहद वाली व सम्पन्न दोहद वाली होकर उस गर्भ को सुखपूर्वक धारण करती है।

१३—तए ण सा उप्पला कूडग्गाहिणी अभ्या कयाइ नबर्ह मासाण बहुपडिपुणाण दारगं पयाया। तए ण तेण दारएण जायमेत्तेण चेव मह्या मह्या चिच्ची सदेण विधुट्ठे विस्सरे आरसिए।

तए ण तस्स दारगस्स आरसिय-सहं सोच्चा निसम्म हत्यिणाडरे नथरे बहुवे नगरगोरुवा जाव वसभा य सोया तत्था तसिया उविग्गा सञ्चओ समंता विष्पलाहस्था। तए ण तस्स दारगस्स अम्मापियरो अयमेयारुवं नामधेज्जं करेत्ति—‘जम्हा णं अम्हं इसेण दारएण जायमेत्तेण चेव मह्या मह्या चिच्ची सदेण विधुट्ठे विस्सरे आरसिए, तए णं एथस्स दारगस्स आरसियसहं सोच्चा निसम्म हत्यिभाडरे नथरे बहुवे नगरगोरुवा जाव सोया तत्था तसिया उविग्गा, सञ्चओ समंता विष्पलाहस्था, तम्हा णं होउ अम्हं बारए ‘गोत्तासए’ नामेण।

तए ण से गोत्तासए बारए उम्मुक्कवालमावे जाए यावि होत्था।

१३—तदनन्तर उस उत्पला नामक कूडग्गाहिणी ने किसी समय नव-मास परिपूर्ण हो जाने पर पुत्र को जन्म दिया। जन्म के साथ ही उस बालक ने अत्यन्त कण्ठकटु तथा चीत्कारपूर्ण अयंकर आवाज की। उस बालक के कठोर, चीत्कारपूर्ण शब्दों को सुनकर तथा अवधारण कर हस्तिनापुर नगर के बहुत से नागरिक पशु यावत् बृषभ आदि भयभीत व उद्गेग को प्राप्त होकर चारों दिशाओं में भागने लगे। इससे उसके माता-पिता ने इस तरह उसका नाम-संस्करण किया कि जन्म के साथ ही इस बालक ने ‘चिच्ची’ चीत्कार के द्वारा कण्ठकटु स्वर युक्त आक्रमण किया, इस प्रकार के उस कण्ठकटु, चीत्कारपूर्ण आक्रमण को सुनकर तथा अवधारण कर हस्तिनापुर के गो आदि नागरिक पशु भयभीत व उद्गेग होकर चारों तरफ भागने लगे, अतः इस बालक का नाम गोत्रास (गाय आदि पशुओं को आस देने वाला) रखा जाता है।

तदनन्तर यथासमय उस गोत्रास नामक बालक ने बाल्यावस्था को त्याग कर युवावस्था में प्रवेश किया।

१४—तए ण से अमेकूडग्गाहे अभ्या कयाइ कालधम्मुणा संजुते। तए ण से गोत्तासए बारए बहुएण मित्त-नाई-नियग-सयण सम्बन्धि-परिष्णेण संद्धि संपरिवद्दे रोयमाणे कन्दमाणे विलवमाणे भीमस्स कूडग्गाहस्स तीहरण करेह, करेत्ता बहुहि लोइयमयकिच्चाई करेह। तए ण से सुनवे राया गोत्तास बारयं अभ्या कयाइ सयमेव कूडग्गाहत्ताए ठावेह। तए ण से गोत्तासे बारए कूडग्गाहे जाए यावि होत्था—गहम्मिए जाव दुप्पियाणवे।

१४—तत्पश्चात् (गोत्रास के युवक हो जाने पर) भीम कूटग्राह किसी समय कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुआ। तब गोत्रास बालक ने अपने पित्र, जाति, नित्रक, स्वजन, सम्बन्धी और परिजनों से परिवृत होकर रुदन, विलपन तथा प्राकृदन करते हुए अपने पिता भीम कूटग्राह का दाहसंस्कार किया। अनेक लोकिक मृतक-क्रियाएँ कीं। तदनन्तर सुनन्द नामक राजा ने किसी समय स्वयमेव गोत्रास बालक को कूटग्राह के पद पर नियुक्त किया। गोत्रास भी (अपने पिता की ही भाँति भवान् अधर्मी व दुष्प्रत्यानन्द (बड़ी कठिनता से प्रसन्न होने वाला) था।

१५—तए णं से गोत्तासे दारए कूडगगाहित्ताए कल्लाकल्लिं अद्वरत्तियकालसमयसि एते अबोए सञ्जम्बद्धकवए जाव गहिया-उहप्पहरणे सयामो गिहाओ निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव गोमण्डवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बहूणे नगरगोलवाणे सणाहाण य जाव^१ विवंगेइ, जेणेव सए गिहे तेणेव उवागए। तए णं से गोत्तासे कूडगगाहे लेहि बहौहि गोमसेहि य सोल्लेहि य जाव (तलिएहि य मणिजएहि य परिसुककेहि य लावणेहि य सुरं च द आसाएमाणे विसाएमाणे जाव विहरइ। तए णं से गोत्तासे कूडगगाहे एयकम्भे एयप्पहाणे एयविजजे एयसमायारे सुबहुं पावकम्भं समचिजणिता पंचवा-सतयाइं परमाद्यं पालहसा अहुहुहुवगए काल विच्छा दोहवाए पुढवाए उधकोसं तिसगरोवमठिएसु नेरहएसु नेरहयत्ताए उववन्ने।

१५—उसके बाद वह गोत्रास कूटग्राह प्रतिदिन आधी रात्रि के समय सैनिक को तरह तैयार होकर कवच पहिनकर और शास्त्रास्त्रों को धारण कर अपने घर से निकलता। निकलकर गोमण्डप में जाता। वहाँ पर अनेक गी आदि नागरिक पशुओं के अङ्गोपाङ्गों को काटकर अपने घर आ जाता। आकर उन गी आदि पशुओं के शूलपक्व तले, भुने, सूखे और नमकीन मांसों के साथ मदिरा आदि का आस्वादन, विस्वादन करता हुआ जीवनयापन करता।

तदनन्तर वह गोत्रास कूटग्राह इस प्रकार के कर्मोंवाला, इस प्रकार के कार्यों में प्रधानता रखने वाला, इस प्रकार की पाप-विद्या को जानने वाला तथा ऐसे क्रूर आचरणों वाला नाना प्रकार के पापकर्मों का उपार्जन कर पांच सौ वर्ष का पूरा आयुष्य भोगकर चित्ता और दुःख से पीड़ित होकर मरणावसर में काल कारके उत्कृष्ट तीन सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले दूसरे नरक में नारक रूप से उत्पन्न हुआ।

१६—तए णं विजयमित्तस्स सत्यवाहस्स सुभद्रा नामं भारिया जायनिदुया यावि होत्या। जाया जाया दारगा विणिहायमाधज्जंति। तए णं से गोत्तासे कूडगगाहे दोहवाए पुढवोए अणतरं उववहित्ता इहेव वाणियगामे नयरे विजयमित्तस्स सत्यवाहस्स सुभद्राए भारियाए कुञ्चित्सि पुत्तसाए उववन्ने। तए णं सा सुभद्रा सत्यवाही अश्वया क्याइ नवर्णं भासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारणं पथाया।

१६—विजयमित्र की सुभद्रा नाम की भार्या जातनिदुका (जन्म लेते ही मरने वाले बच्चों को जन्म देने वाली) थी। अतएव जन्म लेते ही उसके बालक विनाश को प्राप्त हो जाते (मर जाते) थे। तत्पश्चात् वह गोत्रास कूटग्राह का जीव भी दूसरे नरक से निकलकर सीधा इसी वाणिजयाम नगर के विजयमित्र सार्थवाह की सुभद्रा नाम की भार्या के उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ—गर्भ में

आया। तदनन्तर किसी अन्य समय में नव मास परिपूर्ण होने पर सुभद्रा सार्थवाही ने पुत्र को जन्म दिया।

१७—तए णं सा सुभद्रा सत्थवाही तं दारणं जायमेत्यं चेद् एगंते उकुरुडियाए उज्जावेद्, उज्जावित्ता बोच्चंषि गिष्ठावेद् गिष्ठावित्ता अणुपुद्वेण सारक्लेमाणो संगोवेमाणो संवद्देह ।

तए णं तस्य दारणस्य अस्मापियरो लिहवडियं च चन्द्रसूरपासणियं च जागरियं च महथा इत्तीसवकारसमुद्देशं करेन्ति । तए णं तस्य दारणस्य अस्मापियरो एवकारसमे दिवसे निव्वत्ते, संपत्ते दारसमे दिवसे इममेयाह्वं गोणं गुणनिष्टक्तं नामधेजं करेन्ति—‘अस्त्रा णं अस्त्रं इसे दारए जायमेत्यए चेद् एगंते उकुरुडियाए उज्जित्ते, तस्त्रा णं होउ अस्त्रं दारए उज्जित्ते नामेण । तए णं से उज्जित्ते दारए पंचधाईपरिग्रहिए, तं जहा—खोरधाईए भज्जणधाईए मण्डणधाईए कोलाक्षणधाईए अंकधाईए, जहा वदपद्धन्ने, जाव निष्ठाधाईए गिरिकन्द्ररमल्लीणे विद् चम्पकपाथवे सुहंसुहेण परिवद्धुइ ।

१८—तत्पश्चात् सुभद्रा सार्थवाही उस बालक को जन्मते ही एकान्त में कूड़े-कर्कट के छेर पर ढलवा देती है, और पुनः ढलवा लेती है । तत्पश्चात् क्रमशः संरक्षण व संगोपन करती हुई उसका परिवर्द्धन करने लगती है ।

उसके बाद उस बालक के माता-पिता स्थितिपतित-कुलमर्यादा के अनुसार पुत्रजन्मोचित बघाई बांटने आदि की क्रिया करते हैं । चन्द्र-सूर्य-दर्शन-उत्सव व जागरण महोत्सव भी महान् ऋद्धि एवं सत्कार के साथ करते हैं । तत्पश्चात् उस बालक के माता-पिता न्यारहवें दिन के व्यतीत हो जाने पर तथा बारहवाँ दिन आ जाने पर इस प्रकार का गीण-गुण से सम्बन्धित व गुणनिष्टक्त-गुणानुरूप नामकरण करते हैं—कथोंकि हमारा यह बालक एकान्त में उकरड़े—कचरा फेंकने की जगह पर फेंक दिया गया था, अतः हमारा यह बालक ‘उजिम्मतक’ नाम से प्रसिद्ध हो । तदनन्तर वह उजिम्मतक कुमार पांच धायमाताओं की देखरेख में रहने लगा । उन धायमाताओं के नाम ये हैं—खोरधात्री—दूध पिलाने वाली, स्नानधात्री—स्नान कराने वाली, मण्डनधात्री—बल्नाभूषण से श्रलंकृत करने वाली, क्रीडापनधात्री—क्रीडा कराने वाली और अङ्गधात्री—गोद में उठाकर खिलाने वाली । इन धाय-माताओं के द्वारा दृढ़प्रतिज्ञ की तरह निर्वात—वायु से रहित एवं निर्वाधात—आधात से रहित, पर्वतीय कन्दरा में अवस्थित चम्पक वृक्ष की तरह सुखपूर्वक वृद्धि को प्राप्त होने लगा ।

१९—तए णं से विजयमित्ते सत्थवाहे अस्त्रया क्याह गणियं च धरिमं च मेज्जं च पारिष्वेज्जं च चउच्चिवहं भेडं गहाय लवणसमुद्रे पोयवहणेण उवागए । तए णं से तत्थ लवणसमुद्रे पोयविष्टोए निर्वुद्धुभेदसारे अत्ताणे असरणे कालधम्युणाः संजुत्ते । तए णं तं विजयमित्तं सत्थवाहं जे जहा बहुते इसर-तलवर-माढ़बिय-कोड़बिय-इडम-सेट्टि-सत्थवाहा लवणसमुद्रे पोयविष्टोए छूड़ निर्वुद्धभ-इसारं कालधम्युणा संजुत्तं सुणेन्ति, ते तहा हत्यनिष्क्लेषं च बाहिरभाण्डसारं च गहाय एगंते अवक्कमंति ।^१

१. प्रस्तुत सूत्र में हस्तनिष्केप व बाह्यभाण्डसार इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, जाचार्य अभयदेव सूरि ने इन शब्दों की निम्न व्याख्या की है—‘हस्तेनिष्केपो-ग्यासः समर्पण धस्य द्वयस्य तद् हस्तनिष्केपम्, हस्तनिष्केप-व्यतिरिक्तं च भाण्डसारम्’ । धरोहर को हस्तनिष्केप कहते हैं अर्थात् किसी की साक्षी के बिना अपने हाथ से दिया गया सारभाण्ड हस्तनिष्केप है और किसी की साक्षी से जोगों की जानकारी में दिया गया सारभाण्ड बाह्यभाण्डसार के नाम से प्रचलित है ।

१८—इसके बाद विजयमित्र सार्थवाह ने जहाज छारा गणि (गिनती से बेची जाने वाली वस्तु, जैसे नारियल), घरिम (जो तराजू से तोलकर बची जाय, जैसे घृत, तेल, शक्करा आदि), मेय (मापकर बेचे जाने योग्य पदार्थ जैसे कपड़ा, फीता आदि) और पारिच्छेद्य (जिन वस्तुओं का क्य-विक्रय परीक्षाधीन हो, जैसे हीरा, पञ्चा आदि) रूप चार प्रकार की बेचने योग्य वस्तुएँ लेकर लवण-समुद्र में प्रस्थान किया। परन्तु लवण-समुद्र में जहाज के विनष्ट हो जाने से विजयमित्र की उपर्युक्त चारों प्रकार की महामूल्य वस्तुएँ जलमग्न हो गयीं और वह स्वयं त्राण रहित (जिसकी कोई रक्षा करने वाला न हो) और अशरण (जिसको कोई आश्रय देने वाला न हो) होकर कालधर्म को प्राप्त हो गया। तदनन्तर ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इक्ष्य-धनी, श्रेष्ठी—सेठ तथा सार्थवाहों ने जब लवण समुद्र में जहाज के नष्ट और महामूल्य वाले कथाणक के जलमग्न हो जाने पर त्राण और शरण से रहित विजयमित्र की मृत्यु का वृत्तान्त सुना तो वे हस्तनिक्षेप-धरोहर व बाह्य (उसके अतिरिक्त) भाष्टसार को लेकर एकान्त स्थान में (बाणिजग्राम से बाहर ऐसे स्थान पर कि जिसका दूसरों को पता न चल सके) चले, गये।

१९—तए णं सा सुभद्रा सत्थवाही विजयमित्तं सत्थवाहं लवणसमुद्रे पोयविवसीए निष्ठुड-भाष्टसारं कालधर्ममुणा संजुत्तं सुणेह, सुणित्ता महया पहसोएण बाप्कुञ्जा समरणो परसुनियत्ता विक-चम्पगलया धस सि घरणीयलंसि सञ्चवंगेण संनिवडिया। तए णं सा सुभद्रा सत्थवाही मुहुत्तन्तरेण आसत्था समरणो बहूहि मित जात् (-नाइ-विधग-सजण-संवंशि-परिययेण) सद्धि परिवुडा रोयमाणी कन्दमाणी विलवमाणी विजयमित्त-सत्थवाहस्त लोइयाइं मयकिच्चाइं करेह। तए णं सा सुभद्रा सत्थवाही अन्नया कथाइ लवणसमुद्रेतरणं च लच्छविणासं च पोयविणासं च पहमरणं च अणु-चिन्तेमाणी अणुचिन्तेमाणी कालधर्ममुणा संजुत्ता।

१९—तदनन्तर सुभद्रा सार्थवाही ने, जिस समय लवणसमुद्र में जहाज के नष्ट हो जाने के कारण भाष्टसार के जलमग्न हो जाने के साथ विजयमित्र सार्थवाह की मृत्यु के वृत्तान्त को सुना, तब वह पतिवियोगजन्य महान् शोक से ग्रस्त हो गई। कुलहाड़े से कटी हुई चम्पक वृक्ष की शाखा की तरह बड़ाम से पूछीताल पर गिर पड़ी। तत्पश्चात् वह सुभद्रा-सार्थवाही एक मुहूर्त के अनन्तर अर्थात् कुछ समय के अन्नात् आश्वस्त हो अनेक मित्रों, जातिजनों, स्वजनों, सम्बन्धियों तथा परिजनों से विरी हुई रुदन कळन विलाप करती हुई विजयमित्र के लौकिक मृतक-क्रियाकर्म करती है। तदनन्तर वह सुभद्रा सार्थवाही किसी अन्य समय लवणसमुद्र में पति का गमन, लक्ष्मी का विनाश, पोत-जहाज का जलमग्न होना तथा पति की मृत्यु की चिन्ता में निमग्न रहती हुई काल-घर्म—मृत्यु को प्राप्त हो गयी।

२०—तए णं ते नगरगुत्तिया सुभद्रे सत्थवाहि कालगर्थं जणित्ता उज्जित्यगं दारगं सयाओ गिहाओ निच्छुभेत्ति, निच्छुभित्ता तं गिहं अन्नस्त दलयन्ति।

तए णं से उज्जित्यए दारए सयाओ गिहाओ निच्छुद्दे समाणे बाणियगामे नगरे सिघाडग जाव (तिग-चउदक-चरचर-महापह-) पहेसु जूयखलएसु, बेसिथाघरेसु पाणागारेसु य सुहंसुहेण परिषद्गुड। तए णं से उज्जित्यए दारए अणोहट्टए अनिवारए सञ्चन्दमई सङ्करण्यारे चज्जप्तसंगो चोरजूयबेस-दारप्तसंगो जाए यावि होत्था। तए णं से उज्जित्यए अन्नया कथाहुं कामज्जयाए गणियाए संपत्तगो

जाए यावि होत्था । कामजङ्गयाए गणियाए सर्दि विरलाइ उरालाइ माणुस्सगाई भोगभोगाई भुजमाणे विहरइ ।

२०—तदनन्तर नगररक्षक पुरुषों ने सुभद्रा सार्थवाही की मृत्यु के समाचार जानकर उजिम्मतक कुमार को अपने घर से निकाल दिया और उसके घर को किसी दूसरे को (जो उजिम्मतक के पिता से हयये मांगता था, अधिकारी लोगों ने उजिम्मतक को निकाल कर रूपयों के बदले उसका घर उस उत्तमणि को) सौंप दिया ।

अपने घर से निकाला जाने पर वह उजिम्मतक कुमार वाणिजग्राम नगर के त्रिपथ, चतुर्पथ, चत्वर, राजमार्ग एवं सामान्य मार्गों पर, द्यूतगृहों, वेश्यागृहों व मध्यपानगृहों में सुखपूर्वक भटकने लगा । तदनन्तर वेरोकटोक स्वच्छन्दमति एवं निरंकुश बना हुआ वह चौर्यकर्म, द्यूतकर्म, वेश्यागमन और परस्त्रीगमन में आसक्त हो गया । तत्पश्चात् किसी समय कामद्वजा वेश्या के साथ विपुल उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी विषयभोगों का उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करने लगा ।

२१—तए ण तस्स विजयमित्तस्स रजो अश्या क्याइ सिरोए वेबीए जोणिसूले पाउबूए यावि होत्था । नो संचाएइ विजयमित्ते राया सिरोए वेबीए सर्दि उरालाइ माणुस्सगाई भोग-भोगाई भुजमाणे विहरित्तए ।

तए ण विजयमित्ते राया अश्या क्याइ उजिम्मतदारयं कामजङ्गयाए गणियाए गिहाओ निच्छु-भावेइ, निच्छुभावित्ता कामजङ्गयं गणियं अविभत्तियं ठावेह, ठावहत्ता कामजङ्गयाए गणियाए सर्दि उरालाइ भोगभोगाई भुजमाणे विहरइ ।

२१—तदनन्तर उस विजयमित्र राजा की श्री नामक देवी को योनिष्टूल (योनि में होने वाला वेदना-प्रधान रोग) उत्पन्न हो गया । इसलिये विजयमित्र राजा अपनी रानी के साथ उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगने में समर्थ न रहा । अतः अन्य किसी समय उस राजा ने उजिम्मतककुमार को कामद्वजा गणिका के स्थान से निकलवा दिया और कामद्वजा वेश्या के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार-प्रधान विषयभोगों का उपभोग करने लगा ।

२२—तए ण से उजिम्मयए वारय कामजङ्गयाए गणियाए गिहाओ निच्छुभेमाणे कामजङ्गयाए गणियाए भुच्छिए, गिछे, गढ़िए, अज्ञोबवन्ने अनन्त्य कत्थइ सुइं च रइं च धिइं च अविन्दमाणे तच्छत्ते तम्भणे तल्लेसे तद्ग्नवसाणे तद्ग्नोबउत्ते तप्पियकरणे तद्ग्नावणामाविए कामजङ्गयाए गणियाए अहूणि अन्तराणि य छिडुणि य पडिजागरमाणे-पडिजागरमाणे विहरइ । तए ण से उजिम्मयए वारए अन्यथा क्याइ कामजङ्गयं गणियं अंतरं लभेइ, लभिता कामजङ्गयाए गणियाए गिहं रहस्यिं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता, कामजङ्गयाए गणियाए सर्दि उरालाइ माणुस्सगाई भोगभोगाई भुजमाणे विहरइ ।

२३—तदनन्तर कामद्वजा गणिका के घर से निकाले जाने पर कामद्वजा गणिका में मूच्छित (उसके ही ध्यान में मूढ़—पागल बना हुआ) गृद्ध (उस वेश्या की ही आकांक्षा—इच्छा रखने वाला) ग्रथित (उसके ही स्नेहजाल में जकड़ा हुआ) और अध्युपपत्र (उस वेश्या की ही चिन्ता में आसक्त

रहने वाला) वह उजिभतक कुमार अत्यन्त कहीं भी समृति—समरण, रति—प्रीति व धृति—मानसिक शान्ति को प्राप्त न करता हुआ, उसी में चित्त व मन को लगाए हुए, तद्विषयक परिणामवाला, तद्विषयक श्रद्धयवसाय-योगक्रिया, उसी सम्बन्धी प्रयत्न-विशेष वाला, उसकी ही प्राप्ति के लिए उच्यत, उसी में मन वचन और इन्द्रियों को समर्पित करने वाला, उसों की आवश्या से भावित होता हुआ कामध्वजा वेश्या के अनेक अन्तर (ऐसा अवसर कि जिस समय राजा का आगमन न हो) छिद्र (राज-परिवार का कोई व्यक्ति भी न हो) व विवर (कोई सामान्य पुरुष भी जिस समय न हो) की गवेषणा करता हुआ जीवनयापन कर रहा था।

तदनन्तर वह उजिभतक कुमार किसी अन्य समय में कामध्वजा गणिका के पास जाने का अवसर प्राप्तकर गुप्तरूप से उसके घर में प्रवेश करके कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार विधयभोगों का उपभोग करता हुआ जीवनयापन करने लगा।

२३—इमं च णं बलमित्ते राया एहा जाव (कथबलिकम्मे कथकोउअमंगल) पावच्छित्ते सब्बालंकारविभूसिए भणुस्सवागुरापरिविखले जेणेव कामज्ञयाए गणियाए गेहे सेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तथ्य णं उजिस्यए दारए कामज्ञयाए गणियाइ सद्दि उरालाई भोग-भोगाई जाव विहरमाणं पासइ, पसित्ता आसुल्ले रुट्ठे, कुविए चंडिकिए मिसिमिसेमाणे तिवलियभिर्डिनि निहाले साहट्टु उजिस्यगं दारणं पुरिसेहि गिण्हावेहि, गेण्हाविसा अट्टु-मुट्टु-जाणु-कोप्पर-पहार-संभग-महिषगतं करेहि, करेत्ता अवओडयबन्धणं करेहि, करेत्ता एएणं विहाणेणं वज्ज्ञां व्याणवेहि।

एवं खनु, गोयमा ! उजिस्यए दारए पुरापोराणाणं कम्माणं जाव एष्वणुभवमाणे विहरहि।

२४—इधर किसी समय बलमित्र नरेश, स्नान, बलिकर्म, कोतुक, मंगल (दुष्ट स्वप्नों के फल को विनष्ट करने के लिये) प्रायश्चित्त के रूप में मस्तक पर तिलक एवं भाँगलिक कार्य करके सर्वं श्रलं-कारों से श्रलंकृत हो, मनुष्यों के समूह से घिरा हुआ कामध्वजा वेश्या के घर गया। वहीं उसने कामध्वजा वेश्या के साथ मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हुए उजिभतक कुमार को देखा। देखते ही वह कोष से लाल-पीला हो गया। मस्तक पर त्रिवलिक भृकुटि—तीन रेखाओं वाली भोह (लोचन-विकारविशेष) चढ़ाकर अपने अनुचरों के द्वारा उजिभतक कुमार को पकड़दाया। पकड़दाकर यष्टि (लकड़ी), मुष्टि (मुक्का), जानु (घूटना), कूर्पर (कोहनी) के प्रहारों से उसके शरीर को चूर-चूर और मधित करके अबकोटक बन्धन (जिस बन्धन में श्रीवा को पृष्ठ भाग में ले जाकर हाथों के साथ बांधा जाय) से बांधा और बांधकर ‘इसी प्रकार से यह बच्य है’ (जैसा तुमने देखा है) ऐसो आज्ञा दी।

हे गौतम ! इस प्रकार वह उजिभतक कुमार पूर्वकृत पापमय कर्मों का फल भोग रहा है।

उजिभतक का भविष्य

२५—‘उजिस्यए णं भत्ते ! दारए इओ कालमासे कालं किल्वा कहि गच्छहिहि, कहि उववजिजहिहि ?’

गोयमा ! उजिस्यए दारगे पण्डीसं दासाई परमात्मय पालइला अजेव तिमाणावसेसे दिवसे सुखीभिन्ने कहए समाजे कालमासे कालं किल्वा इनीसे रथणप्पभाए पुढवीए नेरहयत्ताए उववजिजहिहि।

से यं तथो अण्टरं उम्बद्विसा इहेव जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे वेयबुगिरिपायभूले वाणरकुलंसि वाणरत्ताए उवधजिजहिह । से यं लत्य उम्मुक्कबालभावे तिरियमोगेमु मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्ञो-वक्षन्ने, जाए जाए वाणरपेल्लए वहेह । तं एयकम्मे एथप्पहाणे एयविज्ञे एयसमायारे कालमासे कालं किच्चा इहेव जम्बुद्वीवे दीवे भारहे वासे इन्द्रपुरे नथरे गणियाकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिह ।

तए यं तं वारथं अम्मापियरो जाथमेतकं वद्धेहिन्ति, नपुंसगकम्मं सिक्खावेहिति । तए यं लस्स वारगस्स अम्मापियरो निष्वत्तम्भारसाहस्स इयं एयारुवं नामघेज्जं करेहिति, तं जहा—‘होउ यं अम्हं इमे वारए पियसेणं नामं नपुं सए ।’ तद् यं से पियसेणं नपुंसए उम्मुक्कबालभावे जोव्यवणगमण्डपत्ते विश्वयपरिणयमेसे रुदेण य जोरवणेण य सावणेण य उकिकट्ठे उकिकट्ठुसरीरे भविस्सइ ।

तए यं से पियसेणे नपुंसए इन्द्रपुरे नथरे वहुवे राईसर-जाव (तलवर-माडंविय-कोडुंविय-इन्न-सेट्टु-सेणावड-) पमिहओ जहूयि य विज्ञापयोगेहि य मंतचुण्णेहि य हियच्छावणाहि य निष्ववणेहि य पण्हवणेहि य वसीकरणेहि य आभियोगिएहि य अभियोगिता उरालाईं माणुस्सगाईं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरिस्सइ ।

२४—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे प्रभो ! यह उजिभतक कुमार यहाँ से कालमास में काल करके कहाँ जायेगा ? और कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गौतम ! उजिभतक कुमार २५ वर्ष की पूर्ण आयु को भोगकर आज ही त्रिभागाव-शेष दिन में (दिन के चौथे प्रहर में) शूली हारा भेद को प्राप्त होकर कालमास में काल करके—मर कर रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारक रूप में उत्पन्न होगा । वहाँ से निकलकर सीधा इसी जम्बुद्वीप नामक द्वीप में भारतवर्ष के वेताहृषि पर्वत के पादमूल—तलहटी (पहाड़ के नीचे की भूमि में) वानर कुल में वानर के रूप में उत्पन्न होगा । वहाँ पर बालभाव को त्यागकर युवावस्था को प्राप्त होता हुआ वह पशु सम्बन्धी भोगों में मूर्च्छित, गृह—स्थित भोगों के स्नेहपात्र में जकड़ा हुआ और भोगों ही में मन को लगाये रखने वाला होगा । वह उत्पन्न हुए वानरशिशुओं का अवहनन (धात) किया करेगा । ऐसे कुकर्म में तल्लीम हुआ वह काल-मास में काल करके इसी जम्बुद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत इन्द्रपुर नामक नगर में गणिका के घर में पुत्र रूप में उत्पन्न होगा । माता-पिता उत्पन्न होते ही उस बालक को बद्धितक (नपुंसक) बना देंगे और नपुंसक के कार्य सिखलाएंगे । वारह दिन के अन्तीम ही जाने पर उसके माता-पिता उसका ‘प्रियसेन’ यह नामकरण करेंगे । बाल्यभाव को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त तथा विज्ञ—विशेष ज्ञान वाला, एवं बुद्धि आदि की परिपक्व अवस्था को उपलब्ध करने वाला वह प्रियसेन नपुंसक रूप, यौवन व लावण्य के द्वारा उत्कृष्ट-उत्तम और उत्कृष्ट जरीर वाला होगा ।

तदनन्तर वह प्रियसेन नपुंसक इन्द्रपुर नगर के राजा, ईश्वर यावत् अन्य मनुष्यों को अनेक प्रकार के प्रयोगों से, मन्त्रों से मन्त्रित चूर्ण, भस्म आदि से, हृदय को शून्य कर देने वाले, अदृश्य कर देने वाले, वश में करने वाले, प्रसन्न कर देने वाले और पराधीन कर देने वाले प्रयोगों से वशीभूत करके मनुष्य सम्बन्धी उदार भोगों को भोगता हुआ समययापन करेगा ।

२५—तए यं से पियसेणे नपुंसए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्ञे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समजिज्ञिता एकवोसं वाससयं परमाडयं पालद्विसा कालमासे कालं किच्चा इमोसे रथणप्पभाए

पुढ़वीए मेरइयत्ताए उबवज्जिहिए । तत्तो सरीसवेसु संसारो तहेब जहा पढ़मे' जाब पुढ़वि० । से ० तओ अण्ठतरं उबवट्टिता इहेब जम्बूद्वीपे बीबे भारहे घासे चम्पाए नगरीए महिसत्ताए पश्चायाहिह । से ० तरथ अन्नया कयाह गोद्विल्लएहिं जीवियाओ बवरोविए समाणे तत्थेब चम्पाए नगरीए सेद्विकुलंसि पुसत्ताए पश्चायाहिह । से ० सत्य उभ्युपकल्यालभावे तहारूपाणं येराण अंतिए केवलं बोहिं बुजिसहिह, अणगारे भविस्सह, सोहम्मे कप्पे, जहा पढ़मे, जाब अंतं करेहिह, ति निक्खेबो ।

२५ इस तरह वह प्रियसेन नपुंसक इन पापपूर्ण कामों में ही (अपना कर्त्तव्य, प्रधान लक्ष्य, विशान एवं सर्वोत्तम आचरण) बनाएगा । इन दुष्प्रवृत्तियों के द्वारा वह बहुत पापकर्मों का उपार्जन करके १२१ वर्षों की परम श्रायु की भोगकर मृत्यु के समय में मृत्यु को प्राप्त होकर इस रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारक के रूप में उपत्थ होगा । वहाँ से निकलकर सरीसृप—छाती के बल से चलने वाले सर्व आदि प्राणियों को योनियों में जन्म लेगा । वहाँ से उसका संसार-अमण प्रथम अध्ययन में वर्णित मृगापुत्र की तरह होगा यावत् पृथिवीकाय आदि में जन्म लेगा । वहाँ से निकलकर इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भूरतवर्ष की चम्पा नामक नगरी में भैसा (महिष) के रूप में जन्म लेगा । वहाँ गोष्ठिकों-मित्रमण्डली के द्वारा मारे जाने पर उसी नगरी के श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा । वहाँ पर बाल्यावस्था को पार करके योवन अवस्था को प्राप्त होता हुआ वह तथारूप-विशिष्ट संयमी स्थविरों के पास शंका कांक्षा आदि दोषों से रहित बोधिलाभ को प्राप्तकर अनगार धर्म को अहं करेगा । वहाँ से कालमास में कालकर सौषर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा । यावत् मृगापुत्र के समान कर्मों का अन्त करेगा । यहाँ इस अध्ययन का निष्ठेप समझ लेना चाहिए ।

तृतीय अध्यायन अभरनसेन

उत्क्षेप

१—त्रिशत् उड्डेते ।

१—तृतीय अध्यायन की प्रस्तावना पूर्ववत् ही जान लेनी चाहिये ।

२—तेण कालेण तेण समाएं पुरिमताले नामं नयरे होत्था, रिद० ।^१ तस्य यं पुरिमतालस्स
नयरस्स उत्तरपुरत्थमे विसीभाए एत्य यं अमोहवंसणे (अमोहवंसी) उज्जाणे । तत्य यं अमोहवंसिस्स
जवलस्स जवलाययणे होत्था । तत्य यं पुरिमताले महब्बले नामं राया होत्था ।

२—उस काल उस समय में पुरिमताल नामक एक नगर था । वह भवतादि की अधिकता से
तथा धन-धान्य आदि से परिपूर्ण था । उस पुरिमताल नगर के ईशान-कोण में अमोघदर्शी नामक एक
चब्बान था । उस उच्चान में अमोघदर्शी नामक यक्ष का एक यक्षायतन था । पुरिमताल नगर में
महाबल नामक राजा राज्य करता था ।

चोरपल्ली

३—तत्य यं पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरपुरत्थमे दिसीभाए वेलपूर्णे अडवी संठिया । इत्य
यं सालाहवी नामं चोरपल्ली होत्था । दिसम-मिरिकन्वरकोलम्बसंनिविटा वंसीकलंकपागारपरिविक्षता
छिद्धसेलविसमप्यवायफरहोवगृहा अङ्गितरपाणीया सुदुस्लभजलपेरंता श्रणेगखण्डी विवियजणदिन-
निगमपवेसा सुबहुयस्स वि कुचियस्स जणस्स दुष्पहंसा यावि होत्था ।

३—उस पुरिमताल नगर के ईशान कोण में सीमान्त पर स्थित अटवी में शालाटवी नाम की
चोरपल्ली (चोरों के रहने का प्रचलित स्थान) थी जो पर्वतीय भूयंकर गुफाओं के प्रान्तभाग—किनारे
पर स्थित थी । बांस की जाली की बनी हुई बाढ़रूप प्राकार (कोट) से चिरी हुई थी । छिप— अपने
अवयवों से कट छुए—पर्वत के ऊचे-नीचे प्रपात-गर्तारूप खाई बालों थी । उसमें पानी की पर्याप्ति
सुविधा थी । उसके बाहर दूर-दूर तक पानी अप्राप्य था । उसमें भागने वाले मनुष्यों के मार्गरूप अनेक
गुप्तद्वार थे । जानकार व्यक्ति ही उसमें तिर्गम-प्रवेश (आवागमन) कर सकता था । बहुत से मोष-
व्यावर्तक—चोरों से चुराई वस्तुओं को वापिस लाने के लिये उच्चत मनुष्यों द्वारा भी उसका पराजय
नहीं किया जा सकता था ।

चोरसेनापति विजय

४—तत्य यं सालाहवीए चोरपल्लीए विजय नामं चोरसेनावई परिवसइ । अहम्मिए जाव
(अहम्मिद्धे अहम्मवार्हा अहम्माणुए अहम्मपलोई अहम्मपलज्जने अहम्मसीलसमुदायारे अहम्मेण

चेद विंति कर्षेमाणे विहरइ-हण-छिद-भिद-विष्टतए) लोहियपाणी बहुनयरनिगथजसे, सूरे, दद्धपहारे, साहसिए, सहवेही परिषसइ असिलट्रिपडममल्से । से यं तत्थ सालाडबीए चोरपत्लीए पंचण्हं चोरसपाणी आहेवच्चं जाव (पोरेबच्चं सामित्तं भद्रित्तं महत्तरगतं आणाईसर-सेणावच्चं करेमाणे पालेमाणे विहरइ ।

४—उस शालाटबी चोरपत्ली में विजय नाम का चोर सेनापति रहता था । वह महा अधर्मी था यावत् (अधर्मनिष्ठ, अधर्म की बात करने वाला, अधर्म का अनुयायी, अधर्मदर्शी, अधर्म में अनुराग वाला, अधर्मचारशील, अधर्म से जीवन-यापन करने वाला, मारो, काटो, ढेंदो, भेदो, ऐसा ही बोलने वाला था) उसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे । उसका नाम अनेक नगरों में फैला हुआ था । वह शूरवीर, दृढ़प्रहरी, साहसी, शब्दवेषी—(विना देखे मात्र शब्द से लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त कर दीघने वाला) तथा तलवार और लाठी का अग्रभण्य-प्रधान थोड़ा था । वह सेनापति उस चोरपत्ली में पाँच सौ चोरों का स्वामित्व, अग्रेसरत्व, नेतृत्व, बड़णन करता हुआ रहता था ।

५—तत्थ यं से विजय चोरसेणावइ बहुणं चोराण य पारदारियाण य गंठिभेयाण य संधिच्छेयाण य खंडपद्माण य अन्नेति च बहुणं छिन्न-भिन्न बाहिराहियाणं कुडंगे याचि होत्या ।

तए यं से विजय चोरसेणावइ पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरपुरतिथमिलं जणवयं बहुहि गामघाएहि य नगरघाएहि य गोग्यहणेहि य बन्विग्यहणेहि य पन्थकोट्टेहि य खत्त-खणेहि य ओवोलेमाणे, विद्वंसेमाणे, तज्जेमाणे, तालेमाणे निद्वणे निद्वणे करेमाणे विहरइ महावलस्स रणो अभिक्षणं अभिक्षणं कर्पायं गेण्हुइ ।

५—तदनन्तर वह विजय नामक चोरसेनापति अनेक चोर, पारदारिक—परस्त्रीलम्पट, ग्रन्थिभेदक—गांठ काटने वाले, सन्धिच्छेदक—सांध लगाने वाले, जुआरी) धूतं वगैरह लोग (कि जिनके पास पहिनने के लिये वस्त्र-खण्ड भी न हो) तथा अन्य बहुत से छिप—हाथ आदि जिनके कटे हुए हैं, भिन्न नासिका आदि से रहित तथा शिष्टमण्डली से बहिष्कृत व्यक्तियों के लिये कुट्टङ्क-बांस के बन के समान गोपक या संरक्षक था ।

वह विजय चोरसेनापति पुरिमताल नगर के ईशान कोणगत जनपद—देश—को अनेक ग्रामों को नष्ट करने से, अनेक नगरों का नाश करने से, गाय आदि पशुओं के अपहरण से, वैदियों को चुराने से, पथिकों को लूटने से, खात—संध लगाकर चोरी करने से, पीड़ित करता हुआ, विघ्वस्त करता हुआ, तजित—तर्जनायुक्त करता हुआ, चावुक आदि से ताडित करता हुआ, स्नानरहित घनरहित तथा आन्ध्यादि से रहित करता हुआ तथा गहावल राजा के राजदेयकर—महसूल की भी बारम्बार स्वयं ग्रहण करता हुआ समय व्यतीत करता था ।

अभ्यन्तरसेन

६—तस्स यं विजयस्स चोरसेणावइस्स खन्वसिरी नामं भारिया होत्या, अहोण० ।^१ तस्स

एं विजयचोरसेणादहस्स पूते खंवसिरोए भारिथाए असए अभग्नसेणे नामं वारए होथा, अहीण—
पडिपुण्णवंचिवियसरीरे विन्तायपरिणपमेत्ते जोब्बणयमण्णप्तते ।

६—उस विजय नामक चोरसेनापति की स्कन्दश्री नाम की परिपूर्ण पांच इन्द्रियों से युक्त सबौगसुन्दरी यत्नी थी । उस विजय चोरसेनापति का पुत्र एवं स्कन्दश्री का आत्मज अभग्नसेन नाम का एक बालक था, जो धान्यून—समूणं पांच इन्द्रियों वाला—संगठित शरीर वाला तथा विशेष ज्ञान रखने वाला और बुद्धि की परिपक्वता से युक्त योवनावस्था को प्राप्त किये हुए था ।

७—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुरिमतालनयरे समोसदे । परिसा निभाया । राया निग्नओ । धर्मो कहिओ । परिसा राया य पडिगओ ।

८—उस काल तथा उस समय में पुरिमताल नगर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे । परिषद-जनसमूह धर्मदेशमा श्रवण करने गये । राजा भी गया । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया । धर्मोपदेश मुनकर राजा तथा जनता वापिस अपने स्थान को लौट आये ।

९—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवान्नो महावीरस्स जेट्ठे अन्तेधासी गोयमे जाव॑ रायमन्नं समोगाहे । तत्थं एं बहवे हृत्यो पासइ, बहवे आसे, पुरिसे सम्नद्वब्रह्मकवए । तेसि एं पुरिसाणं भज्मगयं एंग पुरिसं पासइ अबओङ्यबंधणं जाव॒ उघोसिज्जमाणं । तए एं तं पुरिसं रायपुरिसा पढमंसि खच्चरंसि निसीयावेन्ति, निसीयावेत्ता अहु चुल्लपिवए अग्नाओ धाएन्ति, धाएत्ता कसप्पहारेहि तालेमाणा कलुणं कागणिमंसाइ खावेति, रहिरपाणियं च पाएन्ति । एवं तच्चे खच्चरे अद्भुमहापिवए, खजत्ये अहु महामाडयाओ, पंचमे पुते, छट्ठे सुष्णाओ, सत्तमे जामाडया, अहुमे धूयाओ, नवमे नक्तुया, दसमे नक्तुईओ, एककारसमे नक्तुयावई, दारसमे नक्तुइणीओ, सेरसमे पितुसियपहया, चोहसमे पियुस्सियाओ, पन्नरसमे माउसियापहया, सोससमे माउसियाणो, सत्तरसमे मामियायो, अद्वारसमे अदसेसं मिल-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं अग्नाओ धाएन्ति धाएसा कसप्पहारेहि तालेमाणा कलुणं कागणिमंसाइ खावेति, रहिरपाणियं च पाएन्ति ।

१०—उस काल एवं उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रधान शिष्य श्री गौतम स्वामी राजमार्ग में पधारे । वहाँ उन्होंने बहुत से हाथियों, घोड़ों तथा सेनिकों की तरह शस्त्रों से सुसज्जित और कवच पहने हुए अनेक पुरुषों को देखा । उन सब पुरुषों के बीच अवकोटक बन्धन^३ से युक्त उद्धोषित एक पुरुष को भी देखा, जैसा दूसरे अध्ययन में कहा गया है ।

तदनन्तर राजपुरुष उस पुरुष को खत्वर (चार मार्गों से अधिक मार्ग जहाँ एकत्रित हों) पर बैठाकर उसके आगे आठ लघुपिताओं (चाचाओं) को मारते हैं । तथा कशादि प्रहारों से ताड़ित करते हुए दयनीय स्थिति को प्राप्त हुए उस पुरुष को उसके ही शरीर में से काटे गये मास के छोटे-छोटे

१. द्वि. अ., सूत्र-६

२. द्वि. अ., सूत्र-६

३. द्वि. अ., सूत्र-७

टुकड़ों को खिलाते हैं और रुधिर का पान कराते हैं। तदनन्तर द्वितीय चत्वर पर उसकी आठ लघु-माताओं को (चाचियों को) उसके समक्ष ताड़ित करते हैं और मांस खिलाते तथा रुधिरपान कराते हैं। इसी तरह तीसरे चत्वर पर आठ महापिताओं (पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं—ताउओं) को, चौथे चत्वर पर आठ महामाताओं (पिता के ज्येष्ठ भ्राताओं की धर्मपत्नियों—ताइयों) को, पांचवे पर पुत्रों को, छठे पर पुत्रवधुओं को, सातवें पर जामाताओं को, आठवें पर लड़कियों को, नवमे पर नाताओं (पौत्रों व दोहियों) को, दसवें पर लड़के और लड़कियों की लड़कियों (पौत्रियों व दोहित्रियों) को, एाहरवें पर नातकापतियों (पौत्रियों व दोहित्रियों के पतियों) को, तेरहवें पर पिता की बहिनों के पतियों (फूकाओं) को, चौदहवें पर पिता की बहिनों (बुआओं) को, पन्द्रहवें पर माता की बहिनों के पतियों (मोसाओं) को, सोलहवें पर माता की बहिनों को (मोसियों को,) सत्रहवें पर मामा की स्त्रियों (मामियों) को, अठारहवें पर शेष मित्र, जाति, स्वजन सम्बन्धी और परिजनों को उस पुरुष के ग्रागे मारते हैं तथा चाकुक के प्रहारों से ताड़ित करते हुए वे राजपुरुष करणाजनक उस पुरुष को उसके शरीर से निकाले हुए मांस के टुकड़े खिलाते और रुधिर का पान कराते हैं।

अभग्नसेन का पूर्वभव

९—तए ण से भगवं गोयमे तं पुरिसं पासइ पासिता इमे एयारुवे जाव समुप्पने जाव तहेव निग्गए एवं बयासी—‘एवं खलु अहं णं भंते ! तं चेव जाव से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी’ जाव विहरइ !

१०—तदनन्तर भगवान् गीतम् के हृदय में उस पुरुष को देखकर यह सङ्कल्प उत्पन्न हुआ यावत् पूर्ववत् वे नगर से बाहर निकले तथा भगवान् के पास आकर निवेदन करने लगे—भगवन् ! मैं आपकी आज्ञानुसार नगर में गया, वहाँ मैंने एक पुरुष को देखा यावत् भगवन् ! वह पुरुष पूर्वभव में कौन था ? जो इस तरह अपने कर्मों का फल पा रहा है ?

अभग्नसेन का निष्पयभव

१०—एवं खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जंबूदीवे दीवे, भारहे वासे पुरिमताल नामं नयरे होत्था, रिद्धस्थमियसमिद्दे^१। तत्थ णं पुरिमताले नयरे उदिए नामं राया होत्था, अहया^२। तत्थ णं पुरिमताले निष्पाए नामं अंडयवाणिए होत्था। अङ्गे जाव^३ अपरिप्पए, अहम्मिए^४ जाव दुष्पडियाणन्वे। तत्स णं निष्पयस्स बहवे पुरिसा दिन्नभइभत्वेयणा कलाकलिं कुदालियाओ य परिष्यपिङ्गए य गिष्ठंति, गिष्ठंता पुरिमतालस्स नगरस्स परिपेरन्तेसु बहवे काइअंडए य घृइअंडए य पारेवहअंडए य दिट्टिभिअंडए य बगि-मयरी-कुषकुडिअंडए य अन्तेसि च बहणं जलयर-यलयर-खहयरमाइणं अंडाइ गेष्ठंति, गेष्ठेता पत्थियेपिङ्गराइ भरेति, भरेता जेणेव निन्नयए अंडशाणियए तेणामेव उवागच्छंति उवागच्छत्ता निन्नयस्स अंडवाणियस्स उवणेति ।

१०—इस प्रकार निश्चय ही है गीतम् ! उस काल तथा उस समय इस जम्बूदीप नामक द्वीप

१. औप. सूत्र-१

२. औप० सूत्र-१४

३. औप. सूत्र १४१

४. तृतीय अष्टयन-४

के अन्तर्गत भारतवर्ष में पुरिमताल नामक समृद्धिपूर्ण नगर था। उस पुरिमताल नगर में उदित नाम का राजा राज्य करता था, जो हिमालय पर्वत की तरह महान् था। उस पुरिमताल नगर में निर्णय नाम का एक अण्डों का व्यापारी भी रहता था। वह द्वन्द्वता पराभव को न प्राप्त होने वाला, अधर्मी यावत् (अधर्मानुयायी, अधर्मेनिष्ठ, अधर्म की कथा करने वाला, अधर्मदर्शी, अधर्मचारी) एवं परम असन्तोषी था।

निर्णय नामक अण्डवणिक के अनेक दक्षभूतिभवत्वेतन (रूपे पंसे और भोजन के रूप से वेतन ग्रहण करने वाले) अनेक पुरुष प्रतिदिन कुट्टाल व बांस की पिटारियों को लेकर पुरिमताल नगर के चारों ओर अनेक, कौबी (कौए की मादा) के अण्डों को, घूकी (उल्लू की मादा) के अण्डों को कबूतरी के अण्डों को, बगुली के अण्डों को, मोरनी के अण्डों को, मुर्गी के अण्डों को, तथा अनेक जलचर, स्थलचर, व खेचर आदि जीवों के अण्डों को लेकर पिटारियों में भरते थे और भरकर निर्णय नामक अण्डों के व्यापारी के पास आते थे, आकर उस अण्डव्यापारी को अण्डों से भरी हुई वे पिटारियाँ देते थे।

११—तए णं तस्य निन्नयस्स अङ्डवाणियस्स बहुवे पुरिसा विन्नभइमत्त्वेयणा बहुवे काइ अण्डए जाव । कुकुडिअण्डए य अन्नेसि च बहूण जलयर-यलयर-खहयरमाईणं अण्डयए तवएसु य कवल्लीसु य कंदुएसु य मज्जणएसु य इंगालेसु य तलेति, मज्जेति, सोल्लेति, तत्तिता भज्जता सोलेत्ता रायमग्ने अंतरावण्णेसि अङ्डयपणिएणं वित्ति कथेमाणा विहरति । अप्पणा यादि णं से निन्नयए अण्डवाणियए तेहि बहूहि काइअङ्डएहि य जाव कुकुडिअङ्डएहि य तत्तिएहि य भज्जएहि य सुरं च महुं च मेरगं च जाहं च सीधुं च आसाएमाणे-४ विवरइ ।

११—तदनन्तर वह निर्णय नामक अण्डवणिक के अनेक वेतनभोगी पुरुष बहुत से कौबी यावत् कुकड़ी के अण्डों तथा अन्य जलचर, स्थलचर एवं खेचर आदि पूर्वोक्त जीवों के अण्डों को तवों पर कड़ाहों पर हाथों में एवं अंगारों में तलते थे, भूनते थे, पकाते थे। तलकर, भूनकर एवं पकाकर राजमार्ग की मध्यवर्ती दुकानों पर अण्डों के व्यापार से आजीविका करते हुए समय व्यतीत करते थे। वह निर्णय नामक अण्डवणिक स्वयं भी अनेक कौबी यावत् कुकड़ी के अण्डों के, जो कि पकाये हुए, तले हुए और भुने हुए थे, साथ ही मुरा, मधु, मेरक, जाति तथा सीधु, इन पंचविधि मदिराओं का आस्वादन करता हुआ जीवन-यापन कर रहा था।

अमग्नसेन का वर्तमान-भव

१२—तए णं से निन्नए अङ्डवाणियए एयकम्मे एयप्पहुणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मे समज्जिणिता एरं वाससहस्रं परमाडयं पालहसा कालमासे कालं किञ्च्चा तच्चाए पुढवीए उवकोसेणं सत्सागरोवमठिहएसु नेरहएसु नेरहयत्ताए उववन्ने । से णं तओ अणंतरं उव्वहिता इहेष सालावडीए चोरपल्लीए विजयस्स खोरसेणावइस्स खंदसिरोए भारियाए कुचिछिसि पुत्तताए उववन्ने ।

१२—तदनन्तर वह निर्णय नामक अण्डवणिक इस प्रकार के पापकमों का करने वाला अत्यधिक पापकमों को उपाजित करके एक हजार वर्ष की परम आयुष्य को भोगकर मृत्यु के समय में

मृत्यु को प्राप्त करके तो सरो पृथ्वी—नरक में उत्कृष्ट सात सागरोपम को स्थितिवाले हारकों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ। वह निर्णयनामक प्रणवणिक् नरक से तिकलकर विजयनामक चोरसेनापति की स्कन्दश्री भार्या के उदर में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

१३—तए ण तीसे खन्वसिरोए भारियाए अन्नया कयाइ तिष्ठं मासाणं बहुपदिपुण्णाणं इमे एयारुवे बोहले पाउबमूए। ‘धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाओ णं बहौहि मित्त-नाहि-नियग-सयण-संबंधि-परियणभहिलाहि अन्नाहि य चोरभहिलाहि साँद्रु संपारवुडा प्लाया कयचलिकम्मा जाव (कयकोउयमंगल-) पायच्छ्रुता सव्वालंकारविभूसिया विडलं असणं पाणं खाइयं साइयं सुरं च अजजं च आसाएमाणी विसाएमाणी परिभाएमाणी परिभुजेमाणी बिहरति। जिमियभुत्तरागयाओ पुरिसनेवस्थिया सन्नद्युबद्यम्मयकवद्या जाव’ गहिथाउहृप्पहरणा भरिएहि फलएहि, निविकट्टाहि असीहि, अंसागएहि तोणेहि सजोवेहि धण्हि, समुकिखतेहि सरेहि, समुल्लासियाहि वामाहि लंबियाहि य ओसारियाहि उसघण्टाहि, छिप्पत्रेणं वज्जमाणेणं यहया उकिकट्टु जाव (सीहनाय-सोल-कलकलरत्नेण) समुद्रवभूयं पिव करेमाणीओ सालाहवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंता आलोएमाणीओ आलोएमाणीओ आहृडमाणीओ बोहलं विषेन्ति। तं जह अहं पि जाव दोहलं विषिङ्गापि’ ति कट्टु तंसि बोहलंसि अविषिङ्गमाणंसि जाव सुवका भुवका जाव अटूज्वा-णोवगया भूमिगमविट्टीया भियाइ।

१३—किसी अन्य समय लगभग तीन मास परिपूर्ण होने पर स्कन्दश्री को यह दोहद (संकल्प) उत्पन्न हुआ—वे माताएँ अन्य हैं, जो मित्र, जाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धियों और परिजनों की महिलाओं तथा अन्य महिलाओं से परिवृत होकर स्नान यावत् अनिष्टोत्पादक स्वप्नादि को निष्फल बनाने के लिए प्रायश्चित्त रूप में माझलिक कृत्यों को करके सर्वप्रकार के अलंकारों से अलंकृत हो, बहुत प्रकार के अशान, पान, खादिम स्वादिम पदार्थों तथा सुरा, मधु, मेरक, जाति और प्रसन्नादि मदिराओं का आस्वादन, विस्वादन, परिभाजन और परिभोग करती हुई विचरती हैं, तथा भोजन के पश्चात् जो उचित स्थान पर उपस्थित हुई हैं, जिन्होंने पुरुष का वेष पहना हुआ है और जो दृढ़ बन्धनों से बंधे हुए, लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच-लोहमय बख्तर को शरीर पर धारण किए हुए हैं, यावत् आयुध और प्रहरणों से युक्त हैं, तथा वाम हस्त में धारण किये हुए फलक-ठालों से, कोश—स्थान से बाहर निकली हुई तलवारों से, कन्धे पर रखे हुए तरकशों से, ऊंचे किये हुए पाणों-जालों अथवा शस्त्रविशेषों से, सजीव-प्रत्यंचा युक्त धनुषों से, मम्यकतया फेंके जाने वाले बाणों से, लटकती व अवसारित चालित जंघा-घण्टियों के द्वारा तथा जिप्रतूर्यं (शीघ्र बजाया जाने वाला बाजा) बजाने से महान् उत्कृष्ट-आनन्दमय महाध्वनि से समुद्र की आवाज के समान आकाशमण्डल को शब्दायमान करती हुई शालाटवी नामक चोरपल्ली के चारों ओर अवलोकन तथा उसके चारों तरफ अभ्यन्न करती हुई अपना दोहद पूर्ण करती हैं।

क्या अच्छा हो यदि मैं भी इसी भाँति अपने दोहद को पूर्ण करूँ? ऐसा विचार करने के पश्चात् वह दोहद के पूर्ण न होने से उदास हुई, दुबली पतली और जमीन पर नजर गढ़ाए आतं अ्यान करने लगी।

१४—तए ण से विजए चोरसेणावइ खंदसिरि भारियं ओहयमणसंकप्यं जाव पासइ, पासिता एवं वयासी—‘कि ण तुम देवाणुप्यिया । ओहयमणसंकप्या जाव शियासि ?’

तए ण सा खंदसिरी विजयचोरसेणावइ एवं वयासी—‘एवं खसु देवाणुप्यिया । नम तिष्ठं मासाण जाव शियामि ।’

तए ण से विजए चोरसेणावइ खंदसिरीए भारियाए अंतिए एयमटुं सोच्चा निशम्भ खंद-सिरिभारियं एवं वयासी—‘अहासुहं देवाणुप्यिए !’ ति एयमटुं पढिसुणेइ !

१४—तदनन्तर विजय चोरसेनापति ने आर्तध्यान करती हुई स्कन्दश्री को देखकर इस प्रकार पूछा—देवानुप्रिये ! तुम उदास हुई क्यों आर्तध्यान कर रही हो ?

स्कन्दश्री ने विजय चोरसेनापति के उक्त प्रश्न के उत्तर में कहा—देवानुप्रिय ! मुझे गर्भ धारण किये हुए तीन मास हो चुके हैं । मुझे पूर्वोक्त दोहद हुआ, उसकी पूति न होने से कर्तव्य-अकर्तव्य-शून्य होकर शोकाकुल एवं आर्तध्यान कर रही हूँ ।

तब विजय चोरसेनापति ने अपनी स्कन्दश्री भार्या का यह कथन सुन और समझ कर स्कन्दश्री भार्या को इस प्रकार कहा—हे सुभगे ! तुम इस दोहद की अपनी हळ्ढा के अनुकूल पूति कर सकती हो, इसकी चिन्ता न करो ।

१५—तए ण सा खंदसिरिभारिया विजएण चोरसेणावइण। अवमण्नाया समाणी हट्टा तुट्टा बहौहि मित्त-नाइ-नियग-समण-संबंधि-परियण-महिलाहि जाव अन्नाहि य बहौहि चोरभहिलाहि सद्बि संपरिवडा एहाया जाव विभूसिया विजलं असण-४ सुरं च-५ आसाएमाणी-४ विहरइ । जिभियभुसूल-रागया पुरिसनेवत्या सन्नद्धबद्ध० जाव आहिडमाणो दोहुलं विणेइ । तए ण सा खंदसिरिभारिया संपुण्णवोहसा, संमाणियदोहला विणीयदोहला वोच्छल्लवोहला संपन्नदोहला० तं गष्मं सुहंसुहेण परिवहुइ ।

१५—तदनन्तर वह स्कन्दश्री पति के वचनों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई । हषातिरेक से वहुत सहचारियों व चोरभहिलायों को साथ में लेकर स्नानादि से निवृत्त हो, अलंकारों से अलंकृत होकर विपुल अशन, पान, व सुरा मदिरा आदि का आस्वादन, विस्वादन करने लगी । इस तरह सबके साथ भोजन करने के पश्चात् उचित स्थान पर एकत्रित होकर पुरुषवेष को धारण कर तथा दृढ़ बन्धनों से बंधे हुए लोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को शरीर पर धारण करके यावत् भ्रमण करती हुई अपने दोहद को पूण करती है । तताश्चात् वह स्कन्दश्री दोहद के उम्पूर्ण होने, सम्मानित होने, विनीत होने, तथा सम्पन्न होने पर अपने उस गर्भ को परममुखपूर्वक धारण करती हुई रहने लगी ।

१६—तए ण सा चोरसेणावइणी नवण्हं मासाणं बहुपदिपुण्णाणं दारगं पयाया । तए ण से विजए चोरसेणावइ सहस दारगस्स भहया इडुसक्कारसमुदएणं दसरतं ठिडवडियं करेइ । तए ण से विजए चोरसेणावइ तस्स दारगस्स एवकारसमे विजलं असण-४ उववडावेह, उववडावित्ता मित्तनाइ० आमतेइ, आरंतिता जाव तस्सेव मित्तनाइ० पुरओ एवं वयासी—‘जम्हा ण अम्हं इमंसि दारगंसि गम्भगयंसि समाणंसि इमे एयालवे बोहले पात्तभूए, तम्हा ण होउ अम्हं बारए अम्भगसेण नामेण ।’

तए ण से अभग्नसेणे कुमारे पंचधाईपरिग्नहि ए जाव^१ परिवद्युइ। तए ण से अभग्नसेणे कुमारे उम्मुक्कबालभावे यादि होतथा। अदुदारियाओ, जाव अदुओ दाओ। उर्त्प जासाए भुञ्जमाणे विहरह।

१६—तदन्तर उस चोर सेनापति की पत्नी स्कन्दथी ने नौमाल के परिपूर्ण होने पर पुत्र को जन्म दिया। विजय चोरसेनापति ने भी दश दिन पर्यन्त महान् वंभव के साथ स्थिति-पतिह-कुलक्रमायत उत्सव मनाया। उसके बाद बालक के जन्म के ख्यारहवें दिन चिपुल श्रशान, पान, खादिम और स्वादिम तैयार कराया। मित्र, ज्ञाति, स्वजनों आदि को आमन्त्रित किया, जिमाया और उनके सामने इस प्रकार कहा, 'जिस समय यह बालक गर्भे में आया था, उस समय इसकी माता को एक दोहद उत्पन्न हुआ था (उस दोहद को भग्न नहीं होने दिया) अतः माता को जो दोहद उत्पन्न हुआ वह अभग्न रहा तथा निविज्ञ सम्पन्न हुआ। इसलिये इस बालक को 'अभग्नसेन' पह नामकरण किया जाता है।' तदन्तर वह अभग्नसेन बालक क्षीरधात्री आदि पांच धायमाताओं के हारा संभाला जाता हुआ बड़ि को प्राप्त होने लगा। अनुक्रम से कुमार अभग्नसेन ने बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था में प्रवेश किया। आठ कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। विवाह में उसके माता-पिता ने आठ-आठ प्रकार की वस्तुएँ प्रतिदान—दहेज में दी और वह ऊंचे प्रासादों में रहकर मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करने लगा।

१७—तए ण से विजय चोरसेणावई अग्नया क्याइ कालधम्मुणा संज्ञुते।

तए ण से अभग्नसेणे कुमारे पंचहि धोरसएहि सर्दि संपरिषुडे रोयमाणे, कंबमाणे, विलवमाणे विजयस्त चोरसेणावइस्त महया इडुसककारसमुदएम नीहरण करेह, करेत्ता, बहुइ सोइयाइ अच्छकिच्चाइ करेह, करेत्ता केणइ कालेण अप्पसोए जाए यादि होतथा।

१७—तत्पश्चात् किसी समय वह विजय चोरसेनापति कालधर्म (मरण) को प्राप्त हो गया।

उसकी मृत्यु पर कुमार अभग्नसेन ने पांच सौ चोरों के साथ रोते हुए, आक्रमन करते हुए और विलाप करते हुए अत्यन्त ठाठ के साथ एवं सत्कार सम्मान के साथ विजय चोरसेनापति का नीहरण—दाहसंस्कार किया। बहुत से लौकिक मृतककृत्य अर्थात् दाहसंस्कार से लेकर पिता के निमित्त किए जाने वाले दान भोजनादि कार्य किए। योड़े समय के पश्चात् अभग्नसेन शोक रहित ही गया।

१८—तए ण ते चोरपंचसयाइ अग्नया क्याइ अभग्नसेणे कुमारं सान्नाडवीए चोरपल्लीए महया महया इडुसककारेण चोरसेणावइत्ताए अभिसिंचति। तए ण से अभग्नसेणे कुमारे चोरसेणावई जाए अहम्मिए जाव^२ कप्पायं गिण्हइ।

१८—तदन्तर उन पांच सौ चोरों ने बड़े महोत्सव के साथ अभग्नसेन को शालाटवी नामक चोरपल्ली में चोर सेनापति के पद पर प्रस्थापित किया। सेनापति के पद पर नियुक्त हुआ वह

१. डि. ब., सूत्र १६

२. तृ. घ., सूत्र-४५

अभग्नसेन, अधार्मिक, अधर्मनिष्ठ, अधर्मदर्शी एवं अधर्म का आचरण करता हुआ यावत् राजदेय कर-
महसूल को भी ग्रहण करने लगा ।

१९—तए ण ते जाणवया पुरिसा अभग्नसेणेण चोरसेणावद्धणा बहुगामघायावणाहि ताविया
सवाणा अन्नमन्नं सद्वावेति, सद्वावेता एवं वयासी—

‘एवं खासु, वेदाणुप्तिया ! अभग्नसेणे चोरसेणावद्धि पुरिमतालस्स नयरस्स उत्तरिलं जणवये
बहुहि गामघाएहि जाव’ निद्वणे करेमाणे विहरइ । ‘तं सेयं खलु, वेदाणुप्तिया ! पुरिमताले नयरे
महाबलस्स रणो एयमटु विन्नवित्तए ।’

तए ण ते जाणवया पुरिसा एयमटु अन्नमन्नेण पडिसुणेति, पडिसुणेता महत्यं महग्यं महरिहं
रायारिहं पाहुङ्क गिण्हन्ति, गिण्हिता जेणेव पुरिमताले नयरे तेणेव उवागया, जेणेव महाबले राया
तेणेव उवागया । महाबलस्स रणो तं महत्यं जाव पाहुङ्क उवणेति, उवणेता करयलपरिमहियं मत्थए
अंजलि कट्टु महाबलं रायं एवं वयासी—

‘एवं खासु सामी ! सालावडीए चोरपल्लीए अभग्नसेणे चोरसेणावद्धि अम्हे बहुहि गामघाएहि
य जावै निद्वणे करेमाणे विहरइ । तं इच्छामो ण, सामी ! तुज्जं बाहुच्छायापरिगहिया निदभया
निरवस्तगा सुहेण परिवसित्तए’ त्ति कुट्टु पायवडिया पंजलिडडा महाबलं रायं एयमटु विन्नवेति ।

२०—तदनन्तर अभग्नसेन नामक चोरसेनापति के द्वारा बहुत ग्रामों के विनाश से सन्तुष्ट
हुए उस देश के लोगों ने एक दूसरे को भुजाकर इस प्रकार कहा—

हे देवानुभियो ! चोरसेनापति अभग्नसेन पुरिमताल नगर के उत्तरदिशा के बहुत ऐ
ग्रामों का विनाश करके वहाँ के लोगों को धन-धान्यादि से रहित कर रहा है । इसलिये हे देवानु-
भियो ! पुरिमताल नगर के महाबल राजा को इस बात से संसूचित करना आपने लिये श्रेयस्कर है ।

तदनन्तर देश के एकत्रित सभी जनों ने परस्पर इस बात को स्वीकार कर निया और जहाँ
पर पुरिमताल नगर था एवं जहाँ पर महाबल राजा था, वहाँ महार्थ, महार्घ (बहुमूल्य) महार्हं व
राजा के धोरण भेट लेकर आये और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके
महाराज को वह मूल्यवान् भेट अर्पण की । अर्पण करके महाबल राजा से इस प्रकार बोले—

‘हे स्वामिन् ! इस प्रकार निश्चय ही शालाटदो नामक चोरपल्ली का चोरसेनापति
अभग्नसेन ग्रामघात तथा नगरघात आदि करके यावत् हमें निर्धन बनाता हुआ विचरण कर रहा
है । हे नाथ ! हम चाहते हैं कि आपकी भुजाओं की छाया से संरक्षित होते हुए निर्भय और उपसर्ग
रहित होकर हम सुखपूर्वक निवास करें ।’ इस प्रकार कहकर, पैरों में पड़कर तथा दोनों हाथ
जोड़कर उन प्रान्तीय पुरुषों ने महाबल नरेश से इस प्रकार विज्ञप्ति की ।

२०—तए ण महाबले राया तेसि जाणवयाणं पुरिसाणं अंतिए एयमटु सोऽस्मा निसम्म
आसुरसे जाव (छटे कुविए चंडिकिए मिलिमिसेमाणे तिवलियं भिडिं निडाले साहट्टु बंडं सद्वेद्द,
सद्वावेता एवं वयासी—‘गच्छह ण तुम देवाणुप्तिया ! सालाइव चोरपल्लं विलुं पाहि, विलुं पित्ता
अभग्नसेण चोरसेणावद्धं जीवग्याहं गिण्हाहि, गिण्हिता ममं उवणेहि ।’

तए णं से वंडे 'तह' ति एयमद्व पडिसुणेइ । तए णं से दंडे बहृहि पुरिसेहि सप्तद्वयद्वयम्भिय-
कवएहि जाव गहियाउह-पहरणोहि सांधे सप्तरियुद्धे भगइएहि फलएहि जाव छिप्पत्वरेण बजनमाणेण
महया जाव डकिकहुँ जाव करेमाणे पुरिमतालं नगरं मज्जमंजाणेण निगच्छाइ, निगच्छत्ता जेणेव
सालाटवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्य गमणाए ।

२०—महाबल नरेषा उन जनपदवासियों के पास से उक्त वृत्तान्त को सुनकर रुष्ट, कुपित
और कोश से तमतमा उठे । उसके अनुरूप कोश से दांत पीसते हुए भोहे चढ़ाकर अर्थात् कोश की
साक्षात् प्रतिमा बनकर कोतवाल को बुलाते हैं और बुलाकर कहते हैं—देवानुप्रिय ! तुम आओ
और शालाटवी नामक चोरपल्ली को लूट लो—नष्ट-भ्रष्ट कर दो और उसके चोरसेनापति
अभग्नसेन को जीवित पकड़कर मेरे सामने उपस्थित करो !

महाबल राजा की इस आज्ञा को दण्डनायक विनयपूर्वक स्वीकार करता हुआ, दृढ़ वंधनों
से बंधे हुए लोहमय कुसूलक आदि से युक्त कवच की धारण कर आयुधों और प्रहरणों से लैस अनेक
पुरुषों को साथ में लेकर, हाथों में फलक-ढाल बंधे हुए यावत् शिप्रतूयं के बजाने से महान् उत्कृष्ट
महाध्वनि एवं सिहनादं आदि के द्वारा समुद्र की सी गर्जना करते हुए, आकाश को विदीर्ण करते
हुए पुरिमतालं नगर के मध्य से निकल कर शालाटवी चोरपल्ली की ओर जाने का निश्चय
करता है ।

२१—तए णं लस्स अभग्नसेणस्त चोरसेणावहस्स चारपुरिसा इमीसे कहाए लद्धद्वा समाणा
जेणेव सालाटवी चोरपल्ली, जेणेव अभग्नसेणे चोरसेणावई, तेणेव उवागच्छत्ता करथल
जाव परिगहियं सत्थए अंजलि कट्टु एवं वयासी—‘एवं खलु देवाणुपिया ! पुरिमतासे नगरे महाबलेण
रथणा महाभडबडागरेण दण्डे आणते—‘गच्छह णं तुम्हे, देवणुपिया ! सालाडवि चोरपल्लिम
यिलु पाहि, अभग्नसेणे चोरसेणावइं जीवगाहं गेष्हाहि, गेष्हित्ता समं उवणेहि ।’ तए णं से दडे
महया भडचडगरेण जेणेव सालाटवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्य गमणाए ।

२२—तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति के शुप्तचरों को इस वृत्तान्त का पता लगा ।
वे सालाटवी चोरपल्ली में, जहाँ अभग्नसेन चोरसेनापति था, आये और दोनों हाथ जोड़कर और
मस्तक पर दस नखों वाली अंजलि करके अभग्नसेन से इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! पुरिमताल-
नगर में महाबल राजा ने महान् सुभट्टों के समुदायों के साथ दण्डनायक-कोतवाल को बुलाकर
आज्ञा दी है कि—‘तुम लोग शीघ्र जाओ, जाकर सालाटवी चोरपल्ली को नष्ट-भ्रष्ट कर दो—लूट
लो और उसके सेनापति अभग्नसेन को जीवित पकड़ लो और पकड़कर मेरे सामने उपस्थित करो ।’
राजा की आज्ञा को शिरोधार्य करके कोतवाल योद्धाओं के समूह के साथ सालाटवी चोरपल्ली में
आने के लिये रवाना हो चुका है ।

२३—तए णं से अभग्नसेणे चोरसेणावई तेसि चारपुरिसाणं अंतिए एयमद्व सोच्चा णिसम्म
पंचचोरसयाइं सहावेह, सहावेत्ता एवं वयासी—‘एवं खलु देवाणुपिया ! पुरिमताले नगरे महाबले
जाव तेणेव पहारेत्य गमणाए । तं सेय खलु देवाणुपिया ! अम्हं तं दंडे सालाडवि चोरपल्लिं असंपत्ते
अंतरा चेव पडिसेहित्तए ।’

तए णं ताइं पंचचोरसयाइं अभग्नसेणस्त चोरसेणावहस्स ‘तह’ ति जाव पहिसुणेति ।

२२—तदनन्तर उस अभग्नसेन सेनापति ने अपने गुप्तचरों को बातों को सुनकर तथा विचारकर अपने पांच सौ चोरों को बुलाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! पुरिमताल नगर के महाबल राजा ने आज्ञा दी है कि यावत् दण्डनायक ने चोरपल्ली पर शाक्रमण करने का तथा मुझे जीवित गकड़ने को यहाँ आने का निष्क्रिय कर लिया है, अतः उस दण्डनायक को सालाठबी चोरपल्ली पहुँचने से पहिले ही मार्ग में रोक देना हमारे लिये योग्य है ।

अभग्नसेन सेनापति के इस परामर्श को 'तथेति' (बहुत ठीक, ऐसा ही होना चाहिए) ऐसा कहकर पांच सौ चोरों ने स्वीकार किया ।

२३—तए ण से अभग्नसेणे चोरसेणावद्दि विउलं असर्ण पाण खाइमं साइमं उवकुडावेह, उवकुडावेत्ता पञ्चहि चोरसएहि सर्दि फ्लाए जाव पायच्छत्ते ओयणमंडवंसि तं विउलं असर्ण पाण खाइमं साइमं सुरं च ४ आसाएमाणे ४ विहरइ । जिभियभुत्तारागए विय णं समाणे आयते चोरसे परमसूइभए पञ्चहि चोरसएहि सर्दि अल्लं चम्मं दुरुहइ, दुरुहित्ता समझबद्ध जाव पहरणेहि मगइएहि जाव रवेण पुव्वावरण्हकालसमयंसि सालाडबीओ चोरपल्लीओ णिगच्छह, णिगच्छत्ता विसम-दुभगहणं ठिए गहियभत्तपाणे तं दंडं पहिथालेमाणे चिट्ठुह ।

२४—तदनन्तर अभग्नसेन चोर सेनापति ने अशन, पान, खादिम और स्वादिम—अनेक प्रकार की स्वादिष्ट भोजनशामयी तैयार कराई तथा पांच सौ चोरों के साथ स्नानादि किया कर दुःस्वधनादि 'के फलों को निष्कल करने के लिये मस्तक पर तिलक तथा अन्य माङ्गलिक कृत्य करके भोजनशाला में उस विपुल अशनादि वस्तुओं तथा पांच प्रकार की मदिराओं का यथारूचि आस्वादन, विस्वादन आदि किया ।

भोजन के पश्चात् योग्य स्थान पर शाकमन किया, मुख के लेपादि को दूर कर परम शुद्ध होकर पांच सौ चोरों के साथ आद्रैचर्म पर आरोहण किया । तदनन्तर दृढ़वन्धनों से बंधे हुए, नोहमय कसूलक आदि से युक्त कवच को घारण करके यावत् आयुधों और प्रहरणों से सुसज्जित होकर हाथों में ढालें बांधकर यावत् महान् उत्कृष्ट, सिंहनाद आदि शब्दों के द्वारा समुद्र के समान गर्जन करते हुए एवं आकाशमण्डल को शब्दायमान करते हुए अभग्नसेन ने सालाठबी चोरपल्ली में मध्याह्न के समय प्रस्थान किया । खाद्य पदार्थों को साथ लेकर विषम और दुर्ग-गहन वन में ठहरकर वह दण्डनायक की प्रतीक्षा करने लगा ।

विवेचन—आद्रैचर्म पर आरोहण करने का क्या प्रयोजन है ? ऐसा प्रश्न उठने पर इसके समाधान के सम्बन्ध में तीन मान्यताएँ हैं—

आचार्य श्री अभयदेव सूरि के मन्तव्यानुसार—'आद्रैचर्मोहति मांगल्यार्थमिति' आद्रैचर्म का आरोहण करना चोरों का अपना मांगलिक अनुष्ठान था । कारण 'विघ्नछब्दंकामो मंगलमाचरेत्' इस उक्ति के अनुसार अभग्नसेन और उसके साथियों ने दण्डनायक के बल को मार्ग में रोकने में आ सकने वाले मंभावित विघ्नों के विनाश की कामना से पूर्व यह मंगल-अनुष्ठान किया ।

दूसरी मान्यता परम्परा का अनुसरण करने वाली है । तदनुसार आद्रैचर्म पर आरोहित होने का परमार्थ यह है कि अनुकूल-प्रतिकूल कौसी भी परिस्थिति में पांच पीछे नहीं हटेगा । 'कार्यं वा सावधेयं, देहं वा पात्येयम्' अर्थात् हर प्रयत्न से कार्य को सिद्ध करके ही विराम लूँगा, अन्यथा

वेह का उत्सर्ग कर दूँगा । इस प्रतिज्ञा से आबद्ध होने का दृढ़तम संकल्प आद्र्चमं पर आरोहित होने सं प्रतीत होता है ।

तीव्री मान्यता यह है कि जिस तरह आद्र्चमं फैलता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस पर आरोहण करने वाला भी धन-जनादि परम समृद्धि के वृद्धि रूप प्रभाव को उपलब्ध करता है । इसी महन्द्वाकांक्षा रूप भावना को मन्मुख रखते हुए अभग्नसेन और उसके पांच सौ साथियों ने आद्र्चमं पर आरोहण किया ।

२४—तए ण से दंधे जेणेव अभग्नसेणे चोरसेणावई तेणेव उवागच्छह, उवागच्छत्ता अभग्नसेणेण चोरसेणावइणा संद्वि संपलगे यावि होतथा । तए ण अभग्नसेणे चोरसेणावई तं वण्डं खिप्पामेव हयमहिय जाव (पवरवीर-घाइय-विवहियच्छ-घय-पडागं विसोदिसि) पडिसेहेइ ।

२५—उसके बाद वह कोतवाल जहाँ अभग्नसेन चोरसेनापति था, वहाँ पर आता है, और आकर अभग्नसेन चोरसेनापति के साथ युद्ध में संप्रवृत्त हो जाता है । तदनन्तर, अभग्नसेन चोरसेनापति ने उस दण्डनायक को शीघ्र ही हतमयित कर दिया अर्थात् उस कोतवाल की सेना का हनन किया, वीरों का घात किया, छवजा पताका को नष्ट कर दिया, दण्डनायक का भी मानमर्दन कर उसे और उसके साथियों को इधर उवर भगा दिया ।

२५—तए ण से दण्डे अभग्नसेणेण चोरसेणावइणा हय० जाव पडिसेहिए समाणे अथामे अबले अशीरिए अपुरिस्त्वकारपरवकमे अधारणिज्जमिति कटु जेणेव पुरिमताले नयरे, जेणेव महाबले राया तेणेव उवागच्छह, उवागच्छत्ता करयल-जाव एवं वयासी—'एवं खलु, सामो ! अभग्नसेणे चोरसेणावई विसमदुग्गगहणं ठिए गहियमस्तपाणिए । नो खलु से सबका केणइ सुबहुएणावि आसबलेण वा हृष्टिबलेण वा रहबलेण वा चाउरंगेण वि उरं उरेण गिष्ठित्तए ।'

ताहे सामेण य भेण य उवर्णपथायेण यविसंभमाणेऽं पथस्ते यावि होतथा । जे वि से अङ्गिन-तरगा सीसगभमा, मित्त-नाइ-नियग-सयण-संवंधि-परियणं च विडलेण, धन-कणग-रयण-संतसार-सावएज्जेणं मिन्दइ, अभग्नसेणस्स य चोरसेणावइस्स अभिक्षणं अभिक्षणं महत्थाइं महरघाइं महरिहाइं पाहुडाइं पेसेइ, अभग्नसेणे चोरसेणावहं वीसंभमाणेइ ।

२५—तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति के द्वारा हत-मयित थावत् प्रतिषेधित होने से तेजोहीन, बलहीन, वीर्यहीन तथा पुरुषार्थ और पराक्रम से हीन हुआ वह दण्डनायक शाश्वतेना को परास्त करना श्रमव्य जानकर पुनः पुरिमतालनगर में महाबल नरेश के पास आकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दसों नखों की अञ्जलि कर इस प्रकार कहने लगा—

प्रभो ! चोरसेनापति अभग्नसेन ऊंचे, नीचे और दुर्ग-गहन वन में पर्याप्त खाद्य तथा पेय सामग्री के माध्य अवस्थित है । अतः वहुत अशब्दल, गजबल, योद्धाबल और रथबल, कहाँ तक कहाँ—चतुरज्जिणी नेना के गाक्षात् वल से भी वह जोते जी पकड़ा नहीं जा सकता है ।

दण्डनायक के ऐसा कहने पर महाबल राजा सामनीति, भेदनीति व उपप्रदान नीति—दान नीति से उसे विश्वास में लाने के लिये प्रवृत्त हुआ । तदर्थं वह उसके (चोरसेनापति के) शिष्य भ्रम—शिष्य

तुल्य, अंतरंग—सभीप में रहने वाले पुरुषों को अथवा जिन अंगरक्षकों को वह शिर अथवा शिर के कवच तुल्य मानता था उनको तथा मित्र, ज्ञाति, निजक, स्वजन सम्बन्धी और परिजनों को घन, स्वर्ण रत्न और उत्तम सारभूत द्रव्यों के द्वारा तथा रूपयों पैसों का लोभ देकर उससे (चोरसेनापति से) जुदा करने का प्रयत्न करता है और अभग्नसेन चोरसेनापति को भी बार-बार भद्रप्रयोजन वाली, सविशेष मूल्य वाली, बड़े पुरुष को देने योग्य यहाँ तक कि राजा के योग्य भेट भेजने लगा। इस तरह भेट भेजकर अभग्नसेन चोरसेनापति को विश्वास में ले आता है।

विवेचन—‘सीसगभमा’ के दो संस्कृत प्रतिरूप होते हैं। एक ‘शिष्यकञ्चमा:’ और दूसरा ‘शीर्षकञ्चमा:’। इन दोनों प्रतिरूपों को लक्ष्य में रखकर इसके तीन अर्थ सम्भावित हैं—

१—शिष्य अर्थ को सूचित करने वाला दूसरा शब्द शिष्यक है, जिसमें शिष्यत्व की आनित हो उसे शिष्यकञ्चम कहा जाता है अर्थात् जो विनीत होने के कारण शिष्य तुल्य है।

२—शिर रक्षक होने के कारण जिन्हें शिर अथवा शिर के कवच के समान माना जाता है अर्थात् जो शिर के कवच की भाँति शिर की रक्षा करते हैं।

३—शरीर रक्षक होने के नाते जिनको शरीर तुल्य समझा जाता है, वे भी शीर्षकञ्चम कहे जाते हैं।

२६—तए ण से भहावले राय। अस्या कथाइ पुरिमताले नथरे एगं वहं भहुइमहात्मयं कूटाकारसालं करेह—अणेग-खंभसयसशिविद्वं पासाईयं दरिसणिज्ञं। तए ण से भहावले राया अस्या कथाइ पुरिमताले नयरे उस्तुकं जाव उष्करं अमउप्पवेसं अदंडिमकुदंडिमं अधरिमं अधारणिज्ञं अणुह्यमुहंगं अभिलायमरुलवामं गणियावरनाडहज्जकलियं इणेगतालायराणुचरियं पमुह्यपको-लामिरामं जहारिहं) दसरत्तं पमोयं घोसावेह, घोसावेता कोडु वियपुरिसे सहावेह, सहावेता एवं वयाली—‘गच्छह णं तुच्छे, वेबाणुप्पिया ! सालाट्वीए चोरपल्लोए। तत्थ णं तुच्छे अभग्नसेन चोरसेणावहं करयल जाय एवं वयह—

२६—तदनन्तर किसी अन्य समय महावल राजा ने पुरिमताल नगर में महती—प्रशस्ता, मुन्दर व अत्यन्त विशाल, मन में हृष्ट उत्पन्न करने वाली, दर्शनीय, जिसे देखने पर भी आँखें न थकें ऐसी संकटों स्तम्भों वाली कूटाकारशाला बनवायी। उसके बाद महावल नरेश ने किसी समय उस षड्यन्त्र के लिए बनवाई कूटाकारशाला के निमित उच्छुलक—(जिसमें राजदेयभाग—महसूल माफ कर दिया हो) यावत् दश दिन के प्रमोद उत्सव की उद्घोषणा कराई। कीटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा कि—हे भद्रपुरुषो ! तुम शालाट्वी चोरपल्ली में जाओ और वहाँ अभग्नसेन चोरसेनापति से दोनों हाथ जोड़कर भस्तक पर दस नष्ठों वाली अञ्जलि करके, इस प्रकार निवेदन करो—

विवेचन—कूट पर्वत के शिखर का नाम है। कूट के समान जिसका आकार हो उसे कूटाकार-शाला कहते हैं, अर्थात् जिस भवन का आकार पर्वत की चोटी के समान हो।

१—उच्छुलक—जिस उत्सव में राजकीय कर—महसूल न लिया जाता हो।

२—उष्कर—जिसमें दुकान के लिये ली गयी जमीन का भाड़ा अथवा क्षय-विक्षय के लिये लाये गये गाय आदि पशुओं का कर न लिया जाय।

३—अभटप्रवेश—जिस उत्सव में किसी राजपुरुष के द्वारा किसी घर को तलाशी नहीं ली जा सकती ।

४—श्रद्धपिण्डम-कुदण्डम—न्यायानुसार दी जाने वाली सजा दण्ड कही जाती है, प्रीर न्यूनाधिक सजा को कुदण्ड कहते हैं, उस दण्ड कुदण्ड से उत्पन्न द्रव्य का जिस उत्सव में अभाव हो ।

५—अधरिम—जिस उत्सव में विही भी कोई राजनीष्ठण के कारण नीडित नहीं कर सकता ।

६—अश्वारणीय—जिस उत्सव में दुकान आदि लगाने के लिये राजा की ओर से वापिस नहीं लौटाई जाने वाली ग्राहिक सहायता दी जाय ।

७—अनुदधृत मृदंग—जिसमें मृदंग बजाने वालों ने बजाने के लिये मृदंग ग्रहण किये हों, तबलों को बजाने के लिये ठीक लंग से ऊँचा कर लिया हो ।

८—अम्लान मालमदाम—जिसमें खिले हुए पुष्प एवं पुष्पमालाओं की सुव्यवस्था हो ।

९—गणिका नाटकीय कलित—जो उत्सव प्रधान वेश्या और अच्छे नाटक करने वाले नटों से युक्त हो ।

१०—अनेक तालाचरानुचरित—जिस उत्सव में ताल बनाकर नाचने वाले अपना कौशल दिखाते हों ।

११—प्रमुदित प्रकीर्तिभिराम—जो उत्सव तमाशा दिखाने वालों तथा खेल दिखाने वालों की मनोहर हो ।

१२—यथाह—जो उत्सव सर्वप्रकार से योग्य—प्रादर्श व व्यवस्थित हो, तात्पर्य यह कि वह उत्सव अपनी उपभा आप ही हो ।

१३—एवं खलु देवाणुपिष्या ! पुरिमताले नयरे महाबलस्स रक्षो उसुके जाव दसरसे पमोए उग्योस्ति । तं कि णं, देवाणुपिष्या । विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं पुष्कवत्थमत्तलालंकारे य इहु हृष्माणिष्वजउ उदाहु सप्तमेव गच्छत्या ?

१४—(कोटुम्बिक पुरुषों ने चोरसेनापति से कहा—) हे देवानुप्रिय ! पुरिमताल नगर में महाबल नरेण ने उच्छुलक यावत् दशदिन पर्यन्त प्रमोद-उत्सव की घोषणा कराई है, तो क्या आपके लिए किपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम तथा पुष्प वस्त्र माला अलच्छार यहीं पर लाकर उपस्थित किए जायें अथवा आप स्वयं वहीं इस प्रसंग पर उपस्थित होंगे ?

१५—तए णं से कोडुम्बियपुरिसा महाबलस्स रणो करयल० जाव ‘एवं सामि ति’ आणाए वयणं पडिसुणेन्ति पडिसुणेत्तो, पुरिमतालाभी नयराओ पडिणिक्खमेति पडिनिक्खमिता नाहविकिट्टैहि अद्वाणेहि सुर्हेहि वसहिपायरासेहि जेणेव सालाहवी चोरपहली तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छत्ता अमग्गसेण चोरसेणावहै करयल जाव एवं वयासी—‘एवं खलु देवाणुपिष्या ! पुरिमताले नयरे महाबलस्स रणो उसुके जाव उदाहु सप्तमेव गच्छत्या ?’

१६—तए णं से अमग्गसेण चोरसेणावहै ते कोडुम्बियपुरिसे एवं वयासी—‘अहूं णं देवाणुपिष्या ! पुरिमतालनयरं सप्तमेव गच्छामि ।’ ते कोडुम्बियपुरिसे सक्कारेहु सम्माणेहु पडिविसउजेहु ।

२८—तदनन्तर वे कौटुम्बिक पुरुष महाबल नरेश की इस आज्ञा को दोनों हाथ जोड़कर यावत् अञ्जलि करके 'जो ही स्वामी' कहकर विनयपूर्वक सुनते हैं और सुनकर पुरिमताल नगर से निकलते हैं। छोटी-छोटी यात्रा एँ करते हुए तथा सुखजनक विश्वाम-स्थानों पर प्रातःकालीन भोजन आदि करते हुए जहाँ शालाटबी नामक चौर-पल्ली थी वहाँ पहुँचे। वहाँ पर अभग्नसेन चोरसेनापति से दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दस नखों वाली अंजुलि करके इस प्रकार निवेदन करने लगे—

देवानुप्रिय ! पुरिमताल नगर में महाबल नरेश ने उच्छुल्य यावत् दस दिनों का प्रमोद उत्सव उद्घोषित किया है, तो क्या आपके लिये अशन, पान, स्वादिम, स्वादिम, पुष्पमाला अलंकार यहाँ पर ही उपस्थित किये जाएँ अथवा आप स्वयं वहाँ पद्धारते हैं ? तब अभग्नसेन सेनापति ने उस कौटुम्बिक पुरुषों को उत्तर में हस प्रकार कहा—'हे भद्र पुरुषो ! मैं स्वयं ही प्रमोद-उत्सव में पुरिमताल नगर में आऊँगा।' तत्पश्चात् अभग्नसेन ने उनका उचित सत्कार-सम्मान करके उन्हें विदा किया।

२९—तए ण से अभग्नसेने चोरसेणावई बहूहि भित्ति जाव परिवृङ्गे एहाए जाव पायचिष्ठते सव्वालंकारविभूसिए सालाटबीओ चोरपल्लीओ पद्मनिकलभृमङ्ग। पद्मनिकलभृमित्ता जेणेवे पुरिमतालेन तयरे, जेणेव महाबले राया, तेणेव उवागच्छइ, उयःपविष्टा, परपल्। बहुधर्थं राधे अएर्वै विजएर्ण बद्धवेइ, बद्धवेत्ता महत्यं जाव पाहुङ्ग उवणेह। तए ण-से महाबले राया) अभग्नसेनस्स चोरसेणा-वइस्स तं महत्यं जाव पद्मच्छइ, अभग्नसेण चोरसेणावई सकारैह, सम्माणेह, पद्मविसेजेइ; कूडागारसालं च से आवसहुं वलयइ। तए ण से अभग्नसेने चोरसेणावई महाबलेण रण्णा विसजिज्ञए समाणे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ।

३०—तदनन्तर मित्र, जाति व स्वजन-परिजनों से घिरा हुआ वह अभग्नसेन चोरसेनापति स्नानादि से निवृत्त हो यावत् अणुभ स्वप्न का फल विनष्ट करने के लिये प्रायशिच्छत के रूप में मस्तक पर तिलक आदि भाज्जनिक अनुष्ठान करके समस्त श्राभूषणों से अलंकृत ही शालाटबी चोरपल्ली से निकलकर जहाँ पुरिमताल नगर था और जहाँ महाबल नरेश थे, वहाँ पर आता है। आकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर दस नखों वाली अञ्जलि करके महाबल राजा को 'जय-विजय' शब्द से बधाई देता है। बधाई देकर महार्थ यावत् राजा के योग्य प्राभूत-भेट अपूर्ण करता है। तदनन्तर महाबल राजा उस अभग्नसेन चोरसेनापति द्वारा अपित किए गए उपहार को स्वीकार करके उसे सत्कार-सम्मानपूर्वक अपने पास से विदा करता हुआ कूटाकारशाला में उसे रहने के लिये स्थान देता है। तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति महाबल राजा के द्वारा सत्कारपूर्वक विसर्जित होकर कूटाकारशाला में आता है और वहाँ पर ठहरता है।

३०—तए ण से भहाबले राया कोडु वियपुरिसे सहावैह, सहावेत्ता एवं वयसी—'गच्छहृण तुडमे देवाणुत्पिधा ! विडलं असणं पाणं छाइमं साहमं उवकडावैह, उवकडावैत्ता तं विडलं असण-४, सुरं च-५. सुबहुं पुण्यवत्य-गंध-मल्लालंकारं च अभग्नसेनस्स चोरसेणावइस्स कूडागारसालं उवणेह।

तए ण से कोडु वियपुरिसा करयल जाव उवणेति ।

तए ण से अभग्नसेणे चोरसेणावद्दि बहुहि मितनाह० सद्गि संपरिबुडे यहाए जाव सब्बालकार-
विभूसिए तं चिदलं असर्ण-४ सुरं च प्र, आसाएमाणे पमते विहरह ।

३०—इसके बाद महाबल राजा ने कीटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—तुम लोग विषुल
अशन, पान, खादिम, स्वादिम पुष्प, वस्त्र, गंधमाला अलंकार एवं सुरा आदि मदिराओं को रंयार
कराओ और उन्हें कूटाकार-शाला में चोरसेनापति अभग्नसेन की सेवा में पहुँचा दो ।

कीटुम्बिक पुरुषों ने हाथ ओढ़कर यावत् शङ्खजनि करके राजा की आज्ञा स्वीकार की और
तदनुसार विषुल अशनादिक सामग्री वहाँ पहुँचा दी ।

तदनन्तर अभग्नसेन चोरसेनापति स्नानादि से निवृत्त हो, समस्त आभूषणों को पहिनकर
अपने बहुत से मिश्रों व शाति जनों आदि के साथ उस विषुल अशनादिक तथा पंचविष्ठ मदिराओं का
सम्यक् आस्वादन विस्वादन करता हुआ प्रमत्त—बेखबर होकर विहरण करने लगा ।

३१—तए ण से महाबले राया कोडुं विष्यपुरिसे तदावेह, तदावेत्ता एवं वयासी—‘गच्छह
णं तुर्मे, वेवाणुपिया । पुरिमतालस्स नयरस्स तुवाराहं पिहेह, अभग्नसेण चोरसेणावहं जीवगगाहं
गिणहह, गिणहत्ता भमं उवणेह ।’

तए ण से कोडुं विष्यपुरिसा करथल जाव पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता पुरिमतालस्स नयरस्स
तुवाराहं पिहेति, अभग्नसेण चोरसेणावहं जीवगगाहं गिणहति, महाबलस्स रणो उवणेति । तए
ण से महाबले राया अभग्नसेण चोरसेणावहं एएण विहाणेण वज्ज्ञं आणेह ।

एवं खासु गोयमा ! अभग्नसेणे चोरसेणावद्दि पुरापोराणाणे जाव विहरह ।

३२—(अभग्नसेन चोरसेनापति को भल्कारपूर्वक कटाकारशाला में ठहराने और भोजन
कराने तथा मदिरा पिलाने के पश्चात्) महाबल राजा ने कीटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर इस प्रकार
कहा—‘हे देवानुप्रियो ! तुम लोग जाओ और जाकर पुरिमताल नगर के दरवाजों को बन्द कर दो
और अभग्नसेन चोरसेनापति को जीवित स्थिति में ही पकड़ लो और पकड़कर मेरे सामने उपस्थित
करो !’

तदनन्तर कीटुम्बिक पुरुषों ने राजा की यह आज्ञा हाथ जोड़कर यावत् दण नखों वाली
शङ्खजिलि करके शिरोधार्य की श्रीर पुरिमतालनगर के द्वारों को बन्द करके चोरसेनापति अभग्नसेन
को जीवित पकड़ कर महाबल नरेश के समधा उपस्थित किया । तत्पश्चात् महाबल नरेश ने अभग्नसेन
चोरसेनापति को इस विष्ठि से (जैमा तुम देखकर आए हो) बध करने की आज्ञा प्रदान कर दी ।

धर्मण भगवान् महाबीर कहते हैं—हे गौतम ! इस प्रकार निश्चित रूप से वह चोरसेनापति
अभग्नसेन पूर्वोपाजित पापकर्मी के नरक तुल्य विषाकोदय के रूप में धोर वेदना का अनुभव कर
रहा है ।

अभग्नसेन का भविष्य

३३—अभग्नसेणे ण भन्ते ! चोरसेणावद्दि कालमासे कालं किञ्च्चा कहि गच्छहिह ? कहि
उवचज्जिज्जिह ?

‘गोयमा ! अभग्नसेणे चोरसेणावद्दि सत्तीसं वासाहं परमाडं पालदृशा अज्जेव तिभागावसेसे

दिवसे सूलभिन्ने कहं समाणे कालमासे कालं किञ्चचा हर्मासे रथणप्पभाए पुष्टवीए उक्कोसं साग-
रोदमद्विइएसु नेरहेसु नेरहयत्ताए उक्कजिजहिइ ।'

से यं तथो अण्ठतरं उच्चद्वित्ता, एवं संसारो जहा पठमे जाव बाल-तेज-आह-पुष्टीसु देहोरहा-
उहससखुतो उद्धाइत्ता उहाइत्ता तत्थेव भुजजो भुजजो पच्चायाइसङ्घ !

तथो उच्चद्वित्ता बाणारसीए नयरीए सूयरत्ताए पच्चायाहिइ । से यं तथ सूयरिएहि
ओवियाद्वो ववरोविए समाणे तत्थेव बाणारसीए नयरीए सेद्विकुलंसि पुतत्ताए पच्चायाहिइ । से यं
तथ उभमुक्तबालभावे—‘एवं अहा पठमे, जाव अंतं काहिइ ।’

३२—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—‘अहो भगवन् ! वह अभग्नसेन चोरसेनापति कालावसर
में काल करके कहाँ जाएगा ? तथा कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—‘हे गौतम ! अभग्नसेन चोरसेनापति ३७ वर्ष की परम आयुष्य को
भोगकर आज ही विभागावशेष (जिसका तीसरा भाग बाकी हो, ऐसे) दिन में सूली पर उद्धाये जाने
से काल करके (मृत्यु को प्राप्त होकर) रत्नप्रभानामक प्रथम नरक में नारकी रूप से, जिसकी उत्कृष्ट
स्थिति एक सागरोपम की है, उत्पन्न होगा । फिर प्रथम नरक से निकलकर प्रथम अठ्ययन में प्रतिपा-
दित मृगापुत्र के संसारभ्रमण की तरह इसका भी परिभ्रमण होगा, यावत् पृष्ठवीकाय, आम्काय, वायु
काय तेजस्काय आदि में लाखों वार उत्पन्न होगा ।

वहाँ से निकलकर बनारस नगरी में शूकर के रूप में उत्पन्न होगा । वहाँ शूकर के शिकारियों
द्वारा उसका धात किया जाएगा । तत्पञ्चात् उसी बनारस नगरी के श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप से उत्पन्न
होगा । वहाँ बालभाव को पार करके युवावस्था को प्राप्त होता हुआ, प्रवजित होकर, संयमपालन
करके यावत् निर्वाण पद प्राप्त करेगा—जन्म-मरण का अन्त करेगा ।

निखेप—उपसंहार पूर्ववत् समझ लेना चाहिये ।

॥ तृतीय अठ्ययन समाप्त ॥

चतुर्थ आठयायन

शालकाट

जम्बूस्वामी की जिज्ञासा

१—उबलेक्षो—जह णं भते । समणेण भगवदा महावीरेण जाव संपत्तेण दुहविकागाणं तच्छस्सं अङ्गयणस्सं अयमहु पणते, चउत्थस्सं णं भते । अज्ञायणस्सं समणेण भगवदा महावीरेण के अहु पणते ? तओ णं सुहम्मे अणगारे जंबू-अणगारं एवं वद्यासी ।

२—जम्बूस्वामी नै प्रश्न किया—भन्ते ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने, जो यावत् निवाण-प्राप्त हैं, यदि तीमरे अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा तो भगवान् ने चौथे अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? तब सुधर्मा स्वामी ने जम्बू अणगार से इस प्रकार कहा—

सुधर्मा स्वामी का समाधान

२—एवं खलु जंबू ! तेण कालेण तेणं समणेण साहंजणी पामं नयरी होत्था । रिद्वत्यमिय-समिद्धा । तोसे णं साहंजणीए बहिया उत्तरपुरत्यमें दिसीभाए देवरमणे जामं उज्जाणे होत्था । तस्य णं अमोहस्सं जषखायणे होत्था, पाराणे । तत्य णं साहंजणीए नयरीए महचंदे णामं राया होत्था, अह्याहिमवंतमहंतभलयमंदरसारे । तस्सं णं महचंदस्सं रण्णो सुसेणे णामं अमच्चे होत्था । साम-भेय-बंड-उपप्रद्याणनीतिसुपउत्तत्यविहणू निभाह-कुसले ।

तत्य णं साहंजणीए नयरीए सुदरसिणा णामं गणिया होत्था । दण्णओ ।

२—हे जम्बू ! उस काल उस समय में साहंजनी नाम की एक कट्ठ-भवनादि की सम्पत्ति से सम्पन्न, स्तिमित—स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित तथा समृद्ध—धन-धान्यादि से परिपूर्ण नगरी थी । उसके बाहर ईशानकोण में देवरमण नाम का एक द्वान था । उस उद्वान में अमोघनामक यक्ष का उसके पुरातन यक्षायतन था । उस नगरी में महचन्द्र नाम का राजा राज्य करता था । वह एक पुरातन यक्षायतन था । उस नगरी से महचन्द्र नरेश का सुषेण नाम का मन्त्री था, हिमालय के समान दूसरे राजाओं से महान् था । उस महचन्द्र नरेश का सुषेण नाम का मन्त्री था, जो सामनीति, भेदनीति, दण्डनीति और उपप्रदाननीति के प्रयोग को और न्याय नीतियों की विधि को जानने वाला तथा निघ्रह में कुशल था ।

उम नगर में सुदर्शना नाम की एक सुप्रसिद्ध गणिका-वेश्या रहती थी । उसका वर्णन (द्वितीय अध्याय में वर्णित कामध्वजा वेश्या के समान) जान लेना चाहिये ।

३—तत्य णं साहंजणीए नयरीए सुभद्रे णामं सत्थवाहे परिवसह । अङ्गहे । तस्सं णं सुभद्रस्सं सत्थवाहस्सं भद्रा णामं भारिया होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिवियसरीरा । तस्सं णं सुभद्रसत्थवाहस्सं पुते भद्राए भारियाए अस्तए सगडे णामं वारए होत्था, अहीणपडिपुण्णपंचिवियसरीरे ।

३—उस नगरी में सुभद्रा नाम का एक सार्थवाह रहता था। उस सुभद्रा सार्थवाह की अन्यून—निर्देषि सर्वाङ्गसुन्दर शरीर वाली भद्रा नामक भार्या थी। सुभद्रा सार्थवाह का पुत्र व भद्रा भार्या का आत्मज शकट नाम का वालक था। वह भी अन्यून—पंचेन्द्रियों से परिपूर्ण—सुन्दर शरीर से सम्पन्न था।

४—तेण कालेण तेण समएण समणे भगवं महाबीरे समोसङ्के। परिसा राया य निम्नादे। घम्मो कहिओ। परिसा एडिगया, राया वि जिग्गओ।

४—उस काल, उस समय साहंजनी नगरी के बाहर देवरमण उद्धान में श्रमण भगवान् महाबीर पधारे। नगर से भगवान् के दर्शनार्थ जनता और राजा निकले। भगवान् ने धर्मदेशना दी। धर्मदेशना श्रवण कर राजा और प्रजा सब पुनः अपने अपने स्थान पर चले गये।

शकट के पूर्ववत्त का वृत्तान्त

५—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवशो महाबीरस्स जेठे अन्तेबासी जावे रायभग-मोगडे। तत्थ णं हृत्थी, आसे बहुवे पुरिसे पासइ। तेसि च पुरिसाणं भज्जगाद् पासइ एगं सहस्थीयं पुरिसं अवयोऽयवंधणं उविखतकण्णनासं जाव घोसिझज्जमाणं। चिता तहेव जाव भगवं वागरेइ।

५—उस काल तथा उस समय में श्रमण भगवान् महाबीर के ऊपर अन्तेबासी श्री गौतम स्वामी (पूर्ववत् भिक्षा ग्रहण करके) यावत् राजमार्ग में पधारे। वहाँ उन्होंने हाथी, छोड़े और बहुतेरे पुरुषों को देखा। उन पुरुषों के मध्य में अवकाटकवन्धन (जिस वन्धन में दोनों हाथों को मोड़कर पृष्ठ भाग पर रज्जु के साथ बांधा जाय, उस वन्धन) से युक्त, कटे कान और नाक बाले यावत् उद्धोपणा सहित एक सरशीक (स्त्री सहित) पुरुष को देखा। देखकर गौतम स्वामी पूर्ववत् विचार किया (यह पुरुष नारकीय बेदना भुगत रहा है, आदि) और भगवान् से आकर प्रश्न किया। भगवान् ने उत्तर में इस प्रकार कहा—

६—एवं खलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जम्बुद्वीपे बीवे भारहे वासे छगलपुरे नामं नयरे होत्था। तत्थ सीहगिरी नामं राया होत्था, महया हिमवंतमहंतमलयमंदरसारे। तत्थ णं छगलपुरे नयरे छण्णादे नामं छागलिए परिवसइ। अह्ले, अहम्मिए जाव दुष्पिण्डियाणंदे।

६—हे गौतम ! उस काल तथा उस समय में इसी जम्बुद्वीपनामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में छगलपुर नाम का एक नगर था। वहाँ सिंहगिरि नामक राजा राज्य करता था। वह हिमालयादि पर्वतों के समान महान् था। उस नगर में छण्णिक नामक एक छागलिक—बकरों के मांस से आजीविका करने वाला कसाई रहता था, जो बनाढ़ी, अदर्मी यावत् दुष्प्रत्यानन्द था।

७—तस्म णं छण्णिकस्स छागलिथस्स बहुवे अयाण य एसयाण य रोज्जाण य वसाण्णाण य ससयाण य सूयराण य पसशाण य सिंधाण य हरिणाण य मधूराण य महिसाण य सयवद्वाण य सहस्रबद्धाण य जूहाणि बाढ़गंसि सनिरुद्धाइ चिदुंसि। अन्ने य तत्थ बहुवे पुरिसा दिनभइमत्तवेयण।

बहवे अए य जाव महिसे य सारक्लेमाणा संगोवेमाणा चिदुंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा दिशभद्रमत्त-
वेयण। बहवे अए य जाव महिसे य जीविथाग्रो ववरोवेति, ववरोवित्ता मंसाई कप्पणोकप्पियाई करेति,
करेता छणियथस्स छागलियस्स उवर्णेति ।

अन्ने य से बहवे पुरिसा ताई बहुयाई अयमसाई जाव महिसमंसाई तवएसु य कवल्लीसु य
कंदुएसु य भज्जणेसु य हंगालेसु य तलेति य भज्जेति य सोल्लेति य, तलित्ता भज्जित्ता सोल्लेत्ता य तओ
रायभम्यांसि वित्ति कप्पेमाणा विहरंति ।

अप्पणा वि य णं से छणिए छागलिए तेहि बहुविहेहि अयमसेहि जाव महिसमंसेहि सोल्लेहि
य तलिएहि य भज्जिएहि य दुरच आसाएनाओ यिहरथ ।

७—उस छणिक छागलिक के अनेक श्रजों—बकरों, रोभों—नीलगाथों, वृषभों, शशकों—
खरगोशों, मृगविशेषों अथवा मृगशिशुओं, शूकरों, सिंहों, हरिणों, मधुरों और महिषों के शतबद्ध तथा
सहस्रबद्ध अर्थात् सौ-सौ तथा हजार-हजार जिनमें बंधे रहते थे ऐसे यूथ, बाढ़े में भम्यक प्रकार से
रोके हुए रहते थे । वही जिनको वेतन के रूप में भोजन तथा रुप्या पैसा दिया जाता था, ऐसे उसके
अनेक आदमी अजादि और महिषादि पशुओं का संरक्षण-संगोपन करते हुए उन पशुओं को बाढ़े में
रोके रहते थे ।

छणिक छागलिक के रुप्या और भोजन लेकर काम करने वाले अनेक नौकर पुरुष संकड़ों
तथा हजार श्रजों तथा भेंसों को मारकर उनके मांसों को कंची तथा छुरी से बाट काट कर छणिक
छागलिक को दिया करते थे ।

उसके अन्य अनेक नौकर उन बहुत से बकरों के मांसों तथा महिषों के मांसों को तवों पर,
कड़ाहों में, हाँडों में अथवा कडाहियों या लोहे के पात्रविशेषों में, भूनने के पात्रों में, अंगारों पर तलते,
भूनते और शूल द्वारा पकाते हुए अपनी श्राजीविका चलाते थे । वह छणिक स्वयं भी उन मांसों के साथ
सुरा आदि पांच प्रकार के मध्यों का आस्वादन विस्वादन करता हुआ वह जीवनयापन कर रहा था ।

८—तए णं से छणिए छागलिए एयकम्मे, एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्म
कलिकलुसं समज्जिणित्ता सत्त्वाससयाई परमाडयं पश्चाइत्ता कालमासे कालं किञ्चा चउथीए पुढ्योए
उक्कीसेण वससागरोवमठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने ।

९—उस छणिक छागलिक ने श्रजादि पशुओं के मांसों को खाना तथा मदिराओं का पीना
अपना कर्तव्य बना लिया था । इन्हीं पापपूर्ण प्रवृत्तियों में वह सदा तत्पर रहता था । वही प्रवृत्ति
उसके जीवन का विज्ञान बन गई थी, और ऐसे ही पापपूर्ण कर्मों को उसने अपना सर्वोत्तम आचरण
बना रखा था । अतएव वह वलेशीत्तादक और कालुप्यपूर्ण अत्यधिक क्लिष्ट कर्मों का उपार्जन कर
मात सौ वर्ष की पूर्ण आयु पालकर कालमास में काल करके चतुर्थ नरक में, उत्कृष्ट दस सामरोपम
स्थिति वाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ ।

शकट का वर्तमान भव

१—तए णं तस्स सुभद्रस्स सत्यवाहस्स भद्रा भारिया जायनिदुया यावि होत्या । जाया जाया

वारणा विणिहायमावद्यंति । तए ण से छण्णिए छामलिए चउत्थीए पुढबोए अणंतरं उवबहुत्ता इहेव
साहंजणीए सुभद्रस्स सत्थवाहस्स भद्राए भारियाए कुञ्ज्ञसि पुत्तत्ता उवबन्ने ।

तए ण सा भद्रा सत्थवाही अन्नया क्याइ नवण्हं सासाणं बहुषङ्गिपुण्णाणं दारगं पयाया । तए
ण तं वारगं अम्मापिथरो जायमेसं चेव सगडस्स हेट्टाओ ठावेंति । दोष्वें पि निणहावेंति, अणपुव्वेण
सारक्षेंति, संगोवेंति, संवद्धेंति, जहा उजिसयए, जाथ जम्हा णं अम्हं इसे दारए जायमेसं चेव
सगडस्स हेट्टा ठाविए, तम्हा णं हीउ णं अम्हं एस दारए 'सगडे नामेण । सेसं जहा उजिसयए ।
सुभद्रे लवणसमुद्रे कालगए, माया वि कालगया । से वि सयाओ गिहाओ निच्छूदे । तए ण से सगडे
दारए सयाओ गिहाओ निच्छूदे समाणे सिधाडग तहेव जाव सुवरिसणाए गणियाए लङ्गि संफलग्ने यावि
होतथा ।

९.—तदनन्तर उस सुभद्र सार्थवाह की भद्रा नाम की भार्या जातनिन्दुका (जिसके बड्चे जन्म
लेते ही मर जाते हों) थी । उसके उत्पन्न होते हुए बालक मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे । इधर छण्णिक
नामक छागलिक-कमाई का जीव चतुर्थ नरक से निकलकर सीधा इसी साहंजनी नगरी में सुभद्र
सार्थवाह को भद्रा नाम की भार्या के गर्भ में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ ।

लगभग नवमास परिपूर्ण हो जाने पर किसी समय भद्रा नामक भार्या ने बालक को जन्म
दिया । उत्पन्न होते ही माता-पिता ने उस बालक को शकट-छकड़े-गाहे के नीचे स्थापित कर दिया—
रख दिया और फिर उठा लिया । उठाकर यथाविधि संरक्षण, संगोपन व संवर्द्धन किया ।

यावत् यथासमय उसके माता-पिता ने कहा—उत्पन्न होते ही हमारा यह बालक छकड़े के
नीचे स्थापित किया गया था, प्रतः इसका 'शकट' ऐसा नामाभिधान किया जाता है—उसका नाम
शकट रख दिया । शकट का शेष जीवन उजिफत की ही तरह समझ लेना चाहिये ।

इधर सुभद्र सार्थवाह लवण समुद्र में कालधर्म को प्राप्त हुआ और शकट की माता भद्रा भी
मृत्यु को प्राप्त हो गयी । तब शकट कुमार को राजपुरुषों के द्वारा घर से निकाल दिया गया । अपने घर
में निकाले जाने पर शकटकुमार साहंजनी नगरी के श्रुंगाटक (त्रिकोण मार्ग) आदि स्थानों में भटकता
रहा तथा जुशारियों के अड्डों तथा शगवधरों में धूमने लगा । किसी समय उसकी सुदर्शना गणिका
के साथ गाह प्रीति हो गयी । (जैसी उजिफत की कामध्वजा के साथ हो गयी थी ।)

१०.—तए ण से भुसेणे अमच्चेते तं सगडं दारगं अन्नया क्याइ सुवरिसणाए गणियाए गिहाओ
निच्छूभावेह, निच्छूभावेता सुवरिसण गणियं अविभतरियं ठावेह, ठावेता सुवरिसणाए गणियाए सद्धि
उरालाहं भाषुहस्तगाहं भोगभोगाहं भुजमाणे विहरह ।

१०.—तदनन्तर सिहगिरि राजा का अमात्य—मन्त्री सुषेण किसी समय उस शकट कुमार
को सुदर्शना वेष्या के घर से निकलवा देता है और सुदर्शना गणिका को अपने घर में पली के रूप
में रखा लेता है । इस तरह घर में पत्नी के रूप में रखी हुई सुदर्शना के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार
विशिष्ट कामभोगों को यथारुचि उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करता है ।

११—तए ण से सगडे वारए सुदरिसणाए गणियाए गिहाथो निच्छुभेमाणे सुदरिसणाए गणियाए मुच्छिए गिहे गहिए अल्जोववणे प्रणत्यक्ष सुइं च रइं च अलभमाणे तच्छित्ते सम्मणे तल्लेसे तवज्ञवसाणे तवटोवउसे तवत्पियकरणे तबमावणाभाविए सुदरिसणाए गणियाए बहूणि अंतराणि य छिह्नाणि य विवरणि य पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे विहुरइ ।

तए ण से सगडे वारए अशया क्याइ सुदरिसणाए गणियाए अंतरं लभेइ, लभेला सुदरिसणाए गणियाए गिहे रहसियं अणुष्पविस्त्र, अणुष्पविस्त्रा सुदरिसणाए संद्वि उरालाइ मणुस्सगाइ भोगभोगाइ भुजमाणे विहुरइ ।

घर से तिकाला गया शक्ट सुदर्शना वेश्या में मूँछित, गृह, अत्यन्त आसक्त होकर अन्यथा कहीं भी मुख चैन, रति, शान्ति नहीं पा रहा था । उसका चित्त, मन, लेश्या अध्यवसाय उसी में लीन रहता था । वह सुदर्शना के विषय में ही सोचा करता, उसमें करणों को लगाए रहता, उसी को भावना से भावित रहता । वह उसके पास जाने की ताक में रहता और अवसर देखता रहता था । एक बार उसे अवसर मिल गया । वह सुदर्शना के घर में चुस गया और फिर उसके साथ भोग भोगने लगा ।

१२—इमं च णं सुलेणे अमच्चे पहाए जाव सखालंकारविभूतिए मणुस्सवगुराए परिविष्टते जेणेव सुदरिसणाए गणियाए गेहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता सगडं वारयं सुदरिसणाए गणियाए संद्वि उरालाइ भोगभोगाइ भुजमाणं पासइ, पालिता आसुरुते जाव मिसमिसेभाणे तिवलियं मिडिंचि निदाले साहट्टू सगडं वारयं पुरिसेहि गिण्हावेइ, गिण्हावेता अहि जाव(मुट्ठि-जाणु-कोप्पर-पहारसंभग-महियं करेइ, करिता अवझोड्यवन्धणं करेइ, करेसा जेणेव महूचंदे राया तेणेव उवागच्छइ, उवाग-च्छिता करयल जाव एवं वयासी—एवं खलु सामी ! सगडे वारए भम अंतेउरंसि अवरद्वे ।'

तए ण से महूचंदे राया सुलेण अमच्चं एवं वयासी—‘तुमं चेव णं, देवाणुप्पिया ! सगडस्स दारगस्स दंड वत्तेहि ।’

तए ण से सुसेणे अमच्चे महूचंदेणं रन्ना अधमणुश्चाए समाणे सगडं वारयं सुदरिसणं च गणियं एएण विहाणेण वज्ञं आणवेइ ।

तं एवं खलु, गोयमा । सगडे वारए पुरापोराणाणं दुच्छिणाणं जाव पञ्चणुभवमाणे विहुरइ ।

१३—इधर एक दिन स्नान करके तथा सर्व अलङ्कारों से विभूषित होकर अनेक मनुष्यों से परिवेष्टित सुसेण मन्त्री सुदर्शना के घर पर आया । आते ही उसने सुदर्शना के साथ यथारुचि कामभोगों का उपभोग करते हुए शक्ट कुमार को देखा । देखकर वह कोध के वश लाल-पीला हो, क्षांत पीसता हुआ मस्तक पर तीन सल वाली भृकुठि बढ़ा लेता है । शक्ट कुमार को अपने पुरुषों से वकङ्गाकर यज्ञियों, मुट्ठियों, घुटनों, कोहनियों से उसके शरीर को मधित कर अवकोटकवन्धन से जकड़वा कर यज्ञियों, मुट्ठियों, घुटनों, कोहनियों से उसके शरीर को मधित कर अवकोटकवन्धन से जकड़वा लेता है । तदनन्तर उसे महाराज महूचन्द्र के पास ले जाकर दोनों हाथ जोड़कर तथा जकड़वा लेता है । इस प्रकार निवेदन करता है—‘स्वामिन् ! इस शक्ट कुमार ने मेरे अन्तःपुर में प्रवेश करने का अपराध किया है ।’

इसके उत्तर में महाराज महचन्द्र सुषेण मन्त्री से इस प्रकार बोले—‘देवानुप्रिय ! तुम ही इसको अपनी इच्छानुसार दप्त दे सकते हो ।’

उत्पत्तिचात् महाराज महचन्द्र से आज्ञा प्राप्त कर सुषेण अमात्य ने शकट कुमार और सुदर्शना गणिका को पूर्वोक्त विधि से (जिसे हे गीतम ! तुमने देखा है) ब्रह्म करने की आज्ञा राजपुरुषों को प्रदान की ।

शकट का भविष्य

१३—सगडे णं भंते । दारए कालगए कहि गच्छहिइ, कहि उबवजिजहिइ ?

गोणमा ! सगडे णं दारए सप्ताहता कालाहं पश्याह्यं पालहत्ता अज्जेव तिभागावसेसे विवसे एं एं वहं अथोमयं तसं समजोहसूयं इत्थिपदिमं भ्रथयासाविए समाणे कालमासे कालं किञ्चत्ता इमीसे रथणप्पभाए पुढ़वीए नेरहवेलाए उबवजिजहिइ ।

से णं तओ अणंतैर उबवहृता रायगिहे नयरे मातंगकुलसि युगलत्ताए वच्चायाहिइ । तए णं तस्स वारगस्स अस्मापियरो निष्वलबारसाहस्स इमं एयारुदं गोणं तामधेज्जं करिस्सत्ति—‘तं होउ णं दारए सगडे नामेण, होउ णं वारिया सुदरिसणा नामेण ।’

१३—शकट की दुर्देशा का कारण भगवान् से सुनकर गीतम स्वामी ने प्रश्न किया--हे प्रभो ! शकट कुमार बालक यहाँ से काल करके कहाँ जाएगा और कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

भगवान् बोले—हे गीतम ! शकट दारक को ५७ वर्ष की परम आयु को भोगकर श्राव ही तीसरा भाग शेष रहे दिन में एक महालोहमय तपी हुई अभिन के समान देवीप्रभान स्त्रीप्रतिमा से श्राविंगित कराया जायगा । तब वह मृत्यु-समय में मरकर रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरक मूर्मि में नारक रूप से उत्पन्न होगा ।

वहाँ से निकलकर राजगृह नगर में भातञ्ज—चाण्डाल के कुल में युगल रूप से उत्पन्न होगा । युगल (वे दो बच्चे जो एक ही गर्भ से साथ-साथ उत्पन्न हुए हों) के माता-पिता वारहवें दिन उनमें से बालक का नाम ‘शकटकुमार’ और कन्या का नाम ‘सुदर्शना’ रखेंगे ।

१४—तए णं से सगडे दारए उम्मुक्कशासभावे विष्णयपरिणयमेत्ते जोबवण्णगमण्णपत्ते भविस्सइ ।

तए णं सा सुवरिसणा वि वारिया उम्मुक्कशालमावा जोबवण्णगमण्णपत्ता रुवेण य जोबवण्णेण य लावण्णेण य उकिकट्टा उकिकट्टरोरा यावि भविस्सइ । तए णं से सगडे दारए सुवरिसणाए रुवेण य जोबवण्णेण य लाकण्णेण य मुच्छिए सुवरिसणाए रुद्धि उरालाहं भोगभोगाहं भुजमाणे विहरिस्सइ ।

तए णं से सगडे दारए अन्नया सयमेव कूडगाहित्तं उबसंपज्जित्ताणं विहरिस्सइ । तए णं से सगडे दारए कूडगाहे भविस्सइ अहम्मिए जाव । दुष्पडियाणन्वे । एयकम्भे-४ सुबहुं पाकम्भं समजिज्ञित्ता कालमासे कालं किञ्चत्ता इमीसे रथणप्पभाए पुढ़वीए नेरहयत्ताए उबवजिजहिइ । संसारो तहेव जाव पुढ़वोए ।

से जं तज्जो शर्णतरं उवचट्टिता वाणारसीए नयरीए मच्छत्ताए उवचजिजहिइ । से जं तत्थ मच्छबन्धिएहि बहिए तत्येव वाणारसीए नयरीए सेट्टिकुलंसि पुतत्ताए पञ्चायाहिइ । औहि, पञ्चवज्ञा, सोहम्मे कर्ष्णे, महाविदेहे वासे सिजिक्षहिइ ।

निष्कलेश्वरो ।

१४—तदनन्तर शकट कुमार बाल्यभाव को त्याग कर धीवन को प्राप्त करेगा । सुदर्शना कुमारी भी बाल्यावस्था पार करके विशिष्ट ज्ञानबुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त करती हुई युवावस्था को प्राप्त होगी । वह रूप, धीवन व लावण्य में उत्कृष्ट- श्रेष्ठ व सुन्दर शरीर वाली होगी ।

तदनन्तर सुदर्शना के रूप, धीवन और लावण्य की सुन्दरता में मूर्च्छित होकर शकट कुमार अपनी बहिन सुदर्शना के साथ ही मनुष्य सम्बन्धी प्रधान कामभोगों का सेवन करता हुआ जीवन व्यतीत करेगा ।

तत्पश्चात् किसी समय वह शकट कुमार स्वयमेव कूटग्राहित्व को प्राप्त कर विचरण करेगा । वह कूटग्राह (कपट से जीवों को फँसाने वाला—मारने वाला) बना हुआ वह शकट महाप्रधर्मी एवं दुष्प्रत्यानन्द होगा । इन अधर्म-प्रधान कर्मों से बहुत में पापकर्मों को उपाजित कर मृत्युसमय में मर कर रत्नप्रभा नाम प्रथम नरक में नारकी रूप से उत्पन्न होगा । उसका संसार-अमरण भी पूर्ववत् (इक्कड़, उज्जित आदि के समान) जान लेना चाहिए यावत् वह पृथ्वीकाय आदि में लाखों-लाखों बार उत्पन्न होगा ।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह सीधा वाराणसी नगरी में भृत्य के रूप में जन्म लेगा । वहाँ पर मत्स्यघातकों के द्वारा बघ को प्राप्त होकर यह फिर उसी वाराणसी नगरी में एक श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप से उत्पन्न होगा । वहाँ सम्यक्त्व एवं अनगार धर्म को प्राप्त करके सीधर्म नामक प्रथम देवलोक में देव होगा । वहाँ से च्युत हो, महाविदेह श्रेष्ठ में जन्म लेगा । वहाँ साधुवृत्ति का सम्यक्त्या पालन करके लिढ़, बुद्ध होगा, समस्त कर्मों श्रीर दुःखों का अन्त करेगा ।

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

पञ्चम अध्यायान

बृहस्पतिदत्त

प्रस्तावना

पञ्चमस्स उक्तेदो—जड़ण भन्ते ।

पांचवें अध्ययन का उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्वं वत् जान लेना चाहिये । अर्थात् जमदूसवाभी ने प्रश्न किया कि श्रमण भगवान् महावीर ने दुखविपाक के पांचवें अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? तब सुधर्मी स्वामी ने कहा—

१—एवं छलु, जम्बू । तेण कालेण तेण समर्णं कोसंबी नामं जगरी होत्था । रिद्विषमिष-समिद्वा । चाहि चंद्रोतरणे उज्जाणे । सेयमद्वैजक्षे ।

२—हे जम्बू ! उस काल और उस समय में कोशान्बी नाम की एक नगरी थी, जो भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्वचक्ष-परचक्ष के भय से मुक्त तथा समृद्धि से समृद्ध थी । उस नगरी के बाहर चन्द्रावतरण नामक उद्धान था । उसमें श्वेतभद्र नामक यक्ष का आयतन था ।

३—तस्य णं कोसंबीए नयरीए सयाणीए नामं राया होत्था । महया० । बियावई देवी । तस्स णं सयाणीयस्स पुत्ते मियादेवीए अत्तए उदायणे नामं कुमारे होत्था, अहीणपाडपुण्णपंचिविय-सरीरे, जूषराया । तस्स णं उदायणस्स कुमारस्स पउमारई नामं देवी होत्था ।

४—उस कोशान्बी नगरी में शतानीक नाम का राजा राज्य करता था । जो हिमालय पर्वत आदि के समान महान् और प्रतापी था । उसके मृगादेवी नाम की रानी थी । उस शतानीक राजा का पुत्र और रानी मृगादेवी का आत्मज उदयन नाम का एक कुमार था जो सर्वेन्द्रिय सम्पन्न ग्रथ च युधराज पद से प्रलङ्घत था । उस उदयन कुमार की पश्यावती नाम की देवी—पत्नी थी ।

५—तस्स णं सयाणीयस्स सोमदत्ते नामं पुरोहित होत्था, रिउवेय-यज्ञवेय-साभवेय-अयव्यवेयकुसले । तस्स णं सोमदत्तस्स पुरोहियस्स वसुपत्ना नामं भारिया होत्था । तस्स णं सोमदत्तस्स पुत्ते वसुपत्नाए अस्तए बहस्सइवस्से नामं वारए होत्था । अहीणपाडपुण्णपंचिवियसरीरे ।

६—उस शतानीक राजा का सोमदत्त नामक पुरोहित था, जो क्रहवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का पूर्ण ज्ञाता था । उस सोमदत्त पुरोहित के वसुदत्ता नाम की भार्या थी, तथा सोमदत्त का पुत्र एवं वसुदत्ता का आत्मज बृहस्पतिदत्त नाम का सर्वाङ्गसम्पन्न एक सुन्दर बालक था ।

४—तेण कालेण तेण समएण समणे भगवं महावोरे समोसरिए। तेण कालेण हेण समएण भगवं गोयमे तहेव जाय^१ रायभगमोगादे। तहेव पासइ हृत्यो, आसे, पुरिसमज्जो पुरिस। चिता। तहेव पुच्छद, पुच्छभव। भगवं वादरेह।

४—उस काल तथा उस समय में अमण भगवान् महावीर स्वामी कौशाम्बी नगरी के बाहर चन्द्रावतरण उद्यान में पधारे। उस समय भगवान् गौतम स्वामी पूर्ववत् कौशाम्बी नगरी में भिक्षार्थ गए। और लौटते हुए राजमार्ग में पधारे। वहाँ हाथियों, घोड़ों और बहुसंख्यक पुरुषों को तथा उन पुरुषों के बीच एक बध्य पुरुष को देखा। उनको देखकर मन में विचार करते हैं और स्वस्थान पर आकर भगवान् से उसके पूर्व-भव के सम्बन्ध में पृच्छा करते हैं। भगवान् उसके पूर्वभव का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

पूर्वभव

५—एवं खलु जन्म्य ! तेण कालेण हेण समएण इहेव जम्बुद्वीपे दीके भारहे वासे सत्यव्यो-भद्रे नामं नयरे होत्या, रिद्धत्यमियसमिद्धे। तत्य एं सत्यश्रोभद्वे नयरे जियसत्तू राया। तस्य एं जियसत्तुस्स रन्नो महेश्वरदत्ते नामं पुरोहिए होत्या, रिउव्येय-रज्जुव्येय-सामवेय-जयव्यवेयकुसले थायि होत्या।

५—हे गौतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बुद्वीप नामक द्वीप के आन्तरिक भरत-क्षेत्र में सर्वतोभद्र नाम का एक भवनादि के आधिक्य से युक्त आन्तरिक व बाह्य उपद्रवों से मुक्त तथा धनधान्यादि से परिपूर्ण नगर था। उस सर्वतोभद्र नामक नगर में जितशानु नामक राजा राज्य करता था। उस जितशानु राजा का महेश्वरदत्त नाम का एक पुरोहित था जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में कुशल था।

६—तए एं से महेश्वरदत्ते पुरोहिए जियसत्तुस्स रन्नो रजजबलविषद्वणद्वयए कल्लाकल्लि एगमेगं माहणदारयं, एगमेगं खत्तियदारयं एगमेगं वडस्सदारयं, एगमेगं सुद्वदारयं गिण्हावेह, गिण्हावेत्ता तेसि जोदंतगाणं चेव हिययउडेह गिण्हावेत्ता जियसत्तुस्स रन्नो संतिहोमं करेह।

तए एं से महेश्वरदत्ते पुरोहिए अदूसी-चउद्वसीमु दुवे-दुवे माहणखत्तिय-वडस्स-सुद्वदारगे, अउपहं आसाणं खत्तारि-चलारि, अण्हं आसाणं अदू-अदू संबच्छरसस क्षोलस-सोलस।

जाहे जाहे वि य एं जियसत्तू राया परबलेण अभिनुज्जइ, ताहे ताहे वि य एं से महेश्वरदत्ते पुरोहिए अदूसयं माहणदारगाणं, अदूसयं खत्तियदारगाणं अदूसयं वडस्सदारगाणं अदूसयं सुद्वदारगाणं पुरिसेहि गिण्हावेह, गिण्हावेत्ता जियसत्तुस्स रन्नो संतिहोमं करेह। तए एं से परबले खिण्पामेव विद्वंसिज्जइ वा पडिसेहिज्जइ वा।

६—महेश्वरदत्त पुरोहित जितशानु राजा के राज्य की एवं बल की वृद्धि के लिये प्रतिदिन एक-एक झाह्याण बालक, एक-एक क्षत्रिय बालक, एक-एक वैश्य बालक और एक-एक शूद्र बालक को पकड़वा लेता था और पकड़वाकर, जीते जी उनके हृदयों के मासपिण्डों को ग्रहण करवाता-

निकलवा लेता था और बाहर निकलवाकर जितशत्रु राजा के निमित्त उनसे शान्ति-होम किया करता था ।

इसके अतिरिक्त वह पुरोहित अष्टमी और चतुर्दशी के दिन दो-दो बालकों के, चार-मास में चार-चार के, छह मास में आठ-आठ बालकों के और संवत्सर-वर्ष में सोलह-सोलह बालकों के हृदयों के मांसपिण्डों से शान्तिहोम किया करता था । जब-जब जितशत्रु राजा का किसी शत्रु के साथ युद्ध होता तब-तब वह महेश्वरदत्त पुरोहित एक सौ आठ (१०८) न्नात्मण बालकों, एक सौ आठ शत्रिय-बालकों, एक सौ आठ वैश्यबालकों और एक सौ आठ शूद्रबालकों को अपने पुरुषों द्वारा पकड़वाकर और जीते जी उनके हृदय के मांसपिण्डों को दिक्षान्वाहर नितशत्रु नरेश की विजय के निमित्त शान्तिहोम करता था । उसके प्रभाव से जितशत्रु राजा शीघ्र ही शत्रु का विघ्नस कर देता था उसे भगा देता था ।

७—तए ण से महेश्वरदत्ते पुरोहिण एयकम्मे एयप्पहृणे एयथिल्जे एयसमायारे सुबहूं पाथकम्मं समउज्जित्ता तीसं वाससयं परमाउं पालहृत्ता कालभासे कालं किल्का पंचमीए पुढ्वीए उवकोसेण सत्तरससागरोवम् द्विद्वृण नरये उववन्ने ।

८—इस प्रकार के क्रूर कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, क्रूरकर्मों में प्रधान, नाना प्रकार के पापकर्मों को एकत्रित कर अन्तिम समय में वह महेश्वरदत्त पुरोहित तीन हजार वर्ष का परम आमुख्य भोगकर पांचवें नरक में उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की स्थिति वाले नारक के रूप में उत्पन्न हुआ ।

वर्तमान भव

९—से णं तथो अण्तर्त उव्वद्वृणा इहेव कोसंबीए नयरीए सोमवत्तस्स पुरोहियस्स वसुदत्ताए भारियाए पुत्तत्ताए उववन्ने । तए णं तस्स दारगस्स अम्भापियरो निवत्तबारसाहस्स इमं एयारुवं नामधेज्जं करेति—‘जम्हा णं अम्हं इमे वारए सोमवत्तस्स पुरोहियस्स पुत्ते, वसुदत्ताए भत्तए, तम्हा णं होउ अम्हं दारए वहस्सद्वत्ते नामेण ।’ तए णं से वहस्सद्वत्ते वारए पंचधाइपरिग्गहिए जाव परिवद्वृह । तए णं से वहस्सद्वत्ते उम्भुक्कदामभावे जोवदणगमणुप्पत्ते विन्नप्परिणयमेते होत्या । से णं उवायणस्स कुमारस्स पियबालध्यस्सए यावि होत्या । सहजायए, सहवद्विषए, सहपंसुकीलियए ।

१०—तदनन्तर भहेश्वरदत्त पुरोहित का वह पापिष्ठ जीव उस पांचवें नरक से निकालकर सीधा इसी कीशाम्बी नगरी में सोमदत्त पुरोहिन की वसुदत्ता भार्या के उदर में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ । उत्पन्नचात् उत्पन्न हुए उस बालक के भाजा-पिता ने जन्म से बाहरवें दिन नामकरण संस्कार करते हुए कहा—यह बालक सोमदत्त का पुत्र और वसुदत्ता का आत्मज होने के कारण इसका वृहस्पतिदत्त यह नाम रखेगा जाए ।

११—तदनन्तर वह वृहस्पतिदत्त बालक पांच धायमाताओं से परिगृहीत यावत् वृद्धि को प्राप्त करता हुआ तथा बालभाव को पार करके युवावस्था को प्राप्त होता हुआ, परिपक्व विज्ञान को उपलब्ध किये हुए वह उदयन कुमार का बाल्यकाल से ही प्रिय मित्र हो गया । कारण यह था कि ये दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए, एक साथ बढ़े और एक साथ ही दोनों ने धूलि-क्रीड़ा की थी भर्तीत् खेले थे ।

१२—तए णं से सवाणीए राया अन्नया कयाइ कालधम्मुणा संज्ञुत्ते । तए णं से उवायणं कुमारे बहूहि राईसर-तलवर-माडंक्षिय-कोइ-क्षिय-झब्ब-सेट्टी-सेणा-वह-सत्पवाहप्पमिहिं सर्दि संपरिवुडे रोय-

माणे, कन्दमाणे, विलधमाणे सवाणीयस्स रन्नो मह्या इड्डि-सवकारसमुद्देशं नीहरणं करेह, करेता बहूहि लोहयाहि भयकिञ्चाहि करेह। तए ण से वहये राईसर जाव सत्थवाहा उदायणे कुमारं मह्या-मह्या रायामिसेएणं अभिसिष्टांति।

तए ण से उदायणकुमारे राया जाए मह्या हिमवंतः।

९—तदनन्तर किसी समय राजा शतानीक कालधर्म को प्राप्त हो गया। तब उदयनकुमार बहुत से राजा, तलवर, मांडिक, कौटुंबिक, इश्य, श्रेष्ठी सेनापति और सार्थवाह आदि से साथ रोता हुआ, आक्रमन करता हुआ तथा विलाप करता हुआ शतानीक नरेश का राजकीय समृद्धि के अनुसार सम्मानपूर्वक नीहरण तथा भृतक सम्बन्धी सम्पूर्ण लौकिक कृत्यों को करता है।

तदनन्तर उन राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि ने मिलकर बड़े समारोह के साथ उदयन कुमार का राज्याभिषेक किया।

उदयनकुमार हिमालय पर्वत के समान महान् राजा ही गया।

१०—तए ण से बहस्सइदत्ते बारए उदायणस्स रन्नो पुरोहित्यकर्मं करेमाणे सद्वद्वाणेसु, सत्य-भूमियासु, अंतेउरे य विन्नवियारे जाव यावि होत्या। तए ण से बहस्सइदत्ते पुरोहित उदायणस्स रन्नो अंतेउरंसि वेलासु य अवेलासुय, काले य अक्षाले य, राजो य विभाले य पवित्रमाणे अन्नया क्याह पउमावईए देवीए लद्धि संपलगे यावि होत्या। पउमावईए देवीए लद्धि उरालाहि भीगभोगाहि भुंजमाणे विहरइ।

१०—तदनन्तर बृहस्पतिदत्त कुमार उदयन नरेश का पुरोहित हो गया और पौरोहित्य कर्म करता हुआ सर्वस्थानों, सर्वभूमिकाओं तथा अन्तःपुर में भी इच्छानुसार द्वेरोक-टोक शमनागमन करने लगा।

तत्पश्चात् वह बृहस्पतिदत्त पुरोहित उदयन-नरेश के अन्तःपुर में समय-असमय, काल-आकाल तथा रात्रि एवं सन्दियाकाल में स्वेच्छापूर्वक प्रवेश करते हुए धीरे धीरे पद्मावती देवी के साथ अनुचित सम्बन्ध बाला हो गया। तदनुसार पद्मावती देवी के साथ उदार घरेष्ट भनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को सेवन करता हुआ समय ध्यतीत करने लगा।

११—इसं च ण उदायणे राया एहाए जाव विमूसिए जेणेव पउमावई देवी तेणेव उदागच्छाइ, उदागच्छता बहस्सइदत्तं पुरोहियं पउमावई देवीए लद्धि उरालाहि भीगभोगाहि भुंजमाणे पासइ, पासिता आमुखते तिवलियं भिड्डि णिड्डाले साहद्दू बहस्सइदत्तं पुरोहियं पुरिमेहि गिणहावेह जाव (गिणहावेता अड्डि-मुट्ठि-जाणु-कोप्परपहार-संभग-भृत्यगत्तं करेह, करेता अवलोड्य-बंधाणं करेह, करेता) एएण विहाणेण वज्रं आणवेह।

एवं खलु गोवमा ! बहस्सइदत्तं पुरोहियं पुरा पुराणाणं जाव विहरइ।

११—इधर किसी समय उदयन नरेश स्नानादि से निवृत्त होकर और समस्त अलक्ष्मारों से अलंकृत होकर जहाँ पद्मावती देवी थी वहाँ आया। आकर उसने बृहस्पतिदत्त पुरोहित को पद्मावती

देवी के साथ भोगोपभोग भोगते हुए देखा। देखते ही वह क्रोध से तमतमा उठा। भस्तक पर तीन बल बाली भृकुटि चढ़ाकर बृहस्पतिदत्त पुरोहित को पुरुषों द्वारा पकड़वाकर यछिट (श्रस्थि), मुट्ठी, घूटने, कोहनी, आदि के प्रहारों से उसके शरीर को भग्न कर दिया गया, मथ ढाला और फिर इस प्रकार (जैसा कि तुमने राजमार्ग में देखा है) ऐसा कठोर दण्ड देने की राजपुरुषों को आज्ञा दी।

हे गौतम ! इस तरह बृहस्पतिदत्त पुरोहित पूर्वकृत कूर पापकर्मों के कल को प्रत्यक्षरूप से अनुभव कर रहा है।

भविष्य

१२—‘बृहस्पतिदत्ते णं भंते ! शारए इओ कालगण समाणे कहि यच्छिहिद ? कहि उववज्जिहिद ?

गोवमा ! बृहस्पतिदत्ते णं दारए पुरोहिए चउसर्हि बासाहं परमात्मयं पालहत्ता अज्जेव तिभागादसेसे विवसे सुलिय-भिन्ने कए समाणे कालबासे कालं किच्चा हमीसे रथणप्यभाए पुढ़वीए उथकोसं सागरोदमद्विएसु नेरइएसु नेरइथत्ताए उववज्जिहिति। संसारो जहा पढ़मे जाव बाड-तेउ आउ-पुढ़वीसु।

तओ हृतिणाङ्गे नयरे लिहत्ताए दच्चावाहुहमाह। हे णं तस्य बाउरिएहि वहिए समाणे तथेव हृतिणाउरे नयरे सेट्टिकुलसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिद, बोहि, सोहम्मे कप्ये, महाविवेहे बासे मिज्जिहिदि।

निकलेवो ।

१२—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—हे भगवन् ! बृहस्पतिदत्त पुरोहित यहाँ से काल करके कहाँ जायेगा ? और कहाँ पर उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! बृहस्पतिदत्त पुरोहित ६४ वर्ष की आयु को भोगकर दिन का तीसरा भाग शेष रहने पर सूली से भेदन किया जाकर कालावसर में काल करके रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में उत्कृष्ट एक सागर की स्थिति बाले नारकों में उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर प्रथम अध्ययन में वर्णित मृगापुत्र की तरह सभी नरकों में, सब तिर्यक्चों में तथा एकेन्द्रियों में लाखों लाखों बार जन्म-मरण करेगा।

तत्पन्नात् हस्तिनापुर नगर में मृग के रूप में जन्म लेगा। पहाँ पर वागुरिकों—जाल में फँसाने का काम करने वाले व्याधों के द्वारा मारा जाएगा। और इसी हस्तिनापुर में श्रेष्ठकुल में पुत्ररूप से जन्म धारण करेगा।

वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा और काल करके सौधर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से च्युत होकर महाविवेह अंत्र में जन्म लेगा। वहाँ पर अनमार बृत्ति धारण कर, संयम की आराधना करके सब कर्मों का अन्त करेगा—परमसिद्धि को प्राप्त करेगा।

निष्क्रेप—उपसंहार पूर्ववत् जान लेना चाहिए ।

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

षष्ठ अष्टायन

ननिदवर्द्धन

प्रस्तावना

१—उवलेशो—जह एं भंते ! समणेण भगवया महावीरेण पंचमस्स अज्ञयणस्स अथमट्ठे पण्णते, छट्ठस्स एं भंते । समणेण भगवया महावीरेण के शट्ठे पण्णते ?

तए एं सुहुमे अणगारे जम्बू-अणगारं एवं वयासी—

२—उत्क्षेप—जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—भगवन् ! यदि यावत् मुक्तिप्राप्त थमण भगवान् महावीर ने पांचवें अध्ययन का यह अर्थ कहा, तो पछ्य अध्ययन का भगवान् ने क्या अर्थ कहा है ?

३—एवं खलु जम्बू ! तेण कालेण तेण समएण महुरा नामं नयरी होत्था । भंडीरे उज्जाणे । सुबंसणे जक्षे । सिरिशामे राया । बन्धुसिरी भारिया । पुसे ननिदवर्द्धणे कुमारे अहीण (पङ्किपुण्ण-पंचिदिवशारीरे) जाव जुवराया ।

४—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में मधुरा नाम की नगरी थी । वहाँ भंडीर नाम का एक उद्यान था । सुदर्शन नामक यक्ष का उसमें आयतन था । वहाँ श्रीदाम नामक राजा राज्य करना था, उसकी बन्धुश्री नाम की रानी थी । उनका सर्वज्ञ-सम्पन्न युवराज पद से अलंकृत ननिदवर्द्धन नाम का सर्वांगसुन्दर पुत्र था ।

५—तस्स सिरिदामस्स सुबन्धु नामं अमच्चे होत्था । साम-सेय-दण्ड उवप्याणनीतिकुसले, सुपउत्तनविहृण् । तस्स एं सुबंधुस्स अपच्चरस्स बहुमित्रापुत्रे नामं दारए होत्था, अहीण० । तस्स एं सिरिदामस्स रङ्गो चित्ते नामं अलंकारिए होत्था । सिरिदामस्स रणो चित्ते बहुविहं अलंकारियकम्मं करेमाणे सञ्चट्ठाणे सु य सञ्चभूमियासु य, अंतेउरे य, विघ्नविधारे यावि होत्था ।

६—श्रीदाम नरेश का सुबन्धु नामक मन्त्री था, जो नाम, दण्ड, भेद-उपग्रदान में कुशल था—नीनि-निपुण था । उस मन्त्री के बहुमित्रापुत्र नामक सर्वज्ञसम्पन्न व रूपवान् बालक था । श्रीदाम नरेश का, चित्र नामक अलंकारिक (केशादि को अलंकृत करने वाला नाई) था । वह राजा का अनेकविधि, औरकर्म करता हुआ राजा की आज्ञा से सर्वस्थानों, सर्व-भूमिकाओं तथा अन्तःपुर में भी, वेरोक-टोक, आवागमन करता रहता था ।

७—तेण कालेण तेण समएण सामी समोसढे । परिसा निगद्या, राया निगद्यो जाव परिसा पङ्किगम्या ।

४—उस काल उस समय में भगवान् महावीर स्वामी पधारे। पुरिषद् व राजा भगवान् की धर्मदेशना श्रवण करने नगर से निकले, यावत् धर्मदेशना सुनकर वापिस चले गये।

गौतम स्वामी का प्रश्न

५—तेण कालेण तेण समएण समणस्स जेद्धे जाव^१ रायमगमोगादे तहेव हृत्यो, आसे, पुरिसे, पासह। तेसि च पुरिसाण मञ्जसगयं एगं पुरिसे पासह जाव नरनारिसंपरिवृद्धं। तए णं तं पुरिसं रायपुरिसा चच्चरंसि तत्सिं अयोमयंसि समजोइभूयसोहासणंसि निवेसाधैति। तथाणंतरं च णं पुरिसाणं मञ्जसगयं पुरिसं बहुविहवयकलसेहि तसेहि समजोइभूएहि, अप्येगइया तंबभरिएहि, अप्येगइया तउयभरिएहि, अप्येगइया सोसग-भरिएहि, अप्येगइया कलकलभरिएहि, अप्येगइया खारतेल्लभरिएहि, महया-महया रायाभिसेएण अभिसिञ्चति। तथाणंतरं च णं तत्त्वं अयोमयं समजोइ-भूयं अयोमयसंडासएणं गहाव हारं पिण्डान्ति। तुप्राणंतरं च णं अद्वहारं पिण्डान्ति जाव (तित्तरियं पिण्डान्ति, पालंबं पिण्डान्ति, किंसुत्तयं पिण्डान्ति, पट्टं पिण्डान्ति, भउडं) पिण्डान्ति।

चिन्ता तहेव जाव वागरेह।

५—उस समय भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम स्वामी भिक्षा के लिये नगरी में पधारे। भिक्षा ग्रहण करके लौटते हुए यावत् राजमार्ग पर पधारे। वहाँ उन्होंने (पूर्ववत्) हाथियों, घोड़ों और पुरुषों को देखा, तथा उन पुरुषों के मध्य में यावत् बहुत से नर-नारियों के बृन्द से घिरे हुए एक पुरुष को देखा। राजपुरुष उस पुरुष को चत्वर—जहाँ बहुत से रासते मिलते हों—ऐसे स्थान में अग्नि के समान-समतप्त लोहमय सिहासन पर बैठाते हैं। बैठाकर कोई-कोई राजपुरुष उसको अग्नि के समान उष्ण लोहे से परिपूर्ण, कोई ताङ्रपूर्ण, कोई त्रपु-रांगा से पूर्ण, कोई सीसा से पूर्ण, कोई कलकल से पूर्ण, अथवा कलकल शब्द करते हुए अत्युष्ण पानी से परिपूर्ण, क्षारयुक्त तंल से पूर्ण, अग्नि के समान तपे कलशों के द्वारा महान् राज्याभिषेक से उसका अभिषेक करते हैं।

तदनन्तर उसे, लोहमय संडासी से पकड़कर अग्नि के समान तपे हुए अयोमय—अठारह लड़ियों वाले हार, अर्द्धहार-नी लड़ी वाले हार, तीन लड़ी वाले हार को, कोई प्रालम्ब—लम्बी लटकती माला, कोई करधनी, कोई भस्तक के पट्टवस्त्र अथवा भूषणविशेष और कोई मुकुट पहिनाते हैं।

यह भयावह दृश्य देखकर श्री गौतमस्वामी को पूर्ववत् विचार उत्पन्न हुआ—यह पुरुष नारकीय वेदना भोग रहा है, आदि। यावत् गौतमस्वामी उस पुरुष के पूर्वभव सम्बन्धी वृत्तान्त को भगवान् से पूछते हैं भगवान् उत्तर में इस प्रकार कहते हैं—

भगवान् का उत्तर : नन्दिष्ण का पूर्वभव

६—एवं खलु गोयमा। तेण कालेण तेण समएण इहेव जंबुद्वीवे वीवे भारहे वासे सीहपुरे नामं

नयरे होत्था । रिद्धत्वियसमिदे । तत्थ णं सीहपुरे नयरे सीहरहे नामं राया होत्था । तस्स णं सीहरहस्स रस्सो दुज्जोहुणे नामं चारगपालए होत्था, अहम्मिए जाव॑ दुष्पदियान्दे ।

६—हे गीतम् ! उस काल उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में सिहपुर नामक एक ऋद्ध, स्थितित व समृद्ध नगर था । वहाँ सिहरथ नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा के दुर्योधन नाम का चारकपाल—कारागाररक्षक—जेलर था, जो अधर्मी यावत् कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था ।

जेलर का घोर अत्याचार

७—तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स इमेयारुवे चारगभंडे होत्था—बहुवे अयकुँडोओ-अप्येगहयाओ तंदभारियाओ, अप्येगहयाओ तउयमरियाओ, अप्येगहयाओ सीसमरियाओ, अप्येगहयाओ कलकलमरियाओ, अप्येगहयाओ खारतेस्समरियाओ-शणगिकार्यसि अद्वियाओ चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे उद्वियाओ-अप्येगहयाओ आसमुत्तमरियाओ, अप्येगहयाओ हत्थपुत्तमरियाओ, अप्येगहयाओ गोमुत्तमरियाओ, अप्येगहयाओ भहिसमुत्तमरियाओ, अप्येगहयाओ उद्मुत्तमरियाओ, अप्येगहयाओ अयमुत्तमरियाओ, अप्येगहयाओ एलमुत्तमरियाओ बहुपदिपुण्णाओ चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे हत्थंडुयाण य पायंडुयाण य हडीण य नियताण य संकलाण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे बेणुलयाण य वेत्तलयाण य चिचालयाण य कसाण य बायरासीण य पुंजा निगरा चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स-चारगपालगस्स बहुवे सिलाण य लड्डाण य भोगराण य कणंगराण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे तंसीण य वरत्ताण य बागरज्जूण य बालयमुत्तरज्जूण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे असिपत्ताण य करपत्ताण य खुरपत्ताण य कलम्ब-चीरपत्ताण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे लोहुखीलाण य कडगसबकराण य खम्मपट्टाण य अल्लपट्टाण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

तस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे सूईण य हंमणाण य कोट्टिलाण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

सस्स णं दुज्जोहुणस्स चारगपालगस्स बहुवे पचछाण (सत्थाण) य पिप्पलाण य कुहाडाण य नहुच्छेयणाण य दक्षतिणाण य पुंजा य निगरा य संनिकिष्टा चिदुंति ।

७—दुर्योधन नामक उस चारकपाल के निम्न चारकभाण्ड—कारागार सम्बन्धी साधन—उपकरण थे । अनेक प्रकार की लोहमय कुण्डियाँ थीं, जिनमें से कई-एक ताङ्र से पूर्ण थीं, कई-एक श्रु—रांगा से परिपूर्ण थीं, कई एक सोसे से भरी थीं तो कितनीक चूर्णमिश्रित जल (जिस जल का स्पर्श होते हो जलन उत्पन्न हो जाय) से भरी हुई थीं और कितनीक क्षारयुक्त तेल से भरी थीं जो कि अग्नि पर रखी रहती थीं ।

दुर्योधन नामक उस चारकपाल के पास उष्ट्रिकाएँ—उष्ट्रों के पृष्ठ भाग के समान बड़े-बड़े बर्तन (मटके) थे—उनमें से कई एक अश्वमूत्र से भरे हुए थे, कितनेक हाथों के मूत्र से भरे हुए थे, कितने उष्ट्रमूत्र से, कितनेक गोमूत्र से, कितनेक महिपमूत्र से, कितनेक बकरे के मूत्र से तो कितनेक भेड़ों के मूत्र से भरे हुए थे ।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक हस्तान्दुक (हाथ में बांधने का काष्ठ-निर्मित बन्धन-विशेष) पादान्दुक (पैर में बांधने का बन्धनविशेष) हड्डि—काठ की बेहों, निम्ब—लोहे की बेड़ी और शुखला—लोहे की जङ्गीर के पुँज (शिखरयुक्त राशि) तथा निकर (शिखर रहित डेर) लगाए हुए रखे थे ।

इदा उस दुर्योधन चारकपाल के पास बेणुनाट्टों—दांस के चाबुकों, बंत के चाबुकों, चिचा-इमली के चाबुकों, कोमल चर्म के चाबुकों, सामान्य चर्मयुक्त चाबुकों, बल्कल रसियों—वृक्षों की त्वचा से निर्मित चाबुकों के पुँज व निकर रखे रहते थे ।

उसे दुर्योधन चारकपाल के पास शिलाश्रों, लकड़ियों, मुद्गरों और कनंगरों—जल में चलने वाले जहाज आदि को स्थिर करने वाले यन्त्रविशेष—के पुँज व निकर रखे रहते थे ।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास चमड़े को रसियों, सामान्य रसियों, बल्कल रज्जुओं, छाल से निर्मित रसियों, केशरज्जुओं (कली रसियों) और सूत्र रज्जुओं (सूती रसियों) के पुँज व निकर रखे रहते थे ।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास असिपत्र (कृपाण) करपत्र (आरा) क्षुरपत्र (उस्तरा) और कदम्बचोरपत्र (शस्त्र-विशेष) के भी पुँज व निकर रखे रहते थे ।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास लोहे की कीलों, बांस की सलाइयों, चमड़े के पट्टों व अल्लपट्ट—विच्छू की पूँछ के आकार जैसे शस्त्र-विशेष के पुँज व निकर रखे हुए थे ।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक सुड्यों, दम्भनों—अग्नि में तपाकर जिनसे शरीर में दाग दिया जाता है, ऐसी सलाइयों तथा लघु मुद्गरों के पुँज व निकर रखे हुए थे ।

उस दुर्योधन के पास अनेक प्रकार के शस्त्र, पिप्पल (छोटे छुरे) कुठार—कुलहाड़ों, नखच्छेदक—तेहरनों एवं ढाक के अग्रभाग से तीक्ष्ण हथियारों के पुँज व निकर रखे हुए थे ।

८—तए णं से बुज्जोहणे चारकपालए सोहरहस्स रशो बहवे चोरे य वारवारिए य गंठिभेण
य रायावयारी य अणहारए य बालधायए य विसंभधायए य जूयगरे य खंडपट्टे य पुरिसेहि
गिण्हावेह, गिण्हाविता उत्ताणए पाङ्जेह, पाङ्जेता लोहदण्डेण मुहं विहाङ्गेह, विहाङ्गिता अप्पेगहए तत्ततं वं
पउजेह, अप्पेगहए तउयं पञ्जेह, अप्पेगहए सोसगं पञ्जेह, अप्पेगहए कलकलं पञ्जेह, अप्पेगहए

खारतेलं पञ्जेह, अप्येगद्वयाणं तेण चेद अभिसेयगं करेह ।

अप्येगद्वए उत्ताणए पाञ्जेह, पाञ्जिसा, आसमुत्तं पञ्जेह, अप्येगद्वए हस्तिमुसं पञ्जेह, जग्य एलमुसं पञ्जेह ।

अप्येगद्वए हेट्टामुहे पाञ्जेह, छड्छडस्स^१ शभावेह, वस्मावित्ता अप्येगद्वए तेण चेद ओषीतं दलयेह ।

अप्येगद्वए हरथंदुयाहं बन्धावेह, अप्येगद्वए पायंदुए बन्धावेह, अप्येगद्वए हुडिबन्धणं करेह, अप्येगद्वए नियडबन्धणं करेह, अप्येगद्वए संकोडियमोडियं करेह, अप्येगद्वए संकलबन्धणं करेह ।

अप्येगद्वए हत्यचिन्नए करेह जाव सत्थोवाडियं करेह, अप्येगद्वए वेणुत्तायाहि य जाव वायरासोहि य हणावेह ।

अप्येगद्वए उत्ताणए कारवेह, कारेत्तर उरे सिलं दलावेह, तओ लज्जं छुहावेह, छुहावित्ता पुरिसेहि उवकंपावेह । अप्येगद्वए तंतीहि य जाव सुत्तरज्जुहि य हस्तेसु पाएसु य बंधावेह, अगडंसि ओचूलयालगं पञ्जेह, अप्येगद्वए असिपत्तेहि य जाव कलंबचीरपत्तेहि य पच्छावेह, पच्छावेत्ता खारतेललेण अबिभगावेह ।

अप्येगद्वए निढालेसु य अवद्वसु य कोप्परेसु य जाणुसु य खलुएसु य लोहकीलए य कङ्गसवकराओं य दवावेह, अलिए भंजावेह ।

अप्येगद्वए सूईओ डंभणाणि य हरथंगुलियासु य पायंगुलियासु य कोट्रिल्लएहि य आउडावेह, आउडावेत्ता मृमि कंडूयावेह ।

अप्येगद्वए सत्थेहि य जाव (अप्येगद्वए पिष्पलेहि ए, अप्येगद्वए कुहावेहि य, अप्येगद्वए) नहच्छेयणेहि य अंगं पछ्छावेह, वशेहि य कुसेहि य ओल्लबद्देहि य बेढावेह, बेढावेत्ता आयवंसि बलयह, बलइत्ता सुक्के समाणे छड्छडस्स उप्पावेह ।

८—तदतन्तर वह दुर्घटन चारकपाल सिहरथ राजा के अनेक चोर, परस्त्रीलम्पट, अन्धिभेदक—गांठकतरों, राजा के अपकारी—दुष्मनों, कृष्णधारक—कृष्ण लेकर बापिस नहीं करने वालों, बालघातकों, विश्वासवातियों, जुआरियों और धूतं पुरुषों को राजपुरुषों के द्वारा पकड़वाकर ऊँचंमुख—सीधा—वित्त गिराता है और गिराकर लोहे के दण्डे से मुख को खोलता है और खोलकर कितनेएक को तप्त तांवा पिलाता है, कितनेएक को रांगा, सीसक, चूणादिमिश्रित जल अथवा कलकल करता हुआ अत्यन्त उष्ण जल और धारयुक्त तेल पिलाता है तथा कितनों का इन्हीं से अभियेक कराता है ।

कितनों को ऊँचंमुख गिराकर उन्हें अश्वमूत्र हस्तिमूत्र यावत् भेड़ों का मूत्र पिलाता है । कितनों को अधोमुख गिराकर छल छल शब्द पूर्वक (छड़-छड़ शब्द पूर्वक) वमन कराता है और कितनों को उसी के द्वारा पीड़ा देता है ।

कितनों को हथकडियों बेडियों से, हडिबन्धनों से व निगडबन्धनों से बद्ध करता है । कितनों के शरीर को सिकोड़ता व मरोड़ता है । कितनों को सांकलों से बांधता है, तथा कितनों का हस्तच्छेदन यावत् शस्त्रों से चोरता-फाड़ता है । कितनों को वेणुनताशों यावत् बृक्षत्वचा के चाबुकों से पिटवाता है ।

१. इस पद के स्थान में 'छलघलरस' तथा 'बलस्स' पाठ भी आता है ।

कितनों को ऊर्ध्वसुख गिराकर उनकी छाती पर शिला व लकड़ रखवा कर उत्कम्पन (कपर नीचे) कराता है कि जिससे हड्डियाँ टूट जाएँ।

कितनों के चर्मरज्जुओं व सूत्ररज्जुओं से हाथों और पैरों को बँधवाता है, बँधवाकर कुए में उलटा लटकवाता है, लटकाकर गोते खिलाता है। कितनों का असिपत्रों यावत् कलम्बन्चोरपत्रों से छेदन कराता है और उस पर क्षारमिश्रित तेल से मर्दन कराता है।

कितनों के मस्तकों, कण्ठमणियों, धंटियों, कोहनियों, जानुओं तथा गुलफों-गिर्हों में लोहे की कीलों को तथा वांस को शलाकाओं को ढुकवाता है तथा वृश्चिककण्ठकों—विश्वु के काटों को शरीर में प्रविष्ट कराता है।

कितनों के हाथ की अंगुलियों तथा पैर की अंगुलियों में मुदगरों के द्वारा सूझ्यों तथा दम्भनों—दागने के शस्त्रविशेषों को प्रविष्ट कराता है तथा भूमि को खुदवाता है।

कितनों का शस्त्रों व नेहरनों से अङ्ग छिलवाता है और दभों—मूलसहितकुशाओं, कुजाओं—मूलरहित कुशाओं तथा आद्रचमों द्वारा बंधवाता है। तदनन्तर धूप में गिराकर उनके सूखने पर चड़ चड़ शब्द पुर्वक उनका उत्पाटन कराता है।

आचार का वृष्ट्यरिणाम

९—तए ण से दुज्जोहणे चारकपालए एयकम्मे एयप्पहाजे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पावकम्मं समजिअणिता एगतीसं वाससयाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किर्चा छ्डोए पुढ्वीए उक्कोसेण आवीससागरोदमद्विइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने।

९—इस तरह वह दुर्योधन चारकपालक इस प्रकार की निर्दयतापूर्ण प्रवृत्तियों को श्रापना कर्म, विजान व सर्वोत्तम आचरण बनाए हुए अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन करके ३१ सौ वर्ष की परम आयु भोगकर कालमास में काल करके छठे नरक में उत्कृष्ट २२ सामरोपम की स्थिति बाले नारकियों में नारक रूप में उत्पन्न हुआ।

१०—से ण तश्चो अणंतरं उद्धवद्विता इहेव भहुराए नगरोए सिरिवामस्त रथो बन्धुसिरीए देवीए कुच्छसि पुसत्ताए उववन्ने। तए ण बन्धुसिरो नवण्हं भासाणं बहुपञ्चपुण्णाणं जाव दार्गं पद्याया। तए ण तस्स वारगस्स अस्मापियरो निव्वत्ते बारसाहे इमं एयारुवं नामधेऊं करेति—‘होउ घं अम्हं वारगे नंदिसेणे नामेण’।

तए ण से नंदिसेणे कुमारे पंचधार्षपरिकुले जाव परिवद्वृक्ष। तए ण से नंदिसेणे कुमारे उम्मुक्कवालभावे जाव विहुरइ, जोव्वणगमणपत्ते जुवराया जाए यावि होत्या।

तए ण से नंदिसेणे कुमारे रज्जे य जाव अंतेजरे य मुच्छाए इच्छिङ्ग सिरिवामं रायं जीवियाद्वे श्वरोदेशए, सवभेव रज्जलिरि कारेमाणे, पालेमाणे विहरित्ताए। तए ण से नंदिसेणे कुमारे सिरिवामस्त रन्नो बहूणि अंतराणि य छिह्नाणि य विवराणि य पद्मिवामरमाणे विहरइ।

१०—तदनन्तर वह दुर्योधन चारकपाल का जोव छट्ठे नरक से निकलकर इसी मधुरा नगरी में श्रीदाम राजा को बन्धुक्षी देवों को कुक्षि में पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ। तदनन्तर लगभग तब मास परिपूर्ण होने पर बन्धुक्षी ने बालक को जन्म दिया। तत्पश्चात् बारहवें दिन माता-पिता ने नवजात बालक का नन्दिधेण नाम रखा।

तदनन्तर पाँच धायमाताओं से सार-संभाल किया जाता हुआ नन्दिषेण कुमार वृद्धि को प्राप्त होने लगा। जब वह बाल्यावस्था को पार करके युवावस्था को प्राप्त हुआ तब युवराज पद से अलंकृत भी हो गया।

तत्पश्चात् राज्य और अन्तःपुर में अत्यन्त आसक्त नन्दिषेण कुमार श्रीदाम राजा को मारकर स्वयं ही राज्यलक्ष्मी को भोगने एवं प्रजा का पालन करने को इच्छा करने लगा। एतदथं कुमार नन्दिषेण श्रीदाम राजा के अनेक अन्तर—अवसर, छिद्र—जिस समय पारिवारिक व्यक्ति नहीं हो, अथवा विरह—कोई भी पास न हो, राजा अकेला ही हो—ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

पितृवध का दुःसंकल्प

११—तए ण से नन्दिसेणे कुमारे सिरिदामस्स रन्नो अंतरं अलभमाणे अन्तया कथाइ चित्तं अलंकारियं सदावेह, सदावेत्ता एवं वधासो—‘तुम्हे ण देवाणुप्तिया। सिरिदामस्स रन्नो सबद्वाणेसु य सब्बभूमीसु य अंतेउरे य दिनविद्यारे सिरिदामस्स रन्नो अभिकलणं अभिकलणं अलंकारियं कम्मं करेभाणे विहरसि। तं णं तुम्हं देवाणुप्तिया। सिरिदामस्स रन्नो अलंकारियं कम्मं करेभाणे गीवाए खुरं निवेसेहि।

तो णं अहं तुम्हं अद्वरज्जयं करिस्सामि। तुमं अम्हेर्हि सद्वि उरालाइं भोगभोगाइं भुजयाणे विहरिस्ससि।'

तए ण से चित्ते अलंकारियं नन्दिसेणस्स कुमारस्स एयमहुं पदिसुणेहि।

१२—तदनन्तर श्रीदाम नरेश के वध का अवसर प्राप्त न होने से कुमार नन्दिषेण ने किसी अन्य समय चित्र नामक अलंकारिका—नाई को बुलाकर इस प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! तुम श्रीदाम नरेश के सर्वस्थानों, सर्वभूमिकाओं तथा अन्तःपुर में स्वेच्छापूर्वक आ-जा सकते हो और श्रीदाम नरेश का बारम्बार क्षौरकमं करते हो। अतः हे देवानुप्रिय ! यदि तुम श्रीदाम नरेश के धीरकमं करने के अवसर पर उसकी गरदन में उस्तरा धूसेड़ दो—इस प्रकार तुम्हारे हाथों नरेश का वध हो जाय तो मैं तुमको आद्या राज्य दे दूँगा। तब तुम भी हमारे साथ उदार-प्रधान कामभोगों का उपभोग करते हुए सानन्द समग्र व्यतीत कर सकोगे। चित्र नामक नाई ने कुमार नन्दिषेण के उक्त कथन को स्वीकार कर लिया।

घड्यंत्र विफल : धोर कदर्थना

१३—तए णं तस्स चित्तस्स अलंकारियस्स इमेयारुवे जाव (अज्ञतिथए चितिए कप्तिए पतियए भणोगए संकप्ते) समुप्पञ्जित्या—‘जइ णं भम सिरिदामे राया एयमहुं आगमेह, तए णं भम न नज्जाइ केणहु असुभेणं कुमारेणं मारिस्साइत्ति। कट्टु भोए जेणेव सिरिदामे राया तेणेव उदागच्छइ, उदागच्छित्ता सिरिदामं रायं रहस्सियगं करयलपरिगाहियं सिरसावत्तं भत्यए अंजलि कट्टु एवं अथासी—

‘एवं खलु सामी ! नन्दिसेणे कुमारे रज्जे य जाव मुच्छिए इच्छाइ तुम्हे जीवियाओ ववरोवित्ता स्थमेव रज्जसिरि कारेभाणे पालेभाणे विहरित्तए।’

तए णं से सिरिवामे राया चित्तस्स अलंकारियस्स एवमद्दु' सोज्ज्वा निसम्म आसुरते जाव
साहृद्दु नन्दिसेण कुमारं पुरिलेहि गिष्ठाविता एएणं विहाणेण बज्जं ग्राणवेह ।

'सं एवं खलु गोयमा ! नन्दिसेणे पुते जाव विहरह ।'

१२.—परन्तु कुछ ही समय के बाद चित्र अलंकारिक के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि
यदि किसी प्रकार से श्रीदाम नरेश को इस उद्यन्त्र का पता लग गया तो न मालम वे मुझे किस
कुमोत से मारेंगे । इस विचार के उद्भव होते ही वह भयभीत हो उठा और एकान्त में गुप्त रूप से
जहाँ महाराजा श्रीदाम थे, वहाँ पर आया । एकान्त में दोनों हाथ जोड़कर मण्डक पर अञ्जलि कर
विनयपूर्वक इस प्रकार बोला—

'स्वामिन् ! निष्ठय ही नन्दिषेण कुमार राज्य में आसत् यावत् अध्युपपन्न होकर आपका
बघ करके स्वयं ही राज्यलक्ष्मी भोगना चाह रहा है ।'

तब श्रीदाम नरेश ने चित्र अलंकारिक से इस बात को सुनकर, उस पर विचार किया और
उत्पन्न क्रोध में आकर नन्दिषेण को अपने अनुचरों द्वारा पकड़ाकर इस पूर्वोक्त विधान--प्रकार से
मार डालने का राजपुरुषों को आदेश दिया ।

'भगवान् कहते हैं—“हे गीतम ! नन्दिषेण पुत्र इस प्रकार अपने किये अशुभ पापमय कमों
के कल को भोग रहा है ।”'

नन्दिषेण का भवित्व

'नन्दिषेणे कुमारे इओ चुए कालमासे कालं किञ्च्चा कर्हि गच्छहिइ ? कर्हि उववज्जिहिइ ?'

'गोयमा ! नन्दिषेणे कुमारे सद्विवासाए परमाउवं पालइता कालमासे कालं किञ्च्चा
इमीसे रथणप्पमाए पुष्ट्वीए—संसारो तहेव ।

तथो हरिणाउरे नयै मच्छत्ताए उववज्जिहिइ । से णं तत्प मच्छएहि वहिए समाणे
तस्थेव सेत्कुले पुत्तत्ताए पच्चायाहिइ । बोहि सोहम्मे कप्ते—महाविवेहे वासे सिज्जहिइ, चुज्जहिइ
मुच्चहिइ, परिनिव्वाहिइ, सञ्चदुक्षाणं अंतं करेहिइ ।

निष्ठेदो ।

गीतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि—भगवन् ! नन्दिषेण कुमार मृत्यु के समय में यहाँ से
काल करके कहाँ जायगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गीतम ! यह नन्दिषेण कुमार साठ वर्ष की परम आयु को भोगकर
मृत्यु के समय में मर करके इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी-नरक में उत्पन्न होगा । इसका शेष संसार-
ऋण मृगापुत्र के अष्टयन की तरह समझ लेना यावत् वह पृथ्वीकाय आदि सभी काष्ठों में लाखों
बार उत्पन्न होगा ।

पृथ्वीकाय से निकलकर हस्तिनापुर नगर में मत्स्य के रूप में उत्पन्न होगा । वहाँ मच्छीभारों के द्वारा वध को प्राप्त होकर फिर वहों हस्तिनापुर नगर में एक शेषिं-कुल में पुत्ररूप में उत्पन्न होगा । वहाँ से महाविदेह शेष में जन्म लेगा । वहाँ पर चारित्र ग्रहण करेगा और उसका यथाविधि पालन कर उसके प्रभाव से सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा और परमनिवाण को प्राप्त कर भवं प्रकार के दुःखों का अन्त करेगा ।

॥ छठा अध्ययन समाप्त ॥

सार्वत्रम् अष्टयायन

उम्बरदत्त

प्रस्तावना

१—‘जह ण भंते !’ उक्खेको सत्तमस्तु ।

१—अहो भगवन् ! यदि श्रमण भगवान् महावीर ने दुःखविपाक के छठठे अध्ययन का यह अर्थ कहा है तो भगवान् ने सातवें अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? इस प्रकार सप्तम अध्ययन के दृश्यों की शादना पूर्ववद् ज्ञान लेनी चाहिये ।

२—एवं खलु, जंतु ! तेण कालेण तेण समएण पाठलिसंडे नयरे । वणखंडे नामं उच्चाणे । उम्बरदत्ते जवले । तत्य णं पाठलिसंडे नयरे सिद्धत्ये राया ।

तत्य णं पाठलिसंडे नयरे सागरदत्ते सत्थवाहे होत्या, अड्डे० । गंगदत्ता मारिया । तस्य सागरदत्तस्य पुत्रे गंगदत्ताए मारिया अत्तए उम्बरदत्तनामं दाए होत्या—अहोणपडिपुण्णपंचिविय-सरीरे ।

३—हे जम्बु ! उस काल तथा उस समय में पाठलिखण्ड नाम का एक नगर था । वही वनखण्ड नाम का उद्यान था । उस उद्यान में उम्बरदत्त नामक यक्ष का यक्षायतन था । उस नगर में मिदार्घ नामक राजा राज्य करता था ।

पाठलिखण्ड नगर में सागरदत्त नामक एक धनाद्य सार्यवाह रहता था । उसकी गङ्गदत्ता नाम की भार्या थी । उस सागरदत्त का पुत्र व गङ्गदत्ता भार्या का आत्मज उम्बरदत्त नाम का अन्यून व परिपूर्ण पञ्चेन्द्रियों से युक्त सुन्दर शरीर वाला एक पुत्र था ।

४—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ समोसरणं, जाव परिसा पदिगया ।

५—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर वही पद्धारे, यावत् षष्ठीपदेश सुनकर राजा तथा परिषद् वापिस चले गये ।

उम्बरदत्त का वर्तमान भव

६—तेण कालेण तेण समणेण भगवं गोवमे, तहेव जेणेव पाठलिसंडे नयरे तेणेव उवागच्छह, उवागच्छता पाठलिसंडं नयरं पुरत्यभिलेण दुष्कारेण अणुष्पविसइ, अणुष्पविसिता तत्य णं पासह एगं पुरिसं कच्छुलं कोढियं दोउयरियं, मगदरियं अरिसिल्लं कासिल्लं सासिल्लं सोगिलं सुयमूहं सूयहत्थं सदियपायंगुलियं सदियकण्णनासियं रसियाए य पूइएज य थिवियवियवणमुहकिमिडत्यंत-

षगलंत-पूयरहिरं लालापगलंतकण्णनासं अभिक्खणं पूयकदले य रहिरकबसे य किमियकबले य वममार्ण कट्टाइ कसुणाइ विसराइ कूयमार्ण मच्छियाचडगरयहकरेण अश्विज्जमाणमग्नं कुट्टहडाहडसीसं विडखंडवसर्ण खंडमल्ल-खंडधड-हत्थगयं गेहे-गेहे देहं बलियाए वित्ति कर्षेमार्णं पासह । तथा भगवं गोयमे उच्च-नीय-मज्जिम-कुलाइ जाव अडमाणे अहापजज्ञतं समुदाणं गिष्ठइ, गिष्ठिता पाडलिसंडामो पडिनिवखमइ, पडिनिवखमित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेजेव उवागच्छइ उवागच्छिता भत्तपाणं आलोएइ, भत्तपाणं पडिकंसेइ, पडिकंसित्ता समणेण अव्यमण्णवाए समाणे जाव विलमिव पञ्चगम्भूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ, संजमेण तवसा अप्पाणेण भावेमाणे विहरइ ।

४—उस काल तथा उस समय भगवान् गौतम स्वामी षष्ठतप-बेले के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिये पाटलिष्ठण नगर में जाने हैं । उस पाटलिष्ठण नगर में पूर्वदिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं । वहाँ एक पुरुष को देखते हैं, जिसका वर्णन निम्न प्रकार है—

वह पुरुष कण्ठ—खुजली के रोग से युक्त, कोळ के रोगवाला, जलोदर, भगन्दर तथा बवासीर-शर्ण के रोग से ग्रस्त था । उसे खांसी, श्वास व सूजन का रोग भी हो रहा था । उनका मुख सूजा हुआ था । हाथ और पैर भी सूजे हुए थे । हाथ और पैर की अडगुलियाँ सड़ी हुई थीं, नाक और कान गले हुए थे । ब्रणों (घावों) से निकलते सफेद गन्दे पानी तथा पीव से वह 'थिव थिव' शब्द कर रहा था । (अथवा विलबिलाते हुए) कुमियों से अत्यन्त ही पीडित तथा—गिरते हुए पीव और रुधिरवाले त्रणमुखों से युक्त था । उसके कान और नाक बलेदतन्तुओं—फोड़े के बहाव के तारों से गल चुके थे । बारंबार वह पीव के कबलों—ग्रासों का, रुधिर के कबलों का तथा कुमियों के कबलों का वमन कर रहा था । वह कष्टोत्पादक, करुणाजनक एवं दीनतापूर्ण शब्द कर रहा था । उसके पीछे-पीछे मक्षिकाओं के भुण्ड के झुण्ड चले जा रहे थे । उसके सिर के बाल अस्तव्यस्त थे । उसने थिगलीवाले वस्त्रखंड धारण कर रखे थे । फूटे हुए घड़े का टुकड़ा उसका भिक्षापात्र था । सिकोरे का खंड उसका जल-पात्र था, जिसे वह हाथ में लिए हुए घर-घर में भिक्षावृत्ति के द्वारा आजीविका कर रहा था ।

इधर भगवान् गौतम स्वामी ऊँच, नीच और मध्यम धरों में भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए और यथेष्ट भिक्षा लेकर पाटलिष्ठण नगर से निकलकर जहाँ श्रमण भगवान् भहावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ पर आये । आकर भत्तपान की आलोचना की और लाया हुआ आहार-पानी भगवान् को दिखाया । दिखलाकर उनकी आज्ञा मिल जाने पर दिल में प्रवेश करते हुए सर्प की भाँति—विना रस लिए ही—आहार करते हैं और संयम तथा तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे ।

५—तए ण से भगवं गोयमे दोच्चं पि छटुवष्मणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सञ्जायं जाव पाडलिसंड नथरं वाहिणिलेणं दुवारेण अणुपविसइ, तं चेव पुरिसं पासह—कच्छुस्लं तहेव जाव संजमेण तवसा विहरइ ।

५—उनके बाद भगवान् गौतम स्वामी ने दूसरी बार बेले के पारणे के निमित्त प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया यावत् भिक्षार्थ गमन करते हुए पाटलिष्ठण नगर में दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहाँ पर भी उन्होंने कंडू आदि रोगों से युक्त उसी पुरुष को देखा और वे भिक्षा लेकर बापिस प्राये । यावत् तप व संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

६—तए ण से गोयमे तच्चं पि छटुक्खमणपारणगंसि तहेव जाव पच्चत्थिमिल्लेण दुवारेण अणुपविसमाने तं चेव पुरिसं पासह कच्छुल्लं !

६—तदनन्तर भगवान् गौतम तीसरी बार बेले के पारणे के निमित्त उसी नगर में पश्चिम दिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं, तो वहाँ पर भी वे उसी पूर्ववर्णित पुरुष को देखते हैं।

पूर्वभव संहारी पृच्छा

७—भगवं गोयमे छउस्थं पि छटुक्खमणपारणगंसि उत्तरेण० । इमेयाहेवे अज्ञत्थिए समुप्पन्ने—‘अहो ण इमे पुरिसे पुरापोराणाणं जाव एवं वयासी—एवं खलु अहं, भंते ! छटु० जाव रोयंते जेणेव पाढ़लिसंडे नयरे तेजेव उवागच्छामि, उवागच्छत्ता पाढ़लिसंडे पुरत्थिमिल्लेण दुवारेण अणुपविद्वे । तथ्य णं एं पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव विंति कषेमाणं । तए अहं बोछवछटुखमणपारणगंसि दाहिणिल्लेण दुवारेण, तहेव । तच्चं पि छटुक्खमणपारणगंसि पच्चत्थिमेण, तहेव । तए णं अहं चर्वत्थं वि छटुक्खमणपारणगंसि उत्तरदुवारेण अणुपविसामि, तं चेव पुरिसं पासामि कच्छुल्लं जाव विंति कषेमाणे विहुरइ । चिन्ता मम ।’ पुरुषभवपुच्छा ।—वागरेष ।

७—इसी प्रकार गौतम चौथी बार बेले के पारणे के लिए पाटलिष्ठण में उत्तरदिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं। तब भी उन्होंने उसी पुरुष को देखा। उसे देखकर मन में यह संकल्प हुआ कि—अहो ! यह पुरुष पूर्वकृत अशुभ कमों के कटुविपाक को भोगता हुआ दुःख पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है पावत् वापिस आकर उन्होंने भगवान् से कहा—

‘भगवन् ! मैंने बेले के पारणे के निमित्त यावत् पाटलिष्ठण नगर की ओर प्रस्थान किया और नगर के पूर्व दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो मैंने एक पुरुष को देखा जो कंडूरोग से आकान्त यावत् भिक्षावृत्ति से आजीविका कर रहा था। फिर दूसरी बार पुनः छठे के पारणे के निमित्त भिक्षा के लिए उत्तर नगर के दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहाँ पर उसी पुरुष को उसी रूप में देखा। तीसरी बार पारणे के निमित्त पश्चिम दिशा के द्वार से प्रवेश किया तो वहाँ पर भी पुनः उसी पुरुष को उसी अवस्था में देखा और जब चौथी बार में बेले के पारणे के निमित्त पाटलिष्ठण में उत्तर दिशद्वार से प्रविष्ट हुआ तो वहाँ पर भी कंडूरोग से ग्रस्त भिक्षावृत्ति करते हुए उस पुरुष को देखा। उसे देखकर मेरे मानस में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अहो ! यह पुरुष पूर्वोपार्जित अशुभ कमों का कल मुगत रहा है; इत्यादि ।

प्रभो ! यह पुरुष पूर्वभव में कौन था ? जो इस प्रकार भीषण गोगों से आकान्त हुआ कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है ? भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तर देते हुए कहा—

पूर्वभव-वर्णन

८—एवं खलु गोयमा ! केण कालेण तेण समएण इहेव जम्बुदीवे दीवे भारहेवासे विजयपुरे नामं नयरं होत्था, रिद्धत्थिमिवसमिद्वे । तथ्य णं विजयपुरे नयरे कणगरहे नामं राया होत्था । तस्स णं कणगरहुस्स रक्षो धन्वन्तरी नामं वेजो होत्था ।

अहुं गाउडवेयपादृष्ट, तंजहा--कुमारभिल्लं सालागे सल्लहस्ते कायतिगिर्जा जंगेले मूर्यविजजा रसायणे दाजोकरणे । सिवहत्थे सुहहत्थे लहुहत्थे ।

१—हे गीतम ! उस काल और उस समय में इस जम्बूदीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में विजयपुर नाम का छह, स्तम्भित व समृद्ध नगर था । उसमें कनकरथ नाम का राजा राज्य करता था । उस कनकरथ का धन्वन्तरि नाम का वैद्य था जो आयुर्वेद के आठों अङ्गों का ज्ञाता था । आयुर्वेद के आठों अङ्गों के नाम इस प्रकार हैं—

१—कौमारभृत्य—आयुर्वेद का एक अङ्ग जिसमें कुमारों के दुर्घटजन्य दोषों के उपशमन का भुख्य वर्णन हो ।

२—शालाक्य—जिनमें नयन, नाक आदि ऊर्ध्वभागों के रोगों की चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया हो ।

३—शाल्यहत्य—आयुर्वेद का वह अङ्ग जिसमें शल्य—कण्टक, गोली आदि निकालने की विधि का वर्णन किया गया हो ।

४—कायचिकित्सा—शरीर सम्बन्धी रोगों की प्रतिक्रिया—इलाज का प्रतिपादक आयुर्वेद का एक अङ्ग ।

५—जांगुल—आयुर्वेद का वह विभाग जिसमें विषों की चिकित्सा का विधान है ।

६—भूतविद्या—आयुर्वेद का वह भाग जिसमें भूत-नियहू का प्रतिपादन हो ।

७—रसायन—आयु को स्थिर करने वाली व व्याधि-विनाशक शौषधियों का विधान करने वाला प्रकरण विशेष ।

८—बाजोकरण—बल-वीर्यवर्द्धक शौषधियों का विधायक आयुर्वेद का अंग ।

वह धन्वन्तरि वैद्य शिवहस्त—(जिसका हाथ कल्याण उत्पन्न करने वाला हो), शुभहस्त—(जिसका हाथ शुभ ग्रस्ता सुख उपजाने वाला हो) व लघुहस्त—(जिसका हाथ कुशलता से युक्त हो) था ।

९—तए ण से धन्तरी वेजे विजयपुरे नयरे कणगरहस्त रथो अंतेउरे य अन्नेसि च अहूण राईसर जाव सत्थवाहाणं अन्नेसि च बहूणं दुख्लाण य गिलाणाण य वाहियाण य रोगियाण य अणाहाण य सणाहाण य समणाण य माहणाण य चिक्खणाण य करोडियाण य कप्पिडियाण य आउराण य अप्पेगइयाणं भज्जुमंताइ जववेसेह, अप्पेगइयाणं कच्छुपमंसाइ, अरथेगइयाणं गोहामंसाइ, अप्पेगइयाणं भगरमंसाइ, अप्पेगइयाइ सुंसुसारमंताइ, अप्पेगइयाणं अमंसाइ एवं एसय-रोज्जा-सूपर-मिम-ससम-गोमंस-महिसमंसाइ, अप्पेगइयाइ तित्तिरमंसाइ, अप्पेगइयाणं बट्टक-लावक-कबोय-कुक्कुड-मयूर-मंसाइ अन्नेसि च बहूणं जलयर-पलयर-खहयर-माईणं मंसाइ उववेसेह । अप्पणा वियणं से धन्तरी वेजे लेहि बहूहि मच्छमंदेहि य जाव मयूरमंसेहि य अन्नेहि य बहूहि जलयर-पलयर-खहयर-मंसेहि य सोल्लेहि य तज्जिएहि य मछिजद हि य सुरं च भरुं च मेरणं च जाइं च सीधुं च आलाएलाणे विसाएलाणे परिमाएमाणे परिम् जेमाणे विहरइ ।

९—वह धन्वन्तरि वैद्य विजयपुर नगर के महाराज कम्करण के अन्तःपुर में निवास करने वाली रानियों को तथा अन्य बहुत से राजा, ईश्वर (ऐश्वर्यवान् या राजकुमार) याकृत् सार्थवाहों को तथा इसी तरह अन्य बहुत से दुर्बल ग्लान—मानसिक विन्ता से उदास रहने वाले, रोगी, व्याधित या बाधित, हाण व्यक्तियों को एवं सनाथों, अनाथों, अमणों-द्राघिणों, भिक्षुकों, करोटिकों-कापालिकों, कार्षटिकों—कन्धाधारी भिक्षुकों प्रथमा भिक्षमणी और ग्रातुरों की विकित्ता किया करता था। उनमें से कितने को मत्स्यमांस खाने का उपदेश देता था, कितनों को कछुओं के मांस का, कितनों को ग्राह—जलचरविशेष के मांस का, कितनों को मगरों के मांस का, कितनों को सुंसुमारों के मांस का, कितनों को बकरों के भांस का अर्थात् इनका मांस खाने का उपदेश दिया करता था। इसी प्रकार भेड़ों, गवयों, शूकरों, मृगों, शशकों, गीशों और महिषों का मांस खाने का भी उपदेश करता था।

कितनों को तितरों के मांस का तो कितनों को बटेरों, लाबकों, कबूतरों, कुकुटों व मूरों के भांस का उपदेश देता। इसी भाँति अन्य बहुत से जलचरों, स्थलचरों तथा खेचरों आदि के मांस का उपदेश करता था। अभी नहीं, वह धन्वन्तरि वैद्य स्वयं भी उन अनेकविधि मत्स्यमांसों, मयूर-मांसों तथा अन्य बहुत से जलचर स्थलचर व खेचर जीवों के मांसों से तथा मत्स्यमांसों व मयूररसों से पकाये हुए, तले हुए, भूने हुए मांसों के साथ पांच प्रकार की मदिराथों का आस्वादन व विस्वादन, परिआजन एवं गारन्यार उपभोग करता हुआ उन्नत व्यवहार करता था।

१०—तए ण से धन्वन्तरी वैज्ञेण्यकम्मे एयकम्मे एयविज्जे एयसमायारे सुबहुं पार्व कम्म समज्जिणिता बत्तीसं खाससयाइं परमाउथं पालइत्ता कालमासे कालं किञ्चन्द्रा छट्टीए पुढबीए उषकोसेण खादीससागरोपमहिलाएसु नेरइयत्ताए उवयन्ते।

१०—तदनन्तर वह धन्वन्तरि वैद्य इन्हीं पापकर्मी वाला इसी प्रकार की विद्या वाला और ऐसा ही आचरण बनाये हुए, अत्यधिक पापकर्मी का उपार्जन करके ३२ सौ वर्ष की परम आयु को भोगकर काल मास में काल करके छट्टी नरकपृथ्वी में उत्कृष्ट २२ सामरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ।

११—तए ण सा गंगवत्ता भारिया जायनिकुया यावि होत्या, जाया जाया दारणा विणिहाय-मावध्यांति। तए ण तीसे गंगवत्ता ए सत्यवाहोए अथवा कावाइ पुञ्चरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुं वाग-हियं जागरमाणीए अर्य अजश्विथए जाव समुप्तन्ते—‘एवं खलु, अहं सागरदसेण सत्यवाहेण संदिग्धाहं वासाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुजमाणी विहरामि, मो चेव ण अहं दारणं वा वारियं वा पयामि। तं धन्नाओ ण ताओ अम्मयाओ, संपुण्णाओ, कयत्थाओ, कयपुण्णाओ, कयलक्खणाओ ण ताओ अम्मयाओ, सुलझेण तासि अम्मयाण माणुस्सए जम्मजीविप्रफले, जासि भन्ने नियगकुञ्ज्ञसंसूयाइ थण्डुदुखुद्याइं महुरसमूल्लावगाइं मम्मणपजंपियाइं थण्मूलकक्षदेसमागं अभिसरमाणयाइं मुद्दयाइं पुणो पुणो थ कीमलकमलोबमेहि हृत्येहिं हिण्हुक्तण उष्ठुर्गे निवेलियाइं वेलि समूल्लावए सुमहुरे पुणो पुणो अंजुलम्बन्नणि।’

अहं ण अघस्ता अपुण्णा अकयपुण्णा एतो एगम्ब्रि न पसा। तं सेयं खासु मम कल्लं जाव जलंते सागरदत्तं सत्यवाहं आपुञ्जक्ता सुबहुं पुष्फ-वर्थ-गंध-मल्लालंकारं गहाय बहुमित्त-मात्र-नियम-

सयण-संबंधि-परियणमहिलाहि सद्गु पाठलिसंडाओ नवराओ पडिनिक्खमिता अहिया जेणेव उंबर-
कत्तस्त जक्खस्स जक्खाययणे तेणेव उवागच्छित्तए। तत्यं एं उंबरकत्तस्त जक्खस्स महरिहं पुणकच्चणे
करिसा जनुपायवडियाए ओवाइसए—‘जइ णं अहुं देवाणुपिया ! वारगं वा दारियं वा पयामि, तो णं
अहं तुवभं जायं च वायं च भायं च अक्खनिहि च अणुवङ्गुहस्सामि ।’ ति कटु ओवाइयं ओवाइणित्तए।
एवं संपेहेह, संपेहित्ता कल्लं जाव जलते जेणेव सागरदत्ते सत्यावहे तेणेव उवागच्छह, सागरदत्तं सत्यवाहं
एवं वयासी—एवं खसु अहं, देवाणुपिया ! तुवभेहि सद्गु जाव’ न पत्ता। तं इच्छामि णं देवाणु-
पिया ! तुवभेहि अङ्गमणुश्चाया जाव ओवाइणित्तए।’

तए णं से सागरदत्ते गंगदत्तं भारियं एवं वयासी—‘भम पि णं, देवाणुपियए ! एस खेव मणोरहे,
कहं तुमं वारगं दारियं वा पयाइज्जसि ।’ गंगदत्ताए भारियाए एषमटु अणुजाणह।

११—उस समय सागरदत्त की गङ्गदत्ता भार्या जातनिन्दुका (जिसके बालक जन्म लेने के
साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हों) थी। प्रतएव उसके बालक उत्पन्न होने के साथ ही मृत्यु को
प्राप्त हो जाते थे। एक बार मध्यरात्रि में कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ता से जागती उस गंगदत्ता
सार्थवाही के मन में जो संकल्प उत्पन्न हुआ, वह निम्न प्रकार है—मैं चिरकाल से सागरदत्त सार्थवाह
के साथ मनुष्य सम्बन्धी उदार-प्रधान कामभोगों का उपभोग करती आ रही हूँ परन्तु मैंने आज तक
जीवित रहने वाले एक भी बालक अथवा बालिका को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया है।
वे माताएँ ही धन्य हैं तथा वे माताएँ ही कृतार्थ अथवा कृतपूर्ण हैं, उन्हीं का वैभव सार्थक है और
उन्होंने ही मनुष्य सम्बन्धी जन्म और जीवन को सफल किया है, जिनके स्तनगत दूध में लुब्ध, मधुर
भाषण से युक्त, अव्यक्त तथा स्खलित-तुतलाते वचनवाले, स्तनमूल प्रदेश से कांख तक अभिसरण-
शील (मबलकर सरक जानेवाले) नितान्त सरन, कमल के समान कोमल मुकुमार हाथों से पकड़कर
गोद में स्थापित किये जानेवाले व पुनः पुनः सुमधुर कोमल-भंजुल वचनों को बोलने वाले अपने ही
कुक्षि उदर से उत्पन्न हुए बालक या बालिकाएँ हैं। उन माताओं को मैं धन्य मानती हूँ। उनका जन्म
भी सफल और जीवन भी सफल है।

मैं अधन्या हूँ, पुण्यहोन हूँ, मैंने पुण्योपार्जन नहीं किया है, क्योंकि मैं इन बालसुलभ
चेष्टाओं वाले एक सन्तान को भी उपलब्ध न कर सकी। अब मेरे लिए यही श्रेयस्कर है कि मैं
प्रातःकाल, सूर्य के उदय होते ही, सागरदत्त सार्थवाह से पूछकर विविध प्रकार के पुष्प, वस्त्र, गन्ध,
माला और अलङ्घार लेकर बहुत से ज्ञातिजनों, मित्रों, निजकों, स्वजनों, सम्बन्धी जनों और
परिजनों की महिलाओं के साथ पाठलिपिष्ठ नगर से निकलकर बाहर उद्यान में, जहाँ उम्बरदत्त
यक्ष का यक्षायतन है, वहाँ जाकर उम्बरदत्त यक्ष की महार्ह (बहुमूल्य) पुण्याचना करके और उसके
चरणों में नतमस्तक हो इस प्रकार प्रार्थनापूर्ण याचना करूँ—

‘हे देवानुप्रिय ! यदि मैं अब जीवित रहनेवाले बालिका या बालक को जन्म दूँ तो मैं तुम्हारे
याग—देव पूजा, दान—देय वंश, भाग—लाभ अंश व देव भंडार में बूढ़ि करूँगी ।’ इस प्रकार
उपयाचना—ईमित वस्तु की प्रार्थना के लिए उसने निश्चय किया। निश्चय करने के अनन्तर प्रातःकाल
सूर्योदय होने के साथ ही जहाँ पर सागरदत्त सार्थवाह था, वहाँ पर आई और आकर सागरदत्त सार्थवाह
से इस प्रकार कहने लगी—‘हे स्वामिन् ! मैंने आप के साथ मनुष्य सम्बन्धी सांसारिक सुखों का

पर्याप्त उपभोग करते हुए आजतक एक भी जीवित रहने वाले बालक या बालिका को प्राप्त नहीं किया। अतः मैं चाहती हूँ कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने मिथ्रों, जातिजनों, निजकों, स्वजनों, सम्बन्धीजनों और परिजनों के साथ पाटलिष्ठण्ड नगर से बाहर उद्यान में उम्बरदत्त यक्ष की महार्ह पुष्पाचना कर पुत्रोपलब्धि के लिये मनोती मनाऊँ।'

इसके उत्तर में सागरदत्त सार्थवाह ने अपनी गंगदत्ता भार्या से कहा—'भद्र ! मेरी भी यही इच्छा है कि किसी प्रकार से तुम्हारे जीवित रहने वाले पुत्र या पुत्री उत्पन्न हों।' ऐसा कहकर उसने गंगदत्ता के उत्तर प्रस्ताव का समर्थन करते हुए स्वीकार किया।

१२—तदेण सा गंगदत्ता भारित्या सागरदत्तसत्यवाहेण एवमद्वृत्तम् भावाय समाणी सुबहु-पुरुषक वत्य-गंध-मल्लालंकारं गहाय मित जाव महिलाहि सर्द्धि सयाम्भो गिहाओ विदिनिक्षमद्वृत्तम्, पद्मिण-कुञ्जमित्ता पाढलिसंहं नयरं यजस्तमज्ज्ञेण निगच्छद्वृत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छद्वृत्ता, उवागच्छद्वृत्ता पुक्खरिणीए तीरे सुबहुं पुरुषकवत्थगंधमल्लालंकारं ठवेद्वृत्ता, ठवेत्ता पुक्खरिणी अग्रहेद्वृत्ता, अग्राहित्ता जलमज्ज्ञेण करेद्वृत्ता, करित्ता जलकीड़े करेमाणो ष्हाया कयकोउय-मंगलपायच्छित्ता उल्ल-पठसाङ्गिया पुक्खरिणीओ पच्चुत्तरद्वृत्ता, पच्चत्तरित्ता तं पुरुष-वत्य-गंध-मल्लालंकारं गिहेद्वृत्ता, गिण्हित्ता जेणेव उम्बरदत्तस्स जवखस्स जवखायदणे तेणेव उवागच्छद्वृत्ता उम्बरदत्तस्स जवखस्स आलोए पणामं करेद्वृत्ता, करित्ता लोमहृत्यं परामुसद्वृत्ता, परामुसित्ता उम्बरदत्तं जक्खं लोमहृत्येण पमज्जद्वृत्ता, पमजित्ता दगधाराए अद्भुत्तेद्वृत्ता, अद्भुत्तित्ता, पमहलसुकुमालगंध-कासाह्याए गायलद्वृत्ती ओलूहेद्वृत्ता, ओलूहित्ता सेथाहं वत्थाहं परिहेद्वृत्ता, परिहित्ता महरिहं पुष्पकारुहणं, मल्लारुहणं गन्धारुहणं, चूण्णारुहणं करेद्वृत्ता, करित्ता धूवं डहेद्वृत्ता, डहित्ता जन्मुपायवडिया एवं अम्ब—'जह णं अहं देवाणुप्पिया।' दारयं वारियं वा पयामि तो णं जाव (अहं तु अं जायं च दायं च मायं च अवखयनिहि च अणुवडिस्तामि त्ति कट्टु ओवाइयं) ओवाइण्ड्वृत्ता, ओवाइण्ड्वृत्ता जामेव दिसि पाउसूया तमेव विसि पडिगथा।

१२—नव सागरदत्त सार्थवाह की आज्ञा प्राप्त कर वह गंगदत्ता भार्या विविध प्रकार के पुष्प, वस्त्र, गंध, माला एवं अलंकार तथा विविध प्रकार को पूजा की सामग्री लेकर, मिथ्र, जाति, स्वजन, यम्लन्धी एवं परिजनों की महिलाओं के साथ अपने घर से निकल और पाटलिष्ठण्ड नगर के मध्य से होती हुई एक पुष्करिणी—बावड़ी के समीप जा पहुँची। वहाँ पुष्करिणी के किनारे पुष्पों, वस्त्रों, गन्धों, मालयों तथा अलङ्कारों को रखकर उसने पुष्करिणी में प्रवेश किया। वहाँ जलमज्जन एवं जलकीड़ा कर कीटुक तथा मंगल प्रायशिच्चत (मांगलिक क्रियाओं) को करके गीली साड़ी पहने हुए वह पुष्करिणी से बाहर आई। बाहर आकर उक्त पुष्पादि पूजासामग्री को लेकर उम्बरदत्त यक्ष के यक्षायतन के पास पहुँची। उसने यक्ष-प्रतिमा पर नजर पड़ते ही यक्ष को नमस्कार किया। फिर लोमहृत्यक-मयूरपिन्नद्वृत्त लेकर उसके द्वारा यक्षप्रतिमा का प्रमाणन किया। फिर जलघारा से उस यक्ष-प्रतिमा का अभिषेक किया। तदनन्तर कषायरंग दाने—मेरु जैसे गंग से रंगे हुए सुगन्धित एवं सुकोमल वस्त्र से उसके अंगों को पौँछा। पौँछकर श्वेत वस्त्र पहनाया, पहिनाकर महार्ह (बड़ों के योग्य) पुष्पारोहण, वस्त्रारोहण, गन्धारोहण, माल्यारोहण और चूणीरोहण किया। तदनन्तर धूप जलाई। धूप जलाकर यक्ष के समुख धुटने टेककर पांव में पढ़कर इस प्रकार निवेदन किया—'जो मैं एक जीवित बालक या बालिका को जन्म द्दूँ तो याग, दान एवं भण्डार की बूढ़ि करूँगी।' इस प्रकार—यावत् याचना करती है अर्थात् मान्यता मनाती है। मान्यता मनाकर जिधर से आयी थी उधर लौट जाती है।

१३—तए ण से धन्तंतरी बेजे ताओ नरयाओ अर्णतरं उष्वद्विसा इहेव जंदृषीये दीवे पाटलिखण्डे नयरे गंगदत्ताए भारियाए कुचिष्ठसि पृत्तत्ताए उष्ववन्ने ।

तए ण तीसे गंगदत्ताए भारियाए तिष्ठं आसाण बहुपदिपुण्णाण अयमेवाह्वे दोहुले पाउ-इभूए—‘धन्नाओ ण ताओ अमयाओ जाव’ फले, जाओ ण विजलं असणं पाण खाइमं साइमं उष्वकड़-काषेति, उष्वकखड़ावेता बहुहि मित्त० जावै परिवृद्धाभो तं विजलं असणं पाण खाइमं साइमं सुरं च मत्तुं च मेरं च जाइ च सौधुं च पसणं च पुपक जाव (वर्य-रघु-मल्लाकारं गहाय पाडलिसंडे नयरं बज्जंमज्जेण पडिनिकखमंति, पडिनिकखमिसा जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उष्वागच्छंति, उष्वागच्छता पुक्खरिणि औगाहेति, औगाहेता एहायाओ कथबलिकमाओ क्यक्षोउपमंगलपायच्छताओ, तं विजलं असणं पाण खाइमं साइमं बहुहि मित्तनाहनियग० जाव संदि आसाएंति, विसाधंति परिभादंति परिभुंजंति दोहुलं विजेति’ एवं संपेहेह, संपेहिसा कल्लं जाव जलसे जेणेव सागरदत्ते सत्थवाहे तेणेव उष्वागच्छइ, उष्वागच्छता सागरदत्तं सत्थवाहं एवं वयासी—‘धन्नाओ ण ताओ जाव विजेति, तं इच्छामि ण जाव विषिष्टए’ । तए ण से सागरदत्ते सत्थवाहे गंगदत्ताए भारियाए एषमट्टु अचुआणाह ।

१४—तदनन्तर वह धन्वतरि वैद्य का जीव नरक से निकलकर इसी पाटलिखण्ड नगर में गंगदत्ता भार्या की कुक्षि में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ—गर्भ में आया । लगभग तीस मास पूर्ण हो जाने पर गंगदत्ता भार्या को यह दोहद—मनोरथ उत्पन्न हुआ ।

‘धन्य है वे माताएं यावत् उन्होंने अपना जन्म और जीवन सफल किया है जो विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम और सुरा आदि मदिराओं को तैयार करवाती हैं और अनेक मित्र, जाति आदि की महिलाओं से परिवृत होकर पाटलिपुण्ड नगर के मध्य में से निकलकर पुष्करिणी पर जाती हैं । वहाँ पुष्करिणी में प्रवेश कर जल स्नान व अशुभ-स्वप्न आदि के फल को विफल करने के लिये भरतक पर तिलक व अन्य माझलिक कार्य करके उस विपुल अशनादिक का मित्र, जातिजन आदि की महिलाओं के साथ आस्वादनादि करती हुई दोहद को पूर्ण करती हैं ।’

इस तरह विचार करके प्रातःकाल जाज्वल्यमान सूर्य के उदित हो जाने पर जहाँ सागरदत्त सार्थवाह था, वहाँ पर आती है और आकर सागरदत्त सार्थवाह से इस प्रकार कहती है—‘स्वामिन् ! वे माताएं धन्य हैं जो यावत् उक्त प्रकार से अपना दोहद पूर्ण करती हैं । मैं भी अपने दोहद को पूर्ण करना चाहती हूँ ।’

सागरदत्त सार्थवाह भी दोहदपूर्ति के लिए गंगदत्ता भार्या को आज्ञा दे देता है ।

१४—तए ण सा गंगदत्ता सागरदत्तेण सत्थवाहेण अङ्गमणुग्नाया समाणी विजलं असणं पाण खाइमं साइमं उष्वकखड़ावेह, उष्वकखड़ावेता तं विजलं असणं ४ सुरं च ६ सुखहुं पुपकवायगंद्यमल्लासं-कारं परिगिण्हावेह परिगिण्हावेता बहुहि जाव एहाया कथबलिकम्मा जेणेव उच्चरदत्तस्स जक्खायथेण जाव धूर्वं ढहेह, ढहेता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उष्वागच्छइ । तए ण ताओ मित्त० जाव महिलाओं गंगदत्तं सत्थवाहि सब्बालंकारविभूसियं करेति । तए ण सा गंगदत्ता भारिया तर्हि मित्तनाहीहि

अन्तांहि वहुहि मगरमहिलाहि संदि तं विजलं प्रसाणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च अहुं च भेरगं च जाइं च
सीधुं च प्रसाणं च आसाएमाणे दोहलं विषेष, विषेषा, आमेव विसि पाइब्भूया तामेव विसि पकिगया ।
सा गंगदत्ता सत्थवाहै संभुग्दोहदः हं भवतं सुहुमुहेष गरिबहै ।

१४—सागरदत्त सार्थवाह से आज्ञा प्राप्त कर गंगदत्ता पर्याप्त मात्रा में अशनादिक चतुर्विधि
आहार तैयार करवाती है और उपस्थुत आहार एवं छह प्रकार के मदिरादि पदार्थ तथा बहुत सी
पुष्पादि पूजासामग्री को लेकर मित्र, जातिजन आदि की तथा अन्य महिलाओं को साथ लेकर यावत्
स्नान तथा अशुभ स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिए मस्तक पर तिलक च अन्य माझसिक
अनुष्ठान करके उम्बरदत्त यक्ष के आयतन में आ जाती है । वहाँ पहिले की ही तरह पूजा करती
च घूप जलाती है । तदन्तर पुष्करिणी-बावडी पर आ जाती है, वहाँ पर साथ में आने वाली मित्र,
जाति आदि महिलाएं गंगदत्ता को सर्व अलङ्कारों से विभूषित करती हैं, तत्पश्चात् उन मित्रादि
महिलाओं तथा अन्य महिलाओं के साथ उस विपुल अशनादिक तथा षड्विधि गुरा आदि का
आस्वादन करती हुई गंगदत्ता अपने दोहद—मनोरथ को परिपूर्ण करती है । इस तरह दोहद को पूर्ण
कर वह बापिस अपने घर आ जाती है ।

तदनन्तर सम्पूर्णदोहदा, सन्मानितदोहदा, विनीतदोहदा, व्युच्छिक्षदोहदा, सम्पन्नदोहदा
वह गंगदत्ता उस गर्भ को सुखायुवंक धारण करती है ।

१५—तए णं सा गंगदत्ता मारिया नवम्हं मासाणं बहुपङ्गिपुण्णाणं जाव धारगं पदाया ।
ठिक्कडिया जाव नामधेज्जं करेति—‘अम्हा णं इमे दारए उंबरदत्तस्त जक्खस्स ओबाइयलद्दए, तं
होउ णं दारए उंबरदत्ते नामेण ।’ तए णं से उंबरदत्ते दारए पंचदाईपरिग्नहिए परिबहुइ ।

१५—तत्पश्चात् नव मास परिपूर्ण हो जाने पर उस गंगदत्ता ने एक बालक को जन्म दिया ।
माता-पिता ने स्थितिपतिता—सुत्र जन्म सम्बन्धी उत्सव विशेष मनाया । फिर उसका नामकरण
किया, ‘यह बालक क्योंकि उम्बरदत्त यक्ष की मान्यता मानने से जन्मा है, अतः इसका नाम
भी ‘उम्बरदत्त’ ही हो । तदनन्तर उम्बरदत्त बालक पाँच धायमाताओं द्वारा गृहीत होकर बृद्धि को
प्राप्त करने लगा ।

१६—तए णं से सागरदत्ते सत्थवाहे जहा विजयमित्ते कालधम्मुणा संकुते, गंगदत्ता वि ।
उंबरदत्ते निच्छुडे जहा उजिक्षयए । तए णं तस्स उंबरदत्तस्त दारगस्स अन्या क्याइ लरीरगंकि
जमगसमगमेव सोलस रोगायंका पाइब्भूया । तंजहा—सासे, कासे जाव’ कोडे । तए णं से उंबरदत्ते
दारए सोलसहि रोगायंकेहि अभिभूए समाणे कच्छुहसे जाव^३ वेह बलियाए विसि कप्पेभाणे विहरइ ।
‘एवं खलु गोयमा । उंबरदत्ते दारए पुरापोराणाणं जाव पञ्चणुभवमाणे विहरइ ।’

१६—तदनन्तर सागरदत्त सार्थवाह भी विजयमित्र की ही तरह (समुद्र में जहाज के जल-
निमग्न हो जाने से) कालधर्म को प्राप्त हुआ । गंगदत्ता भी (पतिविधीगजन्य असह्य दुःख से दुखी
हुई) कालधर्म को प्राप्त हुई । इधर उम्बरदत्त को भी उजिभत कुमार की तरह राजपुरुषों ने घर से
निकाल दिया । उसका घर किसी अन्य को सौंप दिया ।

तत्पश्चात् किसी समय उम्बरदत्त के शरीर में एक ही साथ सोलह प्रकार के रोगातङ्क उत्पन्न हो गये, जैसे कि, श्वास, कास यावत् कोढ़ आदि। इन सोलह प्रकार के रोगातङ्कों से अभिभूत हुआ उम्बरदत्त खुजली यावत् हाथ आदि के सड़ जाने से दुःखपूर्ण जीवन बिता रहा है।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम ! इस प्रकार उम्बरदत्त बालक अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों का यह भयङ्कर कल भोगता हुआ इस तरह समय व्यतीत कर रहा है।

उम्बरदत्त का भविष्य

१७—‘से णं उम्बरदत्ते वारए कालमासे कालं किञ्चित् कहि गच्छिहिइ, कहि उबवज्जिज्ञहिइ ?

गोयमा ! उम्बरदत्ते वारए बाबत्तरि वासाईं परमात्मयं पालइत्ता कालमासे कालं किञ्चित् इसीसे रमण्यभाए पुढ़वीए नेरइयत्ताए उबवज्जिज्ञहिइ। संसारे तहेब जाव पुढ़वी ! तओ हृत्यिणाउरे नयरे कुकुड़स्ताए पच्चायाहिइ। आथेसेसे चेद गोट्टिल्लवद्विहिइ तस्येब हृत्यिणाउरे नयरे सेट्टिकुलसि उबवज्जिज्ञहिइ। बोहिं, सोहृष्टेकप्पे, महाविवेहे वासे सिज्जिहिइ। निक्षेपो !

१७—तदनन्तर श्री गौतमस्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी से शूद्रा—प्रदो शरण ! वह उम्बरदत्त बालक मृत्यु के समय में काल करके कहाँ जायगा ? और कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! उम्बरदत्त बालक ७२ वर्ष का परम आयुष्य भोगकर कालमास में काल करके—मरण के समय मर कर इसी रत्नप्रभानाम प्रथम नरक में नारक रूप से उत्पन्न होगा। वह पूर्ववत् संसार अमण करता हुआ पृथिवी आदि सभी काथों में लाखों बाह उत्पन्न होगा। वहाँ से निकल कर हस्तिनापुर में कुकुट-कूकड़े के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ जन्म लेने के साथ ही गोष्ठिकों—दुराचारी घंडली के द्वारा वध को प्राप्त होगा। पुनः हस्तिनापुर में ही एक श्रेष्ठकुल में उत्पन्न होगा। वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा। वहाँ से मरकर सौधर्मनामक प्रथम कल्प में जन्म लेगा। वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहाँ अनगार धर्म को प्राप्त कर यथाविधि संयम की आराधना कर कर्मों का क्षय करके सिद्धि को प्राप्त होगा—सर्वं कर्मों दुःखों का श्रन्त करेगा।

निष्ठेप—उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये, अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर ने सप्तम अध्याय समाप्त ॥

अष्टम अध्याय

शौरिकदत्त

प्रस्तावना

१—‘अहं अन्ते’ अट्टमस्स उक्खेष्ठो—

१—‘अहो भगवन्’! अष्टम अध्ययन का शमण भगवान् महावीर ने क्या अर्थ कहा है? इस प्रकार उत्थेप पूर्ववत् जान लेना चाहिये।

२—एवं खलु, अम्बू! तेण कालेण तेण समएण सोरियपुरं नयरं होत्या, सोरियवडिसां उज्जाणं। सोरियो जक्खो। सोरियदत्ते राया।

२—हे जम्बू! उस काल तथा उस समय में शौरिकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ ‘शौरिकावतंसक’ नाम का एक उद्यान था। उसमें शौरिक नाम के यक्ष का यथायतन था। शौरिकदत्त नामक राजा वहाँ राज्य करता था।

शौरिकदत्त का वर्तमान भव

३—तस्य एं सोरियपुरस्स बहिया उत्तरपुरतिथमे दिसीमाए तत्थ एं एगे मच्छंघपाडए होत्या। तत्थ एं समुद्रबत्ते नामं मच्छंघे परिवसइ। अहम्मिए जाव दुष्प्रियाणदे। तस्य एं समुद्रबत्तस्स समुद्रदत्ता नामं भारिया होत्या, अहोणपडिपुण्णपंचिदियसरीरा। तस्य एं समुद्रबत्तस्स पुत्ते समुद्रबत्ताए भारियाए अत्तए सोरियदत्ते नामं बारए होत्या, अहोणपडिपुण्णपंचिदियसरीरे।

३—उस शौरिकपुर नगर के बाहर ईशान कोण में एक मच्छीमारों का पाटक—पाढ़ा—मोहल्ला था। वहाँ समुद्रदत्त नामक मच्छीमार रहता था। वह महा-प्रधर्मी यावत् दुष्प्रियानन्द था। उसकी समुद्रदत्ता नाम की अन्यून व निर्देष पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीरवाली भार्या थी। उस समुद्रदत्त का पुत्र और समुद्रदत्ता भार्या का आत्मज शौरिकदत्त नामक सर्वाङ्गसम्पन्न सुन्दर दालक था।

४—तेण कालेण तेण समएण सामी समोसडे, जाव परिसा पडिगया।

४—उस काल व उस समय में (शौरिकावतंसक उद्यान में) भगवान् महावीर पद्धारे। यावत् परिषद् व राजा धर्मकथा सुनकर वापिस चले गये।

५—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवान् भावीरस्स जेट्ठे सीसे जाव सोरियपुरे नयरे उच्चनीयमज्जमकुसे अडमाणे अहापज्जतं समुदाण गहाय सोरियपुराको नयराको पडिनिक्खमह, पडिनिक्खमित्ता तस्स मच्छधेवाङ्गाम अतुरसाभेत्तं विद्यवाणि ए अहैमहालियाए मणुस्सपरित्ताए मज्जगयं एगं पुरिसे सुकं भक्षं निम्मंसं अद्विचम्मावणदं किडिकिडियामुयं नीलसाङ्गनियत्थं मष्टकंटएण गलए अणुत्तरगोण कहुइं कलुणइ विसराहं उक्कवमाण अभिवलण अभिवलण पूयकबले य इहिरकबले य किमिकबले य वममाण पासइ, पासित्ता इमेयारुवे अज्ञतियए चितिए, कप्पिए पस्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने—‘अहो ण इमे पुरिसे पुरापोराणाण जाव विहरइ’ एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव भगवं महाबीरे तेणेव उवागच्छइ। पुष्टवभवपुच्छा जाव वागरणं।

६—उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महाबीर स्वामी के ज्येष्ठ शिष्य गीतम स्वामी यावत् षष्ठभक्त के पारणे के अवसर पर शीरिकपुर नगर में उच्च, नीच तथा मह्यम—सामान्य घरों में श्रमण करते हुए यथेष्ट आहार लेकर शीरिकपुर नगर से बाहर निकलते हैं। निकल कर उस मच्छीमार मुहल्ले के पास से जाते हुए उन्होंने विशाल जनसमुदाय के बीच एक सूखे, बुभुक्षित (भूखे), मासिरहित व अतिकृष्ण होने के कारण जिसका चमड़ा हड्डियों से चिपटा हुआ है, उठते, बैठते वक्त जिसकी हड्डियां किटिकिटिका—कड़कड़—शब्द कर रही हैं, जो नीला वस्त्र पहने हुए है एवं गले में मत्स्य-कण्टक लगा होने के कारण कष्टात्मक, करुणाजनक एवं दीनतापूर्ण आकन्दन कर रहा है, ऐसे पुरुष को देखा। वह खून के कुल्लों, पीव के कुल्लों और कीड़ों के कुल्लों का बारंबार बमन कर रहा था। उसे देख कर गीतम स्वामी के मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ,—अहा ! यह पुरुष पूर्वकृत यावत् अशुभकर्मों के फलस्वरूप नरकतुल्य बेदना का अनुभव करता हुआ समय बिता रहा है ! इस तरह विचार कर श्रमण भगवान् महाबीर स्वामी के पास पहुंचे यावत् भगवान् से उसके पूर्वभव की पृष्ठ्या की। भगवान् महाबीर उत्तर में इस तरह फरमाते हैं—

पूर्वभव-कथा

६—एवं छलु गोयमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जंबुदीवे दीवे भारहे वासे भंविपुरे नामं नयरे होत्था ! मित्ते राया ! तस्स णं मिलस्स रन्नो सिरीए नामं महाणसिए होत्था, अहस्मए जाव’ बुपडियाणवे ।

६—हे गीतम ! उस काल एवं उस समय में इसी जम्बुदीप नामक दीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में नन्दिपुर नाम का प्रसिद्ध नगर था। वहाँ मित्र राजा राज्य करता था। उस मित्र राजा के श्रीद या श्रीयक नाम का एक रसोह्या था। वह महाअधर्मो यावत् दुष्प्रल्यानन्द—कठिनाई से प्रसन्न किया जा सकने वाला था।

७—तस्स णं सिरीयस्स महाणसियस्स अहेव मच्छम्या य वागुरिया य सञ्जणिया य विष्णुभत्तवेयणा कल्लाकलिल बहेवे सण्हमच्छा य जाव^१ पडागाइपढागे य, अट य जाव^२ महिसे य, सिलिरे य जाव^३ भऊरे य जीवियाओ ववरोवेति, ववरोवेत्ता सिरीयस्स महाणसियस्स उबणेति ।

१. तृतीय अ०, सूत्र ४. २. प्रज्ञापना पद १. ३. सप्तम अ., सूत्र ९. ४. सप्तम अ., सूत्र ९.

अन्ने य से बहुते तित्तिरा य जाव मऊरा य पंजरंसि सनिदद्वा चिट्ठंति । अन्ने य बहुते पुरिसा विन्न-
भद्रमत्तबेयणा से बहुते तित्तिरे य जाव मऊरे य जोवंतए चेव निष्पक्षेति, निष्पक्षेता सिरीयस्स
महाणसियस्स उवणेति ।

७—उसके रूपये, पेसे और भोजनादि रूप से वेतन अद्वैत करनेवाले अनेक मारिस्यक—
मच्छीमार, वामुरिक- गालों से जीवों को पकड़ने वाले व्याध, शाकुनिक—पक्षिघातक नौकर पुरुष
ये; जो इन्द्रियमत्स्यों- कौमल चमंवाली मछलियों यावत् पताकातिपताकों—मत्स्यविशेषों, तथा
अजों (वकरों) यावत् महिषों एवं तित्तिरों यावत् मयूरों का वध करके श्रीद रसोइये को देते थे ।
अन्य बहुत से तित्तिर यावत् मयूर आदि पक्षी उमके यहीं पिजरों में बन्द किये हुए रहते थे । श्रीद
रसोइया के अन्य अनेक रूपया, पेसा, भोजनादि के रूप में वेतन लेकर काम करने वाले पुरुष अनेक
जीते हुए तित्तरों यावत् मयूरों को पक्ष रहित करके (पंख उखाड़ करके) उसे लाकर दिया करते थे ।

८—तए ण से सिरीए महाणसिए बहूण जलयर-यलयर-खह्यराण नंसाई कर्षणिकपियस्स
करेह, तं जहा—सण्हखंडियाणि य खट्खंडियाणि य दीहखंडियाणि य रहस्सखंडियाणि य हिमपक्काणिय
जम्मपक्काणि य वेगपक्काणि घम्मपक्काणि य मार्यपक्काणि य कालाणि य हेरंगाणि य भहिद्वाणि य
आमलरसियाणि य मुहियारसियाणि य कविद्वरसियाणि य दालिमरसियाणि य मच्छरसियाणि य
कलियाणि य भजिजयाणि य सोलियाणि य उवक्खडावेति, उवक्खडावेता अन्ने य बहुते मच्छरसए
य एणेजरसए य तित्तिररसए य जाव मयूररसए य, अन्नं च विडलं हरियसागेहि य सोललेहि य
उवक्खडावेता मित्तस्स रज्जो भोयणमंडवंसि भोयणवेलाए उवणेति । अध्यणा वि य ण से सिरीए
महाणसिए तेसि च बहूहि जाव जलयर-यलयर-खह्यरमसेहि रसएहि य हरियसागेहि य सोललेहि य
तलिएहि य भजिजएहि य सुरं च महुं च मेरगं च जाईं च सीधुं च आसाएमाणे बोसाएमाणे परिभाए-
माणे परिभुजेमाणे विहरइ । तए ण से सिरीए महाणसिए एयकम्मे एयप्पहाणे एयविज्जे एयसमायारे
सुबहुं पावकम्मे समजिजिणिसा तेत्तीसं वाससयाईं परमाडयं पालइता काल मासे काल किञ्चित्ता छद्गोए
पुढबीए उवधन्ने ।

९—तदनन्तर वह श्रीद नामक रसोइया अनेक जलचर स्थलचर व खेचर जीवों के मासों
को लेकर सूक्ष्म खण्ड, बृत्त (गोल) खण्ड, दीर्घ (लम्बे) खण्ड, तथा हळस्व (छोटे, छोटे) खण्ड किया
करता था । उन खण्डों में से कई एक को बफं से पकाता था, कई एक को ग्रलग रख देता जिससे
वे खण्ड स्वतः ही पक जाते थे, कई एक को धूप की गर्मी से व कई एक को हवा के द्वारा पकाता था ।
कई एक को कृष्ण वर्ण वाले तो कई एक को हिंगुल के जैसे लाल वर्ण वाले किया करता था । वह
उन खण्डों को तक—च्छाद्य से संस्कारित, आमलक—आंवले से रस से भावित, द्राक्षारस, कपित्त्व
तथा अनार के रस से भी संस्कारित करता था एवं मत्स्यरसों से भी भावित किया करता था ।
तदनन्तर उन मांसखण्डों में से कई एक को तेल से तलता, कई एक को आग पर धूता तथा कई
एक को शूला-प्रोत—शूल में पिरोकर पकाता था ।

इसी प्रकार मत्स्यमांसों के रसों को, मृगमांसों के रसों को, तित्तिरमांसों के रसों को यावत्
मयूरमांसों के रसों को तथा अन्य बहुत से हरे शाकों को तंयार करता था, तंयार करके राजा मित्र
के भोजनप्रणाली में लेजाकर भोजन के समय उन्हें प्रस्तुत करता था । श्रीद रसोइया स्वयं भी अनेक

जलचर, स्थलचर एवं खेचर जीवों के मांसों, रसों व हरे शाकों के साथ, जो कि शूलपव्र द्वारा होते, तले हुए होते, भूने हुए होते थे, छह प्रकार की सुरा आदि का मास्वादनादि करता हुआ काल यापन कर रहा था।

तदनन्तर इन्हीं कर्मों को करनेवाला, इन्हीं कर्मों में प्रधानता रखने वाला, इन्हीं का विज्ञान रखनेवाला, तथा इन्हीं पापों को सर्वोत्तम आचरण मानने वाला वह श्रीद रसोदया अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन कर ३३ सौ वर्ष की परम आयु का भोग कर कालभास में काल करके छट्ठे नरक में उत्पन्न हुआ।

९—तए णं सा समद्वदत्ता भारिया जायन्तिवृयावि होत्या । जाया जाया दारगा विणिहायमावज्ज्ञति । जहा गंगदत्ताए चिन्ता, आपुच्छृणा, ओवाइयं दोहसा जाव^१ दारगं पयाया, जाव 'जम्हा णं अम्हे इसे वारए सोरियस्स जकब्बस्स ओवाइयसझे, तम्हा णं होउ अम्हं दारए सोरियदत्ते नामेण । तए णं से सोरियदत्ते वारए पंचधाई जाव उम्मुक्कबालभावे विन्नायपरिणयमेते जोष्वणगमुणप्पत्ते यावि होत्या ।

१०—उस समय वह समुद्रदत्ता भार्या—मतवत्सा थी। उसके बालक जन्म लेने के साथ ही मर जाया करते थे। उसने गंगदत्ता की ही तरह विचार किया, पति की आजा लेकर, मात्यता मनाई और गर्भवती हुई। दोहद की पूति कर समुद्रदत्त बालक को जन्म दिया। 'शौरिक यक्ष की मनीती मनाने के कारण हमें यह बालक उपलब्ध हुआ है' ऐसा कहकर माता पिता ने उसका नाम 'शौरिकदत्त' रखा। तदनन्तर पांच धायमाताओं से परिगृहीत, बाल्यावस्था को त्यागकर विज्ञान की परिपव्र अवस्था से सम्पन्न हो वह शौरिकदत्त युवावस्था को प्राप्त हुआ।

१०—तए णं से समुद्रदत्ते अश्वया कथाइ कालधमुणा संजुत्ते । तए णं से सोरियवत्ते बहूहि मित्त-दाइ रोयमाणे समुद्रदत्तस्स नोहरणं करेह, लोहयाइं भयकिक्खाइं करेह । अश्वया कथाइ सयमेव मच्छंघमहत्तरगत्तं द्ववसंपज्जित्ताणं विहरइ । तए णं से सोरियदारए मच्छंघे जाए, अहम्मिए जाव^२ दुष्प्रियाण्वे ।

१०—तदनन्तर किसी समय समुद्रदत्त कालधर्म को प्राप्त हो गया। रुदन आक्रमन व विलाप करते हुए शौरिकदत्त बालक ने अनेक मित्र-ज्ञाति-स्वजन परिजनों के साथ समुद्रदत्त का निस्सरण किया, दाहकमें व अन्य लौकिक क्रियाएं की। तत्पश्चात् किसी समय वह स्वयं ही मच्छोमारों का मुखिया बन कर रहने लगा। अब वह मच्छीमार हो गया जो महा अधर्मी याकृत् दुष्प्रत्यानन्द—अति कठिनाई से प्रसन्न होने वाला था।

११—तए णं तस्स सोरियवत्तस्स मच्छंघस्स बहुवे पुरिसा विन्नभइभत्तवेयणा कल्लाकल्लि एगद्वियाहि जउणं महाणइ ओगाहेति, ओगाहिसा बहूहि बहगालणेहि य बहमलणेहि य बहमहणेहि य दहमहणेहि य बहवहणेहि य अथंचुलेहि य एचपुलेहि य मच्छंघसेहि य मच्छपुच्छेहि य जंभाहि य तिसिराहि य मिसिराहि य थिसिराहि य विसिराहि य हिल्लरीहि य मिलिसिरीहि य

१. देखिए सप्तम अध्ययन

२. तृतीय, अ., सूक्ष-४

ललिलरोहि य जालेहि य गलेहि य कूडपामेहि य वक्कबंधेहि य सुसबन्धणेहि य बहवे सञ्चमच्छेजाव^१ पडागाइपडागे य गिष्ठंति । गेण्हिता एगद्वियाओ भरेति, मरिता कूलं गाहेति, गाहिता मञ्चखलए करेति, करिता आयवंसि इत्यंति । अन्ने य से बहवे पुरिसा विज्ञभइभत्तवेयणा आयवत्तपद्धि मञ्चेहि सोललेहि य तज्जिएहि य भज्जिएहि य रायमगंसि वित्ति कप्पेमाणा विहरंति । अप्पणा । यि य णं से सोरियवत्ते बहहि सञ्चमच्छेहि जाव^२ पडागाइपडागेहि य सोललेहि य भज्जिएहि य तज्जिएहि य सुरं च महुं च मेरणं च जाइं च साधुं च पसण्णं च आसाएमाणे बोसाएमाणे परिमाएमाणे परिभुजेमाणे विहरइ ।

११—तदनन्तर शौरिकदत्त मञ्च्छीमार ने रूपये, पैसे और भोजनादि का बेतन लेकर काम करने वाले अनेक बेतनभीणी पुरुष रक्खे, जो छोटी नीकाओं के द्वारा यमुना महानदी में प्रवेश करते थूमते, हृद-गलन हृद-मलन, हृदमर्दन, हृदवहन, हृद-प्रवहन (हृद-जलाशय या भील का नाम है, उसमें मञ्चली आदि जीवों की पकड़ने के लिये भ्रमण करता, सरोवर में से जल को निकालता या थूहर आदि के दूध को डालकर जल को दूषित करता, जल का विलोड़न करता कि जिसमें भयभीत व स्थानभ्रष्ट मत्स्यादि सरलता से पकड़े जा सकें) से, तथा प्रपंचुल, प्रपंमुल, मत्स्यपुच्छ, जूम्भा, त्रिसरा, भिसरा, विसरा, हिलिरि, भिलिरि, ललिरि, जाल, गल, कटपाश, बल्कबन्ध, सूक्ष्मवन्ध और बालबन्ध (ये सब मत्स्यादिकों को पकड़ने के विविध साधन-विशेषों के विशिष्ट नाम हैं) साधनों के द्वारा कोमल मत्स्यों यावत् पताकातिपताक मत्स्य विशेषों को पकड़ते, पकड़कर उनसे नीकाएं भरते हैं । भरकर नदी के किनारे पर लाते हैं, लाकर बाहर एक स्थल पर ढेर लगा देते हैं । तत्पश्चात् उनको वहाँ धूप में सूखने के लिये रख देते हैं ।

इसी प्रकार उसके अन्य रूपये, पैसे और भोजनादि लेकर काम करने वाले बेतनभीणी पुरुष धूप से सूखे हुए उन मत्स्यों के मासों को शूलाप्रोत कर पकाते, तलते और मूनते तथा उन्हें राजमाणी में विक्रयार्थं रखकर आजीविका करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे । शौरिकदत्त स्वयं भी उन शूलाप्रोत किये हुए, भूमे हुए और तले हुए मत्स्यमांसों के साथ विविध प्रकार की सुरा सीधु आदि मदिराओं का सेवन करता हुआ जीवन यापन कर रहा था ।

१२—तए णं तस्स सोरियवत्तस्स मञ्चलंधरस्स अन्त्या कथाह ते मञ्चलसोलसे य तज्जिए य भज्जिए य आहारेमाणस्स मञ्चलकंटए गलए लगे थावि होत्या । तए णं से सोरियवत्ते मञ्चलंधे महमाए वेयणाए अभिभूए समाणे कोडु वियपुरिसे सद्वावेद, सद्वावेता एवं वयासी—‘गच्छह णं तुझे वेदाणुप्तिया । सोरियपुरे नयरे सिधाइग जाव पहेसु य महमा महया सदेणं उधोसेमाणा एवं वयह—‘एवं खनु देवाणुप्तिया । सोरियवत्तस्स मञ्चलकंटए गले लगे । तं जो णं हच्छइ वेजजो वा वेजपुस्तो वा जाणुग्नो वा जाणुपुस्तो वा तेगिच्छियो तेगिच्छियपुस्तो वा सोरियमच्छियस्स मञ्चलकंटयं गलाओ नीहरितए, तस्स णं सोरियवत्ते विजलं अत्यसंपयाणं बलवह ।’ तए णं ते कोडु वियपुरिसा जाव उग्नोसेति ।

१२—तदनन्तर किसी अन्य समय शूल द्वारा पकाये गये, तले गए व भूमे गये मत्स्य मांसों का आहार करते समय उस शौरिकदत्त मञ्च्छीमार के गले में मञ्च्छी का कांटा फैस गया । इसके कारण वह महती अमाघ्य वेदना का अनुभव करने लगा । अत्यन्त दुखी हुये शौरिक ने अपने कीटुम्बिक

पुरुषों को दुलालक इस प्रकार कहा—“हे विष्णुप्रियो ! शौरिकपुर नगर के जिकोण मार्गो व यावत् सामान्य मार्गो पर जाकर ऊचे पादों से इस प्रकार घोषणा करो कि—हे वेदानुप्रियो ! शौरिकदत्त के गले में मृत्यु का कांटा फँस गया है, यदि कोई बंक या वेदापुत्र जानकार या जानकार का पुत्र, चिकित्सक या चिकित्सक-पुत्र उस मरण-कंटक को निकाल देगा तो, शौरिकदत्त उसे बहुत सा धन देगा ।” कौटुम्बिक पुरुषों-अनुचरों ने उसकी धारानुसार सारे नगर में उद्घोषणा कर दी ।

१३—तए ण ते बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया य जाणुपुत्ता य तेगिच्छ्या य तेगिच्छ्य-
पुत्ता य इमेयारुधं उद्धोसणं उव्वगोसिङ्गमार्ण निसामेंति, निसामित्ता जेणेव सोरियदत्तस्स गेहे, जेणेव
तोरियमच्छंधे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छता बहुर्ह उप्पत्तियाहि य वेण्ड्याहिय कमियाहि य
पारिणामियाहि य बुद्धीहि परिणामेयाणा परिणामेयाणा वमणेहि य सञ्ज्ञणेहि य, ओवोलणेहि य कवल-
भाहेहि य सल्लुद्धरणे हि विसल्लकरणेहि य इच्छंति तोरियमच्छंधस्स मच्छकंटय गलाओ नीहरित्तए ।
नो खेव ण संचाएंति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा । तए ण ते बहवे वेज्जा य वेज्जपुत्ता य जाणुया या
जाणुयपुत्ता य तेगिच्छ्या य तेगिच्छ्यपुत्ता य जाहे नो संचाएंति सोरियस्स मच्छकंटगे गलाओ
नीहरित्तए, ताहे संता जाव (तंता परितंता) जामेव विसि पाउमूषा तामेव दिसि पडिगया ।

तए ण से तोरियदत्तसे मच्छंधे वेज्जपडियारनिचिवणे तेण महया दुष्क्षेण अभिमूए समाणे सुषके
जाव (भूषके जाव किमियकवले य वमणाणे) विहरइ । एवं खलु गोयमा ! सोरिए पुरायोरत्तणाण जाव
विहरइ ।

१३—इसके बाद बहुत से वेद्य, वेद्यपुत्र आदि उपर्युक्त उद्घोषणा को सुनते हैं और सुनकर शौरिकदत्त का जहाँ धर था और शौरिक मच्छीमार जहाँ था वहाँ पर आते हैं । आकर बहुत सी औपत्तिकी बुद्धि (स्वाभाविक प्रतिभा), वैनियकी, कामिकी तथा पारिणामिकी बुद्धियों से सम्यक् परिणमन करते (निदानादि को समझते हुए) वमनों, व्यर्दनों (वमन-विशेषों) अवपीड़नों (दबाने) कथलग्राहों (भूष की मालिश करने के लिए दाढ़ों के नीचे लकड़ी का टुकड़ा रखना) शल्योद्धारों (यत्र प्रयोग से काटों को निकालना) विश्वल्य-करणों (श्रीष्ट के बल से कांटा निकालना) आदि उपचारों से शौरिकदत्त के गले के काटों को निकालने का तथा पीव को बन्द करने का भरसक प्रयत्न करते हैं परन्तु उसमें वे सफल न हो सके अर्थात् उनसे शौरिकदत्त के गले का कांटा निकाला नहीं जा सका और न पीव व रुधिर बन्द हो सका । तब आन्त, तान्त, परितान्त हो अर्थात् निराश व उदास होकार वापिस अपने स्थान पर चले गये ।

इस तरह वेद्यों के इताज से निराश हुआ शौरिकदत्त उस महती वेदना को मोगता हुआ सूखकर यावत् अस्थिपिङ्गर मात्र शेष रह गया । वह दुःखपूर्वक समय विता रहा है ।

भगवान् फरमाते हैं कि हे गौतम ! इस प्रकार वह शौरिकदत्त अपने पूर्वकृत अत्यन्त अशुभ कर्मों का फल भोग रहा है ।

शौरिकदत्त का भविष्य

१४—‘सोरिए ण, भते ! मच्छंधे इबो कालमासे कालं किच्चता कर्हि गच्छत्तिइ ? कहि उवचिज्जित्तिइ ?’

गोपमा ! सत्तरिवासाईं परमादर्थं पालहत्ता कालमासे कालं किञ्चन्ना इसीसे रथणप्रभाए
पुढ़वीए। संसारो तहेव, जांच पुढ़वीए। तओ हृतिष्णाउरे नयरे मच्छत्ताए उबवज्जिह्विइ। से णं तओ
मच्छिएहि जीवियाभो बधरोविए तत्थेव सेट्टिकुलंसि उबवज्जिह्विइ, बोहो, सोहम्मे काप्ते, महाविवेहे
वासे सिजिज्जिह्विइ। निक्षेवो ।

१५—गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—आहो भगवन् ! शौरिकदत्त मत्स्यबन्ध-मच्छीमार यहाँ
में कालमास में काल करके कहाँ आयदः ? वहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! ७० वर्ष की परम आयु को भोगकर कालमास में काल
करने रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में उत्पन्न होगा। उसका अवशिष्ट संसार-भ्रमण पूर्ववत् ही समझ
लेना चाहिये यावत् पृथ्वीकाय आदि में लाखों बार उत्पन्न होगा। वहाँ से निकलकर हस्तिनापुर
में मत्स्य होगा। वहाँ मच्छीमारों के द्वारा बध को प्राप्त होकर वहाँ हस्तिनापुर में एक क्षेत्रिकुल
में जन्म लेगा। वहाँ सम्यक्त्व की उसे प्राप्ति होगी। वहाँ से मरकर सौधर्म देवलोक में देव होगा।
वहाँ से जय कर महाविदेह क्षेत्र में जन्मेगा, चारित्र ग्रहण कर उसके सम्बद्धक आराधन से सिद्ध पद
को प्राप्त करेगा।

निष्कैप—उपसंहार पूर्ववत् समझ लेना चाहिये ।

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवामी आठद्यायान

देवदत्ता

उत्क्षेप

१—‘जहु जं भंते !’ उक्षेपो नवमस्सं ।

१—‘यदि भगवन् । श्रमण अश्वान् महावीर ने अष्टम अष्टययन का यह (पुर्वोत्त) अर्थ कहा है तो नवम अष्टययन का क्या अर्थ कहा है ?’ इस प्रकार जम्बू स्वामी द्वारा प्रश्न करने पर मुधर्मी स्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया, इस तरह नवम अष्टययन का उत्क्षेप जान लेना चाहिए ।

२—एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडए^१ नामं नयरे हूतथा, रिहुत्यमिय-समिद्दे ! पुढिविविडिसए उज्जारणे । धरणे जक्खे । वेसमणवत्तोराया । सिरीदेवी । पूसनंदी कुमारे जुवराया ।

३—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में रोहीतक नाम का नगर था । वह ऋद्ध, स्तिमित तथा समृद्ध था । पूर्णिमी-अवतंसक नामक वहाँ उद्यान था । उसमें धारण नामक यक्ष का यक्षायतन था । वही वैश्वमणदत्त नाम का राजा राज्य करता था । उसके श्रीदेवी नामक रानी थी । युवराज पद से अलंकृत पुष्पनंदी नामक कुमार था ।

३—तत्थ जं रोहीडए नयरे बते नामं याहाकई परिवसइ, अडुे । कण्हसिरोभारिया । तस्स जं दत्तस्स धूया कण्हसिरीए अलया देवदत्ता नामं दत्तरिया हूतथा, अहोणपडिपुण्णपंडिदियसरोरा ।

३—उस रोहीतक नगर में दत्त नाम का एक गाथापति रहता था । वह बड़ा धनी यावत् सम्माननीय था । उसके कृष्णश्री नाम को भार्या थी । उस दत्त गाथापति की दुहिता—पुत्री तथा कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता नाम की बालिका—कान्या थी; जो अन्यून एवं निर्दोष इन्द्रियों से युक्त सुन्दर शरीरवाली थी ।

दत्तमान भव

४—तेणं कालेणं तेणं समएणं सामो समोसङ्गे; जाव परिसा निरगया ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्टे अंतेवासी छटुकखमणपारणगंसि तहेव जाव रायमणमोगाढे । हृत्यो जासे पुरिसे पासइ । तेसि पुरिसाणं मज्जगर्यं पासइ एगं इतिथयं उक्खितकण्णनासं नेहुतुपियगत्तं बलमकर-कडिजुयनियच्छं कंठे गुणरत्मलदामं चृणगु द्वियगातं चृणयं बञ्जपाणपीयं, जाव सूले

१. पाठान्तर—राहाडा ।

मिरजमार्यं पासद्, पासित्ता इमे अज्ञस्तिथए जाव समुपन्ने, तहेव निभगए, जाव एवं बगासी—‘एसा ण भंते । इतिथया पूर्ववये का आसी ?’

४—उस काल उस समय में वहाँ (पृथ्वी अवतंसक उद्यान में) अमण भगवान् महावीर स्वामी पद्मारे यावत् उनकी शर्मदेशना सुनकर राजा व परिषद् वापिस चले गये ।

उस काल, उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गीतम स्वामी पष्ठखमण—बेले के पारण के निमित्त भिक्षार्यं नगर में गये यावत् (भिक्षा ग्रहण करके लौटते हुए) राजमार्ग में पद्मारे । वहाँ पर वे हस्तियों, अश्वों और पुरुषों को देखते हैं, और उन सबके बीच उन्होंने अवकोटक बन्धन से बंधी हुई, कटे हुए कर्ण तथा मारुवाली (जिसके शरीर पर चिकनाई पोती है, जिसे हाथों और कठिप्रदेश में बछ्य पुरुष के योग्य बस्त्र पहिनाए गए हैं, हाथों में हथकड़ियाँ हैं, गले में लाल फूलों की माला पहिनाई गयी है, गेल के चुर्ज से जिसका शरीर पीना गया है) ऐसी सूनी पर भेदी जाने वाली एक स्त्री को देखा और देखकर उनके मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि यह नरकनुल्य बेदना भोग रही है । यावत् पूर्ववत् भिक्षा लेकर नगर से निकले और भगवान् के पास आन्तर इस प्रकार निवेदन करने लगे कि—भदन्त ! यह स्त्री पूर्वभव में कौन थी ?

पूर्वभव

५—एवं खलु गोयमा ! तेण कालेणं तेण समएणं इहेव जम्बूद्वीपे दोषे भारहे वासे सुपइद्वे नामं नयरे होत्या, रिदुत्थिसिश्वसिन्हे । महासेणे राया । तस्म णं भद्रासेणस्य रथो धारिणीपामोक्खाणं देवी-सहस्रं ओरोहे यावि होत्या । तस्म णं महासेणस्स रथो पुत्तो धारिणीए अत्तए सीहसेणे नामं कुभारे होत्या, अहोणविपृष्ठपर्वचिदियसरोरे, जुवाराया ।

५—हे गीतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीपनामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में भुप्रतिष्ठ नाम का एक क्रह, स्तिमित व समृद्ध नगर था । वहाँ पर महासेन राजा राज्य करते थे । उसके अन्तःपुर में धारिणी आदि एक हजार रानियाँ थीं । महाराज महासेन का पुत्र और महारानी धारिणों का आत्मज मिहसेननामक राजकुमार था जो अन्यून पांचों निर्दोष इन्द्रियों वाला व युद्धराज पद से अलंकृत था ।

६—तए णं तस्म सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अश्या क्याइ पंच पासायबडिसयसयाहं करेति, अवभुगयमूसियाहं । तए णं तस्म सीहसेणस्स कुमारस्स अम्मापियरो अश्या क्याइ सामापा-मोक्खाणं पंचणहं रायवरकन्लगसयाणं एवदिवसे पर्णि गिष्ठाविसु । पंचसयओ दावो । तए णं से सीहसेणे कुमारे सामापमोक्खाहि पंचसयाहि देवोहि सङ्घ उप्य जाव । विहरह ।

६—तदनन्तर उस मिहसेन राजकुमार के भाना-पिता ने एक बार किसी समय पांच सौ सुविशाल प्रासादावतंसक (श्रेष्ठ महल) बनवाये । तत्पश्चात् किसी अन्य समय उन्होंने सिंहसेन राजकुमार का रथामा आदि पांच सौ सुन्दर राजकन्याओं के साथ एक दिन में विवाह कर दिया ।

पांच सौ-पांच सौ वस्तुओं का प्रोतिदान—दहेज दिया। तदनन्तर राजकुमार सिहसेन श्यामाप्रभुख उन पांच सौ राजकन्याओं के साथ प्रासादों में रमण करता हुआ सानन्द समय व्यतीत करने लगा।

७—तए ण से महासेणे राया अन्नया कथाइ कालधम्मुणा संजुले । नोहरणे । राया जाए ।

— तत्पश्चात् किमि सद्य राया पहासेन कालधर्म को प्राप्त हुए। (आश्रद्दन, रुदन, विलाप करते हुए) राजकुमार सिहसेन ने निःसरण (शवयात्रा निकाली) तत्पश्चात् राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर राजा बन गया।

८—तए ण से सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छए गिद्दे गडिए अज्ञोववणे अवसेसाओ देवीओ नो आढाइ, नो परिजाणाइ । अणाढायमाणे अपरिज्ञाणमाणे विहरइ ।

तए ण तासि एगूणगाणं पञ्चणे, देवीसयाणं एगूणाइ पञ्चमाईसयाइ इमीसे कहाए लद्धुआइ समाणाइ 'एवं खलु सीहसेणे राया सामाए देवीए मुच्छए गिद्दे गडिए अज्ञोववणे अम्हं धूयाओ नो आढाइ, नो परिजाणाइ, अणाढायमाणे, अपरिज्ञाणमाणे विहरइ । तं सेयं खलु अम्हं सामं देवि अग्निप-श्रोयेण वा विस्पष्टग्रोगेण वा, सत्थप्पग्रोगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए, एवं संपेहेति, संपेहिता सामाए देवीए अंतराणि य छिद्राणि य विवराणि य पडिजागरमाणीओ विहरान्ति ।

९—तदनन्तर महाराजा सिहसेन श्यामादेवी में मूच्छत, गृद्ध, ग्रथित व अध्युपपन्न होकर अन्य देवियों का न आदर करता है और न उनका ध्यान ही रखता है। इसके विपरीत उनका अनादर व विस्मरण करके सानन्द समय यापन कर रहा है।

तत्पश्चात् उन एक कम पांच सौ माताओं को जब इस वृत्तान्त का पता लगा कि—'राजा सिहसेन श्यामादेवी में मूच्छत, गृद्ध, ग्रथित व अध्युपपन्न होकर हमारी कन्याओं का न तो आदर करता और न ध्यान ही रखता है, अपितु उनका अनादर व विस्मरण करता है; तब उन्होंने मिलकर निश्चय किया कि हमारे निये यही उचित है कि हम श्यामादेवी को अग्नि के प्रयोग से, विष के प्रयोग से अथवा शस्त्र के प्रयोग से जीवन रहित कर (मार) डालें। इस नरह विचार करती हैं और विचार करने के अनंतर अनंतर (जब राजा का आगमन न हो) छिद्र (राजा के परिवार का कोई व्यक्ति न हो) की प्रतीक्षा करती हुई समय बिताने लगी।

९ तए ण सा सामादेवी इमीसे कहाए लद्धुआ समाणी एवं वयासी—'एवं खलु, सामी ! एगूणगाणं पञ्चणे सबतीसयाणं एगूणगाइ पञ्चमाइसयाइ इमीसे कहाए लद्धुआइ समाणाइ अन्नमन्तं एवं वयासी—'एवं खलु, सोहसेणे—जाव पडिजागरमाणीओ विहरान्ति । तं न नउजइ ण मम केणड कुमारेण मारिस्तंति, त्तिकट्टु भीथा तत्या तसिया उठिवगा संजायभया जाव जेणेव कोवघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइ ग्रोहयमणसंक्षिप्ता जाव ज्ञियाइ ।

९—इघर श्यामादेवी को भी इस षड्यन्त्र का पता लग गया। जब उसे यह वृत्तान्त विदित हुआ तब वह इस प्रकार विचार करने लगी—मेरी एक कम पांच सौ सप्तिनियों (सौतों) की एक कम पांच सौ माताएं—'महाराजा सिहसेन श्यामा में अत्यन्त आसक्त होकर हमारी पुत्रियों

का आदर नहीं करते, यह जानकर एकत्रित हुई और 'अग्नि, शस्त्र या विष के प्रयोग से श्यामा के जीवन का अन्त कर देना हो हमारे लिए श्रेष्ठ है' ऐसा विचार कर वे अवसर को खोज में हैं। जब ऐसा है तो न जाने वे किस कुमोत से मुझे मारें? ऐसा विचार कर वह श्यामा भीत, त्रस्त, उद्बिग्न व भयभीत हो जहाँ और जहाँ कोपभवन था वहाँ आई। आकर मानसिक संकल्पों के विफ़ज़ रहने से मन में निराश होकर आत्म ध्यान करने लगी।

१०—तए ण से सीहसेणे राया इमोसे कहाए लड्हुे समाणे जेणेव कोवघरए, जेणेव सामा वेदो, तेणेव उवागच्छाइ। उवागच्छाता सामं वेवि ओहृयमणसंकप्तं जाव पासइ, पासिता एवं वयासी—“कि णं तुमं वेवाणुप्तिपए ! ओहृयमणसंकप्ता जाव जियासि ?”

तए ण सा सामा वेदो सीहसेणे रन्ना एवं खुता समाणी उष्णेणउष्णेणियं सीहसेणं रायं एवं वयासी—‘एवं खलु सामो ! मम एगूणयंशसवत्तिसयाणं एगूणं पञ्चमाइसयाणं इमोसे कहाए लड्हट्टाणं समाणाणं अन्नमन्मं सद्वावेति, सद्वावित्ता एवं वयासी—‘एवं खलु सीहसेणे राया सामाए वेदीए उवरि मुच्छाए गिढे गहिए अज्ञोववण्णे अम्हं धूयावो नो आहाइ, नो परिजाणाइ, अणाडायमावे अपरिजाणमाणे विहरइ, तं सेथं खलु, अम्हं सामं वेवि अग्निपत्रोगेण वा विसप्तपत्रोगेण वा सत्यपत्रोगेण वा जीवियाओ ववरोवित्तए।’ एवं सपेहेति, सपेहिसा मम अंतरामि य छिद्राणि य विवराणि य पडिजागरमणीओ विहरति। तं न नज्जइ णं सामो ! मम केणइ कुमारेण मारिस्संति ति कटु भीया जाव जियामि।

१०—तदनन्तर मिहसेन राजा इस वृत्तान्त से अवगत हुआ और जहाँ कोपगृह था और जहाँ श्यामादेवी थी वहाँ पर आया। आकर जिसके मानसिक [संकल्प विफ़ल हो गये हैं, जो निराश व चिन्तित हो रही है, ऐसी निस्तेज श्यामादेवी को देखकर कहा—हे देवानुप्रिये ! तू क्यों इस तरह अपहृतमनःसंकल्पा होकर चिन्तित हो रही है ?

मिहसेन राजा के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर दूष के उफान के समान कुछ हुई अर्थात् कोधयुक्त प्रवल वचनों से सिंह राजा के प्रति इस प्रकार बोली—

हे स्वामिन् ! मेरी एक कम पांच सौ सप्तिनयों (सौतों) को एक कम पांच सौ भाताएं इस वृत्तान्त को (कि आप मुझमें अनुरक्त हैं) जानकर इकट्ठी होकर एक दूसरे को इस प्रकार कहने लगो—महाराज मिहसेन श्यामादेवी में अत्यन्त आसक्त गृद्ध, ग्रथित व अध्युपपत्र हुए हमारी कम्याओं का आदर सत्कार नहीं करते हैं। उनका ध्यान भी नहीं रखते हैं; प्रत्युत उनका प्रनादर व विस्मरण करते हुए समय-यापन कर रहे हैं; इमलिये घब हमारे लिये यही ममुचित है कि अग्नि, विष या किसी शस्त्र के प्रयोग से श्यामा का अन्त कर डालें। तदनुसार वे मेरे अन्तर, छिद्र और विवर को प्रतीक्षा करती हुई अवसर देख रही हैं। न जाने मुझे किस कुमोत से मारें ! इस कारण भयाकान्त हुई मैं कोपभवन में आकर आत्मध्यान कर रही हूँ।

११—तए ण से सीहसेणे सामं वेवि एवं वयासी—‘मा णं तुमं वेवाणुप्तिपए ! ओहृयमणसंकप्ता जाव जियाहि ! अहं णं तहा जत्तिहामि जहा णं तव नत्य कसो वि सरीरस्त आवाहे पवाहे वा भविस्सइ’ सि कट्टु ताहि इहुाहि जाव (कंताहि पियाहि मणुष्णाहि भणामाहि वगृहि) समाप्तसेइ।

समासासित्ता तजो पडिनिवस्यामह, पडिनिवक्षमित्ता कोडुंवियपुरिसे सद्वैषेह, सद्वावेत्ता एवं वयासी—“गच्छह णं तुव्वेद, देवाणुप्तिया ! सुपइहुस्त नयरस्त बहिया एं महं कूडागारसालं करेह, अणेगांभस-यसनिविटुं जाव पासादीयं करेह, मम एयमाणत्तियं पच्चप्तिणहुं ।”

तए णं ते कोडुंवियपुरिसा करयल आद पडिसुर्णेति, पडिसुणिला सुपइहुनयरस्त बहिया पञ्चत्थिमे विसोविभाए एं महं कूडागार-सालं जाव करेति प्रणेगांभसयस्तनिविटुं जाव पासाइयं, जेणेव सोहसेणे राया तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छत्ता तमाणत्तियं पच्चप्तिणहंति ।

११—तदनन्तर महाराजा सिहसेन ने श्यामादेवी से इस प्रकार कहा— हे देवानुप्रिये ! तू इस प्रकार अपहृत मन वाली -हृतोत्साह हीकर यात्तिध्यान मत कर । निष्ठय ही मैं ऐसा उपाय करूंगा कि तुम्हारे शरीर को कहीं से भी किसी प्रकार शावाधा ईषत् पोडा तथा प्रबाधा—विशेष बाधा न होने पाएगी । इस प्रकार श्यामा देवी को हष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनोहर बचनों से शाश्वताशन देता है और शाश्वताशन देकर वहाँ से निकल जाता है । निकलकर कौटुम्बिक-अनुचर पुरुषों को बुलाता है और उनसे कहता है -तुम जोग जाओ और जाकर सुप्रतिष्ठित नगर से बाहर पश्चिम दिशा के विभाग में एक बड़ी कूटाकारशाला बनाओ जो सैकड़ों स्तम्भों से युक्त हो, प्रासादीय, अभिरूप तथा दर्शनीय हो -अर्थात् देखने में अत्यन्त सुन्दर हो ।

वे कौटुम्बिक पुरुष दोनों हाथ जोड़ कर सिर पर दसों नख वाली अङ्गजिल रख कर इस राजाज्ञा को शिरोधार्यं करते हुए चले जाते हैं । जाकर सुप्रतिष्ठित नगर के बाहर पश्चिम दिक् विभाग में एक महनी व अनेक स्तम्भों वाली प्रासादिक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप अर्थात् अत्यन्त मनोहर कूटाकारशाला तैयार करवाते हैं -तैयार करवा कर महाराज सिहसेन की श्राजा प्रत्यर्पण करते हैं—अर्थात् कूटाकार शाला यथायोग्य रूप से तैयार हो गई, ऐसा निवेदन करते हैं ।

१२—तए णं से सीहसेणे राया अज्ञया कथाह एगूणगाणं पंचप्तुं देवीसयाणं एगूणाहं पंचमाइसयाहं आमतेह । तए णं तासि एगूणगाणं पंचप्तुं देवीसयाणं एगूणाहं पंचमाइसयाहं सीहसेणेर्ण रथा श्रामंतियाहं समाणाहं सध्वालंकारविश्वसियाहं जहाविभवेण जेणेव सुपइहुं नपरे, जेणेव सीहसेणे राया, तेणेव उवागच्छन्ति । तए णं से सीहसेणे राया एगूणगाणं पंचदेवीसयाणं एगूणगाणं पंचमाइसयाणं कूडागारसालं आवासं दल्पयह ।

१३—तदनन्तर राजा सिहसेन किसी समय एक कम पांच सौ देवियों (रानियों) की एक कम पांच सौ माताओं को आमंत्रित करता है । सिहसेन राजा का आमंत्रण पाकर वे एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताएं सर्वप्रकार से वस्त्रों एवं आभूषणों से मुसजिजत हो अपने-अपने वैभव के अनुयार सुप्रतिष्ठित नगर में राजा सिहसेन जहाँ थे, वहाँ आजाती हैं । सिहसेन राजा भी उन एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताओं को निवास के लिये कूटाकार-शाला में स्थान दे देता है ।

१४—तए णं से सीहसेणे राया कोडुंवियपुरिसे सद्वैषेह, सद्वावित्ता एवं वयासी—“गच्छह णं तुव्वेद देवाणुप्तिया ! विडलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवणेह, सुबहुं पुफ्फ-वत्य-गंघा-मल्लालंकारं च कूडागारसालं साहरह ।

तए णं ते कोदुऽस्मिन्पुरिसाऽत्तेव जाव साहरति ।

तए णं तासि एगूणगाणं पञ्चष्टुं वेदोसयाणं एगूणगाहं पञ्चमाइसयाहं सद्बालकारविशूसियाहं तं विडलं ग्रसणं वाणं खाइमं साइमं सुरं च महुं च भेषणं च जाहं च पसणं च बासाएमाणाहं गंधव्येत्ति य नाडेहि य उवगीयमाणाहं उवगीयमाणाहं विहरति ।

१३—तदनन्तर सिंहसेन राजा ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुनाकर वहा देवानुप्रियो ! तुम जाओ और विपुल अशनादिक ले जाओ तथा अनेकविद्य पुरुषों, वस्त्रों, गच्छां सुगन्धित पदार्थों, मालाओं और अलंकारों को कृटाकार शाला में पहुँचाओ । कौटुम्बिक पुरुष भी राजा की आज्ञा के अनुसार सभी सामग्री पहुँचा देते हैं । तदनन्तर सबं-प्रकार के अलंकारों से विभूषित उन एक कम पांच सौ देवियों की एक कम पांच सौ माताओं ने उस विपुल अशनादिक और सुरादिक सामग्री का आम्बादन किया—यथार्हत् उपभोग किया और गान्धवं (गाने वाले व्यक्तियों) तथा नाटक-(नृत्य करने वाले) नर्तकों से उपगीयमान-प्रशास्यमान होती हुई सानन्द विचरने लगी । अर्थात् भोजन तथा मद्यपान करके नाच-गान में मस्त हो गई ।

१४—तए ण से सीहसेणे राया अद्वरतकालसमयंसि वर्हाह पुरिसेहि सद्वि संपरिवृष्टे जेणेव कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता, कूडागारसालाए दुवाराहं पिहेहि, पिहिता कूडागारसालाए सब्दओ अगणिकायं दलयहि ।

तए ण तासि एगूणगाणं एगूणगाहं वेदोसयाणं एगूणगाहं वंचमाइसयाहं सीहसेणे राया आलिवियाहं समाणाहं रोयमाणाहं कंदमाणाहं विसवमाणाहं अताणाहं असरणाहं कालघम्मुणा संजुताहं ।

१५—तत्पश्चात् सिंहसेन राजा अद्वरात्रि के समय अनेक पुरुषों के साथ, उनसे घिरा हुआ, जहाँ कूटाकारशाला थी वहाँ पर आया । आकर उसने कूटाकारशाला के सभी दरवाजे बन्द करका दिये । बन्द करवाकर कूटाकारशाला को चारों नरफ से आग लगवा दी ।

तदनन्तर राजा मिहेन के द्वारा आदीप्त की गई, जलाई गई, शाण व शरण से रहित हुई एक कम पांच सौ रानियों की एक कम पांच सौ माताएं, रुदन कन्दन व विलाप करती हुई कालघम्मुण को प्राप्त हो गई ।

१५—तए ण से सीहसेणे राया एयकम्मे एथप्पहाणे एयविज्ञे एयसमायारे सुबहुं पाषकम्मं सपज्जिज्ञिता चोत्तीसं वाससयाहं परसाउयं पालहिता कालमासे कालं किञ्च्चा छद्मीए पुढ़वीए उबकोसेणं वायोसागरोवमट्टिएसु नेरझयेसु नेरझयत्ताए उववन्ने । से णं तजो अणतरं उब्बहित्ता इहेव रोहोडए नथरे दत्तस्त सत्यवाहस्त कण्हसिरीए भाश्याए कुच्छिंसि दारियत्ताए उववन्ने ।

१५—तत्पश्चात् इस प्रकार के कर्म करने वाला, ऐसी विद्या-बुद्धि वाला, ऐसा आचरण करने वाला सिंहसेन राजा अत्यधिक पापकरों का उपार्जन करके ३४-सौ वर्ष की परम आयु भोगकर काल करके उत्कृष्ट २२ सागरोपम की स्थिति वाली छद्मी नरकमूर्भि में नारक रूप से उत्पन्न हुआ । वही सिंहसेन राजा का जीव स्थिति के समाप्त होने पर वहाँ से निकलकर इसी

रोहीतक नगर में दत्त सार्थवाह की कृष्णश्री भार्या की कुक्षि में बालिका के रूप में उत्पन्न हुआ अथर्ति कन्या के रूप में गंभीर में आया।

१६—तए ण सा कण्ठसिरी नबण्हं नासाणं बहुपङ्किपुण्डाणं जाव दारियं पथाया सुवमाल-पाणिपाया जाव मुरुखा। तए ण तोसे दारियाए अभ्यापियरो निव्वसवारसाहियाए विचलं असणं जाव भित्त-नाइ-नियम-सथण-संबंधि-परियणस्स पूरओ नामधेऊं करेति तं होउ णं दारिया देवदत्ता नामेण, तए ण सा देवदत्ता दारिया पंचधाईपरिग्नहिया जाव परिवड्डह।

१६—तब उस कृष्णश्री भार्या ने नव मास परिपूर्ण होने पर एक कन्या को जन्म दिया। वह अत्यन्त कोमल हाथ-पैरों वाली नथा अत्यन्त रूपवती थी। तत्पचात् उस कन्या के माता पिता ने बारहवें दिन बहुत मा अशनादिक तेयार कराया यावत् मिच, ज्ञानि निजक, स्वजन, संबंधीजन तथा परिजनों को निमन्त्रित करके एवं भोजनादि से निवृत्त हो लिने पर कन्या का नामकरण संस्कार करते हुए कहा—हमारी इस कन्या का नाम देवदत्ता रखेंगा जाना है। तदनन्तर वह देवदत्ता पांच धायमानाओं के संरक्षण में वृद्धि का प्राप्त होने लगी।

१७—तए ण सा देवदत्ता दारिया उम्मुक्कबालभाव (विण्णयपरिणयमेत्ता) शोऽवणेण य रुद्धेण लावण्णेण य अईव-अईव उकिकट्टुसरीरा यावि होत्था।

तए ण सा देवदत्ता दारिया आल्या कयाह यहाया जाव^१ विभूसिया बहौहि कुञ्जाहि जाव परिकिञ्चत्ता उत्पि आगासतलगंसि कणगर्तिदूसेण कीलमाणी विहरह।

१७—तदनन्तर वह देवदत्ता बाल्यावस्था से मुक्त होकर यावत् योवन, रूप व लावण्य से अत्यन्त उत्तम व उत्कृष्ट शरीरवाली हो गई।

एक बार वह देवदत्ता स्नान करके यावत् समस्त आमूषणों से विभूषित होकर बहुत सी कुञ्जा आदि दासियों के साथ अपने मकान के ऊपर सोने की गेंद के साथ कीडा करती हुई विहरण कर रही थी।

१८—इसं च ण वेसमणदत्ते राया णहाए जाव^२ विभूसिए आसं दुर्घह, दुर्हित्ता बहौहि पुरिसेहि सद्गु संपरिवुङ्गे आसवाहिणियाए निजजायमाणे बत्सस गाहावइस्स गिहस्स घूरसामतेण बोइवयह। तए ण से वेसमेणे राया जाव बोइवयमाणे देवदत्तं दारियं उत्पि आगासतलगंसि कणगर्तिदूसेण कीलमाणि पासह, पासिता देवदत्ताए दारियाए रुद्धेण य जोऽवणेण य लावण्णेण य जायदिम्हुए कोडु विय-पुरिसे सहृदयेह, सहाविसा एवं बयासी—कस्स ण देवाणुप्तिया! एसा दारिया? कि वा नाएँघेजेण? विभूषित राजा वेश्मणदत्त अथव पर

तए ण ते कोहु वियपुरिसा वेसमणं रायं करयल जाव एवं बयासी—‘एस णं सामी! दत्सस सत्यवाहस्स धूया, कण्ठसिरीए भारियाए अत्यया देवदत्ता नामं दारिया रुद्धेण य जोऽवणेण य उकिकट्टुसरीरा।’

१८—इधर स्नानादि से निवृत्त यावत् सर्वालङ्कारविभूषित राजा वेश्मणदत्त अथव पर

आरोहण करता है और आरोहण करके बहुत मे पुरुषों के साथ परिवृत् घिरा हुआ, अश्ववाहनिका—अश्वकीड़ा के लिए जाता हुआ दत्त माध्यापति के घर के कुछ पास मे निकलता है। तदनन्तर वह वैश्वमणदत्त राजा देवदत्ता कन्या को ऊपर सोने की गेंद से लेलती हुई देखता है और देखकर देवदत्ता दारिका के रूप, योवन व लावण्य से विस्मय को प्राप्त होता है। फिर कीटुम्बिक पुरुषों—अनुचरों को बुलाता है और बुलाकर इस प्रकार कहता है—‘हे देवानुप्रियो ! यह वानिका किसकी है ? और इसका क्या नाम है ?’

तब वे कीटुम्बिक पुरुष हाथ जोड़कर यावत् इस प्रकार कहने लगे—‘म्बामिन् ! यह कन्या दत्त गाधापति की पुत्री और कृष्णश्री को आत्मजा है जो रूप, योवन तथा लावण्य-कान्ति से उत्तम तथा उत्कृष्ट शरीर वाली है।

१९—तए ण से वेसमणे राया आसवाहिणियाओ पडिनियसे समाणे अदिभतरठाणिजे पुरिसे सहावेद, सहावेता एवं वयासी—‘गच्छह णं तुइमे, देवाणुपिया । दत्तस्त धूयं कणहसिरीए भारियाए अत्तर्य देवदत्तं दारियं पुस्सन्दिस्स जुवरन्नो मारियसाए वरेह, जइ चि ता सर्यंरजजसुवका ।’

२०—तदनन्तर राजा वैश्वमणदत्त अश्ववाहनिका (अश्वकीड़ा) से बापिस आकर अपने आभ्यन्तर स्थानीय—अत्तरञ्ज पुरुषों को बुलाता है और बुलाकर उनको इस प्रकार कहता है—

देवानुप्रियो ! तुम जाओ और जाकर सार्थवाह दत्त की पुत्री और कृष्णश्री भार्या की आत्मजा देवदत्ता नाम की कन्या की युवराज पुष्यनन्दी के लिए भार्या रूप मे मांग करो। यदि वह राज्य के बदले भी प्राप्त की जा सके तो भी प्राप्त करने के योग्य है।

२०—तए ण ते अदिभतरठाणिजा पुरिसा वेसमणेण रन्ना एवं बुत्ता समाणा हुड्डुड्डा करयल जाव एयमदू पडिसुउंति, पडिसुउंता फ्हाया जावे सुद्धप्पावेसाइ वत्थाइ पवरपरिहिया जेणेव दत्तस्त गिहे तेणेव उवागच्छत्था। तए ण से दत्ते सत्थवाहे ते पुरिसे एज्जमाणे वासह, पासिता हुड्डुड्डे, आसणाओ अब्मुद्देह। अब्मुद्दिता सत्तदुपयाइ पच्चुगण आसणेण उवनिमंतिता ते पुरिसे आसत्थे वोसत्थे सुहासणवरगए एवं वयासी—‘संदिसंतु णं देवाणुपिया ! कि आगमणप्यओयण ?’

तए ण ते रायपुरिसा दत्तं सत्थवाहे एवं वयासो—‘अम्हे णं देवाणुपिया ! तद धूयं कणहसिरीए अत्तर्य देवदत्तं दारियं पूलनंदिस्स जुवरन्नो मारियत्ताए वरेमो। तं जइ णं जाणासि देवाणुपिया ! जुत्तं वा पत्तं वा सलाहणिज्जं वा सरिसो वा संजोगो, दिङ्जत णं देवदत्ता मारिया पुस्सन्दिस्स जुवरन्नो। मण, देवाणुपिया ! कि दलयामो सुहकं ?

तए ण से दत्ते अदिभतरठाणिजे पुरिसे एवं वयासी—‘एयं चेष्ठ देवाणुपिया ! मम सुकं जं णं वेसमणे राया मम वारियानिमित्तेण अणुगिण्हुइ ।

ते अदिभतरठाणिजे पुरिसे विउलेण पुफफ-वत्थ-गंध-मल्लालंकारेण सवकारेह, समाणेह सक्कारिता संमाणिता पडिविसज्जेइ ।

तए णं से ग्रन्थिभतरठाणिजजपुरिसा जेणेव वेसमणे राया तेणेव उवागच्छित्ता वेसमणस्स रन्नो एयमहुँ निवेदेति ।

२० तदनन्तर वे आभ्यन्तर-स्थानीय पुरुष—अन्तरङ्ग व्यक्ति राजा वैश्वमण की इस आज्ञा को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर, हर्ष को प्राप्त हो यावत् रनानादि क्रिया करके तथा राजसभा में प्रदेश करने योग्य उत्तम वस्त्र पहनकर जहाँ दत्त सार्थवाह का घर था, वहाँ आये । दत्त सार्थवाह भी उन्हें आता देखकर बड़ा प्रसन्नता के साथ आसन में उठकर उनके सम्मान के लिये सात-आठ कदम उनके मामने अगवानी करने गया । उनका स्वागत कर आसन पर बैठने की प्रार्थना की । तदनन्तर आश्वस्त गतिजन्य श्रम के न रहने से स्वास्थ्य-शान्ति को प्राप्त हुए तथा विश्वस्त—सान्निध्य क्षोभ जरा भी न रहने के कारण विशेष रूप से स्वस्थना को उपलब्ध हुए एवं मुख्यपूर्वक उत्तम आमनों पर अवस्थित हुए । इन आने वाले राजपुरुषों में दत्त ने इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो ! आज्ञा दीजिए, आपके शुभागमन का प्रयोजन क्या है ? अर्थात् मैं आपके आगमन का प्रयोजन जानना चाहना हूँ ।

दत्त सार्थवाह के इस तरह पूछने पर आगन्तुक राजपुरुषों ने कहा—‘हे देवानुप्रिय ! हम आपकी पुत्री और कृष्णश्री की आत्मजा देवदत्ता नाम की कन्या को युवराज पुष्यनन्दी के लिये भार्या रूप से मंगनी करने आये हैं । यदि हमारी यह मांग आपको युक्त—उचित, श्रवसरप्राप्त, श्लाघनीय तथा वरवधू का यह संयोग अनुरूप जान पड़ता हो तो देवदत्ता को युवराज पुष्यनन्दी के लिए दीजिए श्रीर बतलाइये कि इसके लिये आपको क्या शुल्क—उपहार दिया जाय ?

उन आभ्यन्तरस्थानीय पुरुषों के इस क्यन को सुनकर दत्त बोले—‘देवानुप्रियो ! मेरे लिए यहीं बड़ा शुल्क है कि महाराज वैश्वमणदत्त (अपने पुत्र के लिये) मेरी इस बालिका को ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत कर रहे हैं ।’

तदनन्तर दत्त गाथापति ने उन अन्तरङ्ग राजपुरुषों का पृष्ठ, गंध, माला तथा अलङ्कारादि से यथोचित सत्कार-सन्मान किया और सत्कार-सन्मान करके उन्हें विसर्जित किया । वे आभ्यन्तर स्थानीय पुरुष जहाँ वैश्वमणदत्त राजा था वहाँ आये और उन्होंने वैश्वमण राजा को उक्त सारा वृत्तान्त निवेदित किया ।

२१- तए णं से दसे गाहावई अन्यथा क्याइ सोहुणंसि तिहि-करण-विष्वस-नक्षत्र-मुहुर्तंसि विडलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेता मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं आमंतेइ । एहाए जाथ पायच्छित्ते सुहासणवरगए तेण मित्त ० सद्गुं संपरिक्षुडे तं विडलं असणं पाणं खाइमं साइमं जासाएमाणे विहरइ । जिमियभुत्तृतराएगए वि य णं आयते चोक्ये परमसुइमूर्ए तं मित्तनाइनियगसयण-संबंधिपरियणं विडलेणं पुण्फ-वत्य-गंध-मल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारिता सम्माणेता देवदत्तं दारियं एहायं जाव विभूसियसरीरं पुरिससहस्रवाहिणि सीयं दुरुहेइ, दुरुहेता सुबहुमित्त जाथ सद्गुं संपरिक्षुडे सम्बिद्धीए जाए नाइवरवेणं रोहीडयं नयरं भज्जामज्जेणं जेणेव वैश्वमणरम्भो गिहे, जेणेव वेसमणे राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव बढ़ावेइ, बढ़ावेता वेसमणस्स रम्भो वेवदत्तं दारियं उवणेइ ।

२१—तदनन्तर किसी अन्य समय दत्त गायापति शुभ तिथि, करण, दिवस, नक्षत्र व मुहूर्त में विपुल अशनादिक सामग्री तैयार करवाता है और करवाकर मित्र, जाति, निजक स्वजन सम्बन्धी तथा परिजनों को आमंत्रित कर यावत् स्नानादि करके दुष्ट स्वप्नादि के फल को विनष्ट करने के लिये भस्तक पर तिलक व अन्य माझ्जिक कार्य करके सुखप्रद आसन पर स्थित हो उस विपुल अशनादिक का मित्र, जाति, स्वजन, सम्बन्धी व परिजनों के साथ आस्वादन, विस्वादन करने के अनन्तर उचित स्थान पर बैठ आनान्त (आचमन-कुल्ला किए हुए) चोक (भुखादिगत लेप को दूर किए हुए) अतः परम शुचिभूत—परम शुद्ध होकर मित्र, जाति, निजक-स्वजन-सम्बन्धियों का विपुल पुष्प, माला, गंध, वस्त्र, अलङ्कार आदि से सत्कार करता है, सन्मान करता है। सत्कार व सन्मान करके देवदत्ता-नामक अपनी पुत्री को स्नान करवाकर यावत् शारीरिक आभूषणों द्वारा उसके शरीर को विभूषित कर पुरुषसहस्रवाहिनी—एक हजार पुरुषों से उठाई जाने वाली शिविका-पालखी में बिठलाता है। विठाकर बहुत से मित्र व जातिजनों आदि से घिरा हुआ सर्व प्रकार के ठाठ-ऋद्धि से तथा बादिब्रह्मनि—बाजे-गाजे के साथ रोहीतक तट के बीचों नींह हेत्तर जहाँ वैश्वमण राजा का घर था और जहाँ वैश्वमण राजा था, वहाँ आया और आकर हाथ जोड़कर उसे बधाया। बधा कर वैश्वमण राजा को देवदत्ता कन्या अर्पण कर दी।

२२—तए ण से वेसमणे राया देवदत्तं वारियं उद्वणीयं पासइ, पासिता हटुतुटु विजलं असणं ४ उद्वद्वावेइ, उद्वद्वावेत्ता मित्त नाइ० आमंतेइ, जाव सक्कारेइ सम्माणेइ सक्कारित्ता सम्माणित्ता पूसनंदिकुमारं देवदत्तं च वारियं पट्टयं तुहेइ, तुहित्ता लेयापीएहि कलसेहि मज्जावेइ, मज्जावेत्ता वरनेवत्थाइं करेइ, अग्निहोमं करेइ, करेत्ता पूसनन्विकुमारं देवदत्ताए वरियाए पाणि गिणहावेइ ।

तए ण से वेसमणे राया पूसनंदिस्स कुमारस्त देवदत्तं दारियं सतिविद्धीए जाव रवेण महया इद्वौसवकारसमुद्देशं पाणिग्रहणं कारेइ, कारेत्ता दारियाए अम्मापियरो मित्त जाव परियणं च विडलेणं असणपाणखाइमसाइमेण घट्यांधमल्लालंकारेण य सक्कारेइ सम्माणेइ जाव पडिविसउजेइ ।

तए ण पूसनन्वो कुमारे देवावत्ताए सद्धि उप्पि पासाववरणए फुट्टमाणेहि मुहंगमतथएहि भसीसइबद्धनाडएहि उवगिज्जमाणे जाव (उवलासिज्जमाणे उवलासिज्जमाणे इट्टे सद्ध-फरिस-रस-रुच-गंधे विडले माणुस्सए कामभोगे पञ्चणुभवमाणे) विहरइ ।

२२—तब राजा वैश्वमण लाई हुई—अर्पण की गई उस देवदत्ता दारिका को देखकर वहे हृषित हुए और हृषित होकर विपुल अशनादिक तैयार कराया और मित्र, जाति, निजक, स्वजन, सम्बन्धी व परिजनों को आमंत्रित कर उन्हें भोजन कराया। उनका पुष्प, वस्त्र, गंध, माला व अलङ्कार आदि से सत्कार-सन्मान किया। तदनन्तर कुमार पुष्यनन्दी और कुमारी देवदत्ता को पट्टक पर बैठाकर इवेत व पीत अर्थात् चाँदी और सोने के कलशों से स्नान कराते हैं। तदनन्तर सुन्दर वेषभूषा से सुरजित करते हैं। अग्निहोम—हवन कराते हैं। हवन कराने के बाद कुमार पुष्यनन्दी को कुमारी देवदत्ता का पाणिग्रहण कराते हैं। तदनन्तर वह वैश्वमणदस्त नरेश पुष्यनन्दी व देवदत्ता का सम्पूर्ण ऋद्धि यावत् महान वाणी-छवनि और ऋद्धिसमुदाय व सन्मानसमुदाय के

जाव विवाह रचाते हैं। तात्पर्य यह है कि विष्णुवृक बड़े समारोह के साथ कुमार पुष्यनन्दी और कुमारी देवदत्ता का विवाह सम्पन्न हो जाता है।

तदनन्तर देवदत्ता के माता-पिता तथा उनके साथ आने वाले अन्य उनके मित्रजनों, जातिजनों निजकजनों, स्वजनों, सम्बन्धिजनों और परिजनों का भी विपुल अशानादिक तथा वस्त्र, गन्ध, माला और अनङ्गाशादि से सत्कार करते हैं, सन्मान करते हैं; सत्कार व सन्मान करने के बाद उन्हें विदा करते हैं।

राजकुमार पुष्यनन्दी श्रेष्ठपुत्री देवदत्ता के साथ उत्तम प्रासाद में विविष्ट प्रकार के बादों और जिनमें मृदङ्घ बज रहे हैं, ऐसे ३२ प्रकार के नाटकों द्वारा उपगीयमान—प्रशंसित होते सानंद मनुष्य संबंधी शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंधरूप भोगते हुए समय बिताने लगे।

२३—तए ण से वेसमणे राया अश्वया क्याइ कालघम्मुणा संजुते । नीहरण जाव राया जाव पूसनंदी ।

२३—कुछ समय बाद महाराजा वंशभूमण कालघम्मे को प्राप्त हो गये। उनकी मृत्यु पर शोक-प्रस्त पुष्यनन्दी ने बड़े समारोह के साथ उनका निस्सरण किया यावत् मृतक-कर्म करके राज सिहासन पर आरूढ़ हुए यावत् युवराज से राजा बन गए।

२४—तए ण से पूसनंदी राया सिरीए वेकोए माइभत्तए यावि होत्या। कल्लाकलिंख जेणेव सिरीदेवी लेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता सिरीए देवीए पायषडण करेह, करिसा सयपाग-सहस्रपागेहि तेलनेहि वर्दिमगावेहि। अद्विसुहाए, मंससुहाए, तयासुहाए रोमसुहाए खउविहाए संवाहणाए संवाहणे इ संवाहावेता सुरभिणा गंधवट्टएण उव्वट्टित्तावेहि, उव्वट्टित्तावेता तिहि उव्वट्टिहि मज्जावेहि, संजहा उसिष्वोदएण, सीओदएण, गन्धोदएण। विडलं असणं पाणं खाहमं साइभं भोयावेहि। सिरीए देवीए यायाए जाव पायचिक्ताए जाव जिमियभुत्तुत्तरायाए तए णं पञ्चाणा एहाइ वा भुजह वा, उरालाइ माणुस्तगाइ भोगभोगाइ भुजमाणे विहरहि।

२४—पुष्यनन्दी राजा अपनी माता श्रीदेवी का परम भक्त था। प्रतिदिन माता श्रीदेवी जहाँ भी हों वहाँ आकर श्रीदेवी के चरणों में प्रणाम करता और प्रणाम करके शतपाक और सहस्रपाक (सी श्रीष्ठियों के तथा हजार श्रीष्ठियों के सम्मिश्रण से बने) तेलों की मालिका करवाता था। अस्थि को मुख देने वाले, मास को मुखकारी, त्वचा की मुखप्रद और दोनों को मुखकारी ऐसी चार प्रकार की संवाहन—अंगमदेन किया से मुखशान्ति पहुँचाता था। तदनन्तर सुगन्धित गन्धवतंक—बटने से उद्वतन करवाता अर्थात् बटना मनवाता। उसके पश्चात् उण्ण, शीत और मुगन्धित जल से स्नान करवाता, फिर विपुल अशानादि चार प्रकार का भोजन कराता। इस प्रकार श्रीदेवी के नहा लेने यावत् असुभ स्वप्नादि के फल को विफल करने के लिए मस्तक पर तिलक व अन्य माङ्गलिक कार्य करके भोजन कर लेने के अनन्तर अपने स्थान पर आ चुकने पर और वहाँ पर कुल्ला तथा मुखगत लेप को दूर कर परम शुद्ध हो मुखासन पर बैठ जाने के बाद ही पुष्यनन्दी स्नान करता, भोजन करता था। तथा फिर मनुष्य सम्बन्धी उदार भोगों का उपभोग करता हुआ समय व्यतीत करता था।

२५—तए णं तीसे देवदत्ताए देवीए अश्वया कयाइ पुरबरसावरसकालसमयंसि कुटुंबजागरियं जागरमाणीए इमेयारुवे अलश्रियए चितिए कप्पिए पत्तिए मणोगए संकप्पे समुप्पन्ने—‘एवं खलु पूसनंदो राया सिरीए देवीए साहसते सभाणे जाव विहरइ। तं एएणं बक्सेवेणं सो संचाएमि पूसनंदिणा रक्षा सद्हि उरालाइ माणुससगाइ भोगभोगाइ भुंजमाणी विहरित्तए। तं सेवं खलु भमं सिरि देविं अग्निप्रभोगेण वा सत्यप्रभोगेण वा विसप्पभोगेण वा संतप्पभोगेण वा जोवियाद्यो वदरोवित्तए, वदरोवित्ता पूसनंदिणा रक्षा सद्हि उरालाइ माणुससगाइ भोगभोगाइ भुंजमाणीए विहरित्तए’ एवं संपेहेइ संपेहिता सिरीए देवीए अंतराणि य छिद्राणि य विदराणि य पडिजागरमाणी विहरइ।

२५—तदनन्तर किसी समय मध्यरात्रि में कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ताओं में उलझी हुई (जाणती हुई) देवदत्ता के हृदय में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि ‘इस प्रकार निश्चय हो पुष्यनन्दी राजा अपनी भाता श्रीदेवी का ‘यह पूज्या है’ इस दुद्धि से परम भक्त बना हुआ है। इस अवक्षोप—विघ्न के कारण मैं पुष्यनन्दी राजा के साथ पर्याप्त रूप से मनुष्य सम्बन्धी विषयभोगों का उपभोग नहीं कर पाती हूँ। इसलिये अब मुझे यही करना योग्य है कि अग्नि, शस्त्र, विष या मन्त्र के प्रयोग से श्रीदेवी को जीवन से व्यपरोपित करके—मार डाल कर महाराज पुष्यनन्दी के साथ उदार-प्रधान मनुष्य सम्बन्धी विषय-भोगों का यथेष्ट उपभोग करूँ।’ ऐसा विचार कर वह श्रीदेवी को मारने के लिये सन्तर (जिस समय राजा का आगमन न हो), छिद्र (राजपरिवार के किसी सदस्य की जिस समय उपस्थिति न हो) और विवर (जिस समय कोई सामान्य मनुष्य भी न हो ऐसे अवसर) की प्रतीक्षा करती हुई विहरण करने लगी।

२६—तए णं सा सिरीदेवी अश्वया कयाइ मञ्जाइया विरहियसयणिज्जंसि सुहपसुत्ता जाया यादि होतथा। इमं च णं देवदत्ता देवी जेणेव सिरीदेवो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छत्ता, सिरि देवि अञ्जाइयं विरहियसयणिज्जंसि सुहपसुत्ता पासइ, पासेत्ता विसालोयं करेइ, करेता जेणेव मत्तवरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छत्ता लोहदण्डं परामुसइ, परामुसिसा लोहदण्डं तावेइ, तत्तं समजोइभूयं फुल्ल-किसुयसमाणं लंबासएणं गहाय जेणेव सिरीदेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छत्ता सिरीए देवीए अवाणंसि पविष्ठवइ।

तए णं सा सिरीदेवी महया-महया सद्देणं आरसित्ता कालधम्पुणा संजूत्ता।

२६—तदनन्तर किसी समय स्नान की हुई श्रीदेवी एकान्त में अपनी शर्वा पर सुखपूर्वक सो रही थी। इधर लब्धावकाश देवदत्ता देवी भी जहाँ श्रीदेवी थी वहाँ पर आती है। स्नान व एकान्त में शर्वा पर सुखपूर्वक सोई हुई श्रीदेवी को देखती है। देखकर दिशा का अवलोकन करती है अर्थात् कोई मुझे देख तो नहीं रहा है, यह निश्चय करने के लिए चारों तरफ देखती है। उसके बाद जहाँ भक्तगृह—रसोङ्ग था वहाँ पर जाती है और जाकर लोहे के ढंडे को ग्रहण करती है। ग्रहण कर लोहे के उस ढंडे को लगाती है, तपाकर अग्नि के समान देवीप्रभान या खिले हुए किशुक—केसू के फूल के समान लाल हुए उस लोहे के ढंड को संडासी से पकड़कर जहाँ श्रीदेवी (सोई) थी वहाँ आती है। आकर श्रीदेवी के अपान—गुदास्थान में घुसेह देती है। लोहदण्ड के घुसेहने से बड़े जोर के शब्दों से चिल्लाती हुई श्रीदेवी कालधर्म से संयुक्त हो गई—मृत्यु को प्राप्त हो गई।

२७—तए ऊं तोसे सिरीए देवीए दासचेड़ीओ आरसियसद् सोच्चा निसम्म जेणेव सिरी
देवी तेणेव उबागच्छन्ति, उबागच्छन्ति देवदत्तं वेदि तज्जो अववकमभाणि पासंति, पालेत्ता जेणेव
सिरीदेवी तेणेव उबागच्छन्ति, उबागच्छन्ति सिरि वेदि निष्प्याणं निच्छेदुं जीवियविष्यजदं पासन्ति,
पासित्ता 'हा हा अहो अकञ्जं' इति कट्टु रोयमाणीओ कंदमाणीओ विलवमाणीओ जेणेव पूसनंदी
राया तेणेव उबागच्छन्ति, उबागच्छन्ति पूसनंदि रायं एवं घयासी—'एवं खलु, सामी ! सिरीदेवी
देवदत्ताए देवीए अकाले चेव जोवियाओ ववरोविया ।'

तए ऊं से पूसनंदी राया तासि दासचेडोण अंतिए एपमदुं सोच्चा निसम्म महया माइसोएण
अष्टकुण्णे समाणे परसुनियसे विव चंपग-वरपायवे धसत्ति धरणियलंसि सज्जगेहि संनिवडिए ।

२८—तदनन्तर उस श्रीदेवी की दासियाँ भग्नालक चीत्कार शब्दों को सुनकर अवधारण
कर जहाँ श्रीदेवी थी वहाँ आती हैं और वहाँ से देवदत्ता देवी को निकलती हुई—यापिस जाती
देखती हैं। देखकर जिष्ठर श्रीदेवी सोई हुई थी वहाँ आती है, आकर श्रीदेवी को प्राणरहित, चेष्टा
रहित देखती है। देखकर—'हा ! हा ! अहो ! बड़ा अत्यर्थ हुआ' इस प्रकार कहकर रुदन, आकल्दन
तथा विलाप करती हुई, जहाँ पर पुष्यनन्दी राजा था वहाँ पर जाती हैं। जाकर महाराजा पुष्यनन्दी
ही जीवन से पृथक् कर दिया—अर्थात् मार डाला है।'

तदनन्तर पुष्यनन्दी राजा उन दासियों से इस वृत्तान्त को सुन समझ कर महान् मातृशोक
से आकान्त होकर परशु से काटे हए चम्पक वृक्ष की भाँति द्वडाम से पृथ्वी-तल पर सबे अङ्गों से
गिर पड़ा।

२९—तए ऊं से पूसनन्दी राया मुहुसन्तरेण दासत्ये दीसत्ये समाणे बहौहि राईसर जाव
सत्यवाहैहि मित जाव परियणेण सद्दि रोयमाणे कंदमाणे विलवमाणे सिरीए देवीए महया इहुी सकार-
समुवएण नीहरणं करेह, करेता आसुहते रुटु कुषिए चंडिकिए मिसिमिसेमाणे वेवदत्तं वेदि पुरिसेहि
गिष्ठवेहि, एतेण विहाणेण वज्जं आणवेह ।

'तं एवं खलु, गोयमा ! देवदत्ता देवी पुराणोराणाणं जाव विहरह ।'

२८—तदनन्तर एक मुहूर्त के बाद (योड़े समय के पश्चात्) वह पुष्यनन्दी राजा आश्वस्त—
दीश में आया। अनेक राजा-नरेश, ईश्वर—ऐश्वर्ययुक्त, यावत् सार्थवाह- ल्यापारियों के नायकों तथा
मित्रों यावत् परिजनों के साथ रुदन, आकल्दन व विलाप करता हुआ श्रीदेवी का महान् ऋद्धि तथा
सत्कार के साथ निष्कासन कृत्य (मृत्यु-संस्कार) करता है। तत्पश्चात् क्रोध के आवेश में रुष्ट,
कुपित, अतीव क्रोधाविष्ट तथा लाल-पीला होता हुआ देवदत्ता देवी को राजपुरुषों से पकड़वाता है।
पकड़वाकर इस पूर्वोक्त विधान से (जिसे तुम देख कर आए हो) 'यह वष्या— हृतव्या है' ऐसी राजपुरुषों
को आज्ञा देता है।

इस प्रकार निष्पत्य ही, हे गोतम ! देवदत्ता देवी अपने पूर्वकृत अशुभ पापकर्मों का फल
पा रही है।

देवदत्ता का भविष्य

२९—देवदत्ता यं भंते ! देवो इओ कालमासे कालं किञ्च्चा कर्हि गमिहिइ ? कर्हि उव्वज्जिज्जहिइ ?

गोयमा ! अलीहं आसाहं परमादयं पालहत्ता कालमासे कालं किञ्च्चा इमीसे रथणपप्राए पुढबीए नेरइएसु नेरइयत्ताए उव्वज्जिज्जहिइ । संसारो । वणस्सर्ह । तबो अणन्तरं उव्वहित्ता गंगपुरे नयरे हंसत्ताए पञ्चवायाहिइ । से यं तत्थ साडणिएहि वहिए समाणे तत्थेव गंगपुरे नयरे सेट्टिकुलंति उव्वज्जिज्जहिइ । बोही । सोहम्ये । महाविवेहे वासे सिज्जहिइ । निवेदेबो ।

२९—तब गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—अहो भगवन् ! देवदत्ता देवी यहाँ से काल मास में काल करके काहाँ जाएगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

भगवान् महावीर ने कहा—हे गौतम ! देवदत्ता देवी ८० वर्ष की परम-आयु योग कर काल मास में काल करके इस रत्नप्रभा नामक प्रथम पृथिवी-नरक में नारक पर्याय में उत्पन्न होगी । शेष संसारभ्रमण पूर्ववत् करती हुई अर्थात् प्रथम अध्ययनगत मृगापुत्र की भाँति यावत् वनस्पति अन्तर्गत निम्ब आदि कटु-वृक्षों तथा कटुदुर्घष वाले अकर्दि पौधों में लाखों बार उत्पन्न होगी । तदनन्तर वहाँ से निकलकर गङ्गापुर नगर में हंस रूप से उत्पन्न होगी । वहाँ शाकुनिकों द्वारा वघ किए जाने पर वह गंगपुर में ही श्रेष्ठिकुल में पुत्ररूप में जन्म लेगी । वहाँ उसका जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सौघर्म नामक प्रथम देवलोक में उत्पन्न होगा । वहाँ से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा । वहाँ चारित्र ग्रहण कर यथावत् पालन कर सिद्धि को प्राप्त करेगा । सर्व कर्मों से मुक्त होगा ।

निषेप—श्री सुखर्मा स्वामी ने उपसंहार करते हुए कहा—हे जम्बू ! निवण-प्राप्त श्रमण भगवान् महावीर ने नौवें अध्ययन का यह अर्थ कहा है ।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

दशम अंट्याधि

अंजू

प्रस्तावना

१—दसमस्त उक्तेषो—‘जह जं भते !’

२—अहो भगवन् ! श्रमण भगवान् महावीर ने दशम प्रछययन का कथा अर्थ कहा है, इत्यादि, उत्क्षेप-प्रस्तावना पूर्ववत् ही जान लेना चाहिये ।

२—एवं खलु जंकू ! तेण कालेण तेण समएण वद्वमाणपुरे नामं नयरे होत्था । विजयवद्धमाणे उज्जाणे । मणिमद्वे जक्षे । विजयमिते राया । तत्य एं धणवेवे नामं सत्यवाहे होत्था, अङ्गु ! पियंगू नामं भारिया । अंजू बारिया जाव उविकद्वसरीरा । समोसरणं, परिसा जाव पविगया ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में वद्वमानपुर नाम का एक नगर था । वही विजयवद्धमान नामक उद्धान था । उस में मणिमद्व वक्ष का यक्षायतन था । वहाँ विजयमित्र नामक राजा राज्य करता था । धनदेव नामक एक सार्थवाह—व्यापारियों का नायक, रहता था जो धनाद्य श्रीर प्रतिष्ठित था । उसके प्रियंगु नाम की भार्या थी । उनकी उत्कृष्ट शरीरवाली सुन्दर अङ्गू नामक एक बालिका थी । उस समय विजयवद्धमान नामक उद्धान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे यावत् परिषद् धर्मदेशना सुनकर वापिस चली गयी ।

अंजू का वर्तमान-भव

३—तेण कालेण तेण समएण जेट्टे जाव अङ्गमाणे जाव विजयमित्रस्त रन्नो गिहस्त असोग-वणियाए अदूरसामंतेण बीडवयमाणे पासइ एगं इतियं सुक्षं, भुक्षं निष्मंसं, किडिकिडियाम्यं, अट्टिचम्मायणम्हं नीलसाहगनियस्यं कट्टाइं कलुणाइं विस्सराइं कूवमाणिं पासइ, पासिता चिन्ता तहेच, जाव एवं बथासी—‘सा जं, भते ! इतिया पुष्पमवे का आसी ?’ बागरणं ।

३—उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य श्री गौतमस्वामी यावत् भिक्षार्थं छ्रमण करते हुए विजयमित्र राजा के घर की अशोकवाटिका के समीप से जाते हुए सूखी, भूखी, निर्मास (जिसके शरीर का मांस सूख गया हो) किटि-किटि शब्द से युक्त (जिसकी शरीरगत अस्थियाँ कड़कड़ शब्द कर रही हों) अस्थिचमविनढ—जिसका चमड़ा हड्डियों से चिपटा हुआ हो अर्थात् अस्थिचमविनेष कर रही हों) पहने हुए, कण्ठमय, करुणोत्पादक, दीनतापूर्ण बचन बोलती हुई एक स्त्री को तथा नीली साढ़ी पहने हुए, शेष सब वृत्तान्त पूर्ववत् समझ लेना चाहिये । यावत् गौतम देखते हैं देखकर विचार करते हैं । शेष सब वृत्तान्त पूर्ववत् समझ लेना चाहिये । यावत् गौतम स्वामी भगवान् के निकट आकर पूछते हैं—‘भगवन् ! यह स्त्री पूर्वभव में कौन थी ?’ इसके उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी प्रसिपादन करने लगे—

पूर्वभाव

४—एवं खलु गोप्यमा ! तेण कालेण तेण समएण इहेव जम्बूद्वीपे दीपे मारहेवासे इंद्रपुरे नामं नयरे होत्या । तत्यं एवं इन्द्रदत्ते रत्या । पुढिविसिरी नामं गणिया होत्था । वर्णश्चो ।^१ तए एवं सा पुढिविसिरी गणिया इंद्रपुरे नयरे बहुवे राईसर जाव एवं इन्द्रियो बहुहि चूण्णप्पओगेहि य जाव (हिय-उड्डावणेहि य मिष्ठवणेहि य पण्ठवणेहि य बसोकरणेहि य आभिओगेहि य) अभिओगेत्ता उरालाहं माष्टस्त्वाहं भोगभोगाहं भुजमाणी विहृत ।

५—हे गोतम ! उस काल और उस समय में इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत वर्ष में इन्द्रपुर नाम का एक नगर था । वहाँ इन्द्रदत्त नाम का राजा राज्य करता था । इसी नगर में पृथ्वीश्री नाम की एक गणिका—वेश्या रहती थी । उसका वर्णन पूर्ववत् कामचब्जा वेश्या की ही तरह जान लेना चाहिये । इन्द्रपुर नगर में वह पृथ्वीश्री गणिका अतेक ईश्वर, तलवर यावत् सार्थवाह आदि लोगों को (वशीकरण सम्बन्धी) चूर्णादि के प्रयोगों से वशवर्ती करके मनुष्य सम्बन्धी उदार-मनोज कामभोगों का यथेष्ट रूप में उपभोग करती हुई समय व्यतीत कर रही थी ।

६—तए एवं सा पुढिवीसिरी गणिया एयकम्भा एयप्पहाणा एयविज्ञा एमत्तमायारा सुखमु-
वाचं कामं समजिज्ञानित्ता पणतोसं वाससयाहं परमात्मयं पालहस्ता कालमासे कालं किञ्चां छट्टोए
पुढिवीए उष्कोसेणं दावोसं सागरोबमद्विहएसु नेरहएसु नेरहयत्ताए उवदन्ना ।

७—तदनन्तर एतत्कर्मा एतत्प्रधान एतद्विद्य एवं एतत्-आचारवाली वह पृथ्वीश्री गणिका अत्यधिक पापकर्मों का उपार्जन कर ३५ सौ वर्ष के परम आमुष्य को भोगकर कालमास में काल करके छट्टी नरकभूमि में २२ सागरोपम की उत्कृष्ट सिंहतिवाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुई ।

वर्तमान भव

८—सा एवं तथो अर्णतरं उवद्वित्ता इहेह बद्धमाणपुरे नयरे घणवेवस्स सर्ववाहस्स पियंगु
भारियाए कुञ्जित्ति वारियस्ताए उवदवन्ना । तए एवं सा पियंगु भारिया नवश्चं मासाणं वारिया पथाया ।
नामं अंजुसिरी । लेसं जहा देवदत्ताए ।

९—वहाँ से निकल कर इसी वर्धमानपुर नगर में वह ब्रह्मदेव नामक सार्थवाह की प्रियंगु
भार्या की कोख से कन्या रूप में उत्पन्न हुई अर्थात् कन्या रूप से गर्भ में श्राई । तदनन्तर उस प्रियंगु
भार्या ने नव मास पूर्ण होने पर उस कन्या को जन्म दिया और उसका नाम अञ्जुश्री रखा । उसका
शेष वर्णन (नौवें अध्ययन में वर्णित) देवदत्ता ही की तरह जान लेना चाहिये ।

१०—तए एवं से विजये राया आसवाहुणियाए जहा वेसमणदत्ते तहा अंजुं पासह । नवरं अप्यणो
अट्टाए वरेह, जहा तेयली^२ जाव अंजुए भारियाए तज्जि उप्पि जाव विहृत ।

१. द्वि. अ० सूत्र ३

२. जातोधर्मकथाङ्क अ०-२.

७—तदनन्तर महाराज विजयमित्र अश्वकीडा के निमित्त जाते हुए राजा वंशमणदत्त की भाँति ही अञ्जुश्री को देखते हैं और अपने ही लिए उसे तेतलीपुत्र अमात्य की तरह मांगते हैं। यावत् वे अञ्जुश्री के साथ उन्नत प्रासादों में सानन्द विहरण करते हैं।

८—तए णं तीसे अंजूए देवीए अन्नया कयाइ जोणिसूले पाउब्बूए यावि होत्या । तए णं से विजये राया, कोडु द्वियपुरिसे सहावेइ, सदाविता एवं वयासी—'शच्छह णं तुम देवाणुपिया ! बदुमाणपुरे नगरे सिधाडग आव एवं दयह—'एवं खलु, देवाणुपिया ! विजयस्स रन्नो अंजूए देवीए जोणिसूले पाउब्बूए । जो णं इच्छाइ वेजओ वा वेजापुत्रो वा जाणुओ वा जाणुयपुत्रो वा तेगिच्छियपुत्रो वा तेगिच्छियपुत्रो वा अंजूए देवीए जोणीसूले उवसामित्तए तस्स णं विजए राया विजलं अत्यसंपवाणं दलयह । तए णं ते कोडु द्वियपुरिसा जाव उग्घोसेति ।

९—किसी समय अञ्जुश्री के शरीर में योनिशूल (योनि में होने वाली अस्थृत वेदना) नामक रोग का प्रादुर्भाव हो गया। यह देखकर विजय नरेश ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—‘तुम लोग वर्षमानपुर नगर में जाओ और जाकर वहाँ के श्रुमाटक—त्रिपथ, चतुष्पथ यावत् सामान्य मार्गों पर यह उद्घोषणा करो कि—देवी अञ्जुश्री को योनिशूल रोग उत्पन्न हो गया है। अतः जो कोई वैद्य या वैद्यपुत्र, जानकार या जानकार का पुत्र, चिकित्सक या उसका पुत्र उस रोग को उपशान्त कर देगा, राजा विजयमित्र उसे विपुल धन-सम्पत्ति प्रदान करेंगे।’ कौटुम्बिक पुरुष राजाजा से उक्त उद्घोषणा करते हैं।

१०—तए णं ते बहुवे वेजजा वा ६ इमं एयारुवं उग्घोसणं सोइच्चा निसम्म जेणेव विजये राया लेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छन्ता अंजूए देवीए अहूहि उप्पत्तियाहि वेणइयाहि कम्बियाहि पारिणा-सियाहि बुद्धीहि परिणामेभाणा इच्छन्ति अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तए, नो संचाएंति उवसा-मित्तए । तए णं ते बहुवे वेजजा य ६ जाहे नो संचाएंति अंजूए देवीए जोणिसूलं उवसामित्तए ताहे संता, तंता परितंता जामेव विसि पारब्बूया तामेव विसि पडिगया ।

तए णं सा अंजू देवी ताए वेयणाए अभिभूवा समाणी सुकका भुक्खा निम्मंसा कहुइं कलुआइं विस्सराइं विलबइ ।

एवं खलु गोपया ! अंजू देवी पुरा पोराणाणं जाव विहरइ ।

११—तदनन्तर (राजा की आज्ञा से अनुचरों के द्वारा की गयी) इस प्रकार की उद्घोषणा को सुनकर नगर के बहुत से अनुभवी वैद्य, वैद्यपुत्र आदि चिकित्सक विजयमित्र राजा के यहीं आते हैं। यथनी श्रोत्पत्तिकी, वैनियिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी बुद्धियों के द्वारा परिणाम को प्राप्त कर अर्थात् निदान आदि द्वारा निर्णय करते हुए विविध प्रयोगों के द्वारा देवी अंजुश्री के योनिशूल को उपशान्त करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु उनके उपयोगों से अञ्जुश्री का योनिशूल शांत नहीं हो पाया। जब वे अनुभवी वैद्य आदि अंजुश्री के योनिशूल को शमन करने में विफल हो गये तब खिंच, आन्त एवं हृतोत्साह होकर जिधर से आये थे उघर ही चले गये।

तत्पश्चात् देवी अंजुश्री उस योनिशूलजन्य वेदना से अभिभूत (पीड़ित) हुई सूखने लगी, भूखी रहने लगी और मांस रहित होकर कष्ट-हेतुक, करुणोत्पादक और दीनतापूर्ण शब्दों में विलाप करती हुई समय-यापन करने लगी।

भगवान् कहते हैं—हे गीतम ! इस प्रकार रानी अञ्जूश्री अपने पूर्वोपाजित पाप कर्मों के फल का उपभोग करती हुई जीवन व्यतीत कर रही है ।

भविष्यत् बृत्तान्तः

१०—“अंजू एं भंते ! देवी इधो कालमासे काले किञ्चचा कहि गच्छहिइ ? कहि उवबज्जिहिइ ।

‘गोयमा ! अंजू एं देवी नउई बासाई अरभाउर्य परज्जसा कालमासे काले किञ्चचा हनीते रथणस्पभाए पुक्षवीए नेरइएसु नेरइयत्ताए उवबज्जिहिइ । एवं संसारो जहा पढ़मे तहा नेयडवं जाव बणस्पस्त्तै । सा एं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता सव्वओभद्वे नयरे मधूरत्ताए परचायाहिइ । से एं तत्थ साजणिएहि बहिए समाणे तत्येव सव्वओभद्वे नयरे सेद्विकुलसि पुत्तत्ताए परचायाहिइ । से एं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहालवाण थेराणे अंतिए केवलं बोहि चुज्जिहिइ । पच्चज्जा । सोहम्मे ।

“से एं ताओ देवसोभाओ आउक्खएणं कहि गच्छहिइ ? कहि उवबज्जिहिइ ?

गोयमा ! महाविदेहे जहा पढ़मे जाव सिज्जिहिइ, जाव अंतं काहिइ ।

एवं खलु जम्बू ! समणेणं जाव संपत्तेण दुहविवागाणं वसमस्स अज्जयणस्स अयम्मटु पन्नते । सेवं भंते । सेवं भंते ! स्ति ब्रेमि ।

१०—गीतम स्वामी ने प्रश्न किया—श्रहो भगवन् ! अञ्जू देवी मृत्यु का समय आने पर काल करके कहाँ जायेगी ? कहाँ उत्पन्न होगी ?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गीतम ! अञ्जू देवी १० वर्ष की परम शायु को भोगकर काल मास में काल करके इस रत्नप्रभानामक पृथ्वी के नारकों में नारकी रूप से उत्पन्न होगी । उसका जेष संसार-परिभ्रमण प्रथम अध्ययन की तरह जानता चाहिये । यावत् वनस्पति-गत निम्बादि कटुवृक्षों तथा कटु दुष्प्र वाले अर्क आदि पौधों में लाखों बार उत्पन्न होगी । वहाँ की भव-स्थिति को पूर्ण कर इसी सर्वतोभद्र नगर में मधूर के रूप में जन्म लेगी । वहाँ वह मोर व्याघ्रों के ढारा भारा जाने पर सर्वतोभद्र नगर के ही एक श्रेष्ठिकुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होगा । वहाँ बालभाव को त्याग कर, युवावस्था को प्राप्त कर, विज्ञान की परिपक्व श्रद्धस्था को प्राप्त करता हुआ वह तथारूप स्यविरों से बोधिलाभ-सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा । तदनन्तर प्रव्रज्या—दीक्षा प्रहण कर मृत्यु के बाद सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होगा ।

गीतम—भगवन् ! देवलोक की शायु तथा स्थिति पूर्ण हो जाने के बाद वह कहाँ जायेगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गीतम ! महाविदेह क्षेत्र में जाएगा । वहाँ उत्तम कुल में जन्म लेगा । जैसा कि प्रथम अध्ययन में वर्णित है यावत् सिद्ध चुद्ध सब दुःखों का अन्त करेगा ।

हे जम्बू ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने दुःखविपाक्नामक दशम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादन किया है ।

जम्बू—भगवन् ! आपका यह कथन सत्य, परम सत्य, परम-परम सत्य है ।

॥ दशम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

॥ दुःखविपाक्नीय प्रथम अुत्सक्त्य समाप्त ॥

द्वितीय श्रुतरूपाङ्क

सुखविपाक

सार : संक्षेप

यद्यपि कार्मणजानि के पुद्गल, जीव के साथ बढ़ होने से पूर्व समान स्वभाव (प्रकृति) वाले होते हैं किन्तु जब उनका जीव के साथ बन्ध होता है तो उनमें जीव के योग के निमित्त से भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। वही स्वभाव जीनागम में 'कर्मप्रकृति' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी प्रकृतियाँ मूल में आठ हैं और फिर उनके अनेकानेक अवान्तर भेद-भेद हैं।

विपाक की दृष्टि से कर्मप्रकृतियाँ दो भागों में विभक्त की गई हैं—अशुभ और शुभ। ज्ञानावरणोम आदि चार 'धातिकमों' को सभी अवान्तर प्रकृतियाँ अशुभ हैं। अधातिकमों की प्रकृतियाँ दोनों भागों में विभक्त हैं—कुछ अशुभ और कुछ शुभ। अशुभ प्रकृतियाँ पापप्रकृतियाँ कहलाती हैं, जिनका फल-विपाक जीव के लिये अनिष्ट, अकान्त अप्रिय एवं दुःखरूप होना है। शुभ कर्म-प्रकृतियों का फल इससे विपरीत—इष्ट, कान्त, प्रिय और सांसारिक सुख को उत्पन्न करने वाला होता है। दोनों प्रकार के फल-विपाक को सरल, सरस और सुगम रूप से समझने के लिये विषय-सूच की रथना मुद्द है।

यद्यपि यह सत्य है कि पाप और पुण्य—दोनों प्रकार की कर्मप्रकृतियों का सर्वथा काय होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। तथापि दोनों प्रकार की प्रकृतियों में कितना और कैसा अन्तर है, यह तथ्य विपाकसूच में वर्णित कथानकों के माध्यम से समझा जा सकता है।

दुःखविपाक के कथा-नायक मृगापुत्र आदि भी अन्त में मुक्ति प्राप्त करेंगे और सुखविपाक में उल्लिखित सुबाहु कुमार आदि को भी मुक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकार के कथानायकों की चरम स्थिति एक-सी होने वाली है। तथापि उससे पूर्व संसार-परिभ्रमण का जो चिवण किया गया है, वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। पापाचारी मृगापुत्र आदि को दिल दहलाने वाली, घोरतर दुःखमय दुर्गतियों में से दीर्घ-दीर्घतर काल तक गुजरना होगा। अनेकानेक वार तरकाँ में, एकेन्द्रियों में तथा दूसरी अत्यन्त विषम एवं व्रासजनक योनियों में दुस्सह वेदनाएँ भुगतनी होंगी। तब कहीं जाकर उन्हें मानव-मव पाकर सिद्धि की प्राप्ति होगी।

सुखविपाक के कथानायक सुबाहुकुमार आदि को भी दीर्घकाल तक संसार में रहना है। किन्तु उनके दीर्घकाल का अधिकांश भाग स्वर्गीय सुखों के उपभोग में अथवा सुखमय मानवभव में ही व्यतीत होने वाला है।

पुण्यकर्म के फल से होने वाले सुखरूप विपाक और पापाचार के फलस्वरूप होने वाले दुःखमय विपाक की तुलना करके देखने पर ज्ञात होगा कि पाप और पुण्य दोनों बन्धनात्मक होने पर भी दोनों के फल में अन्धकार और प्रकाश जैसा अन्तर है।

यह सत्य है कि मुमुक्षु साधक एकान्त संबर और निंजरा के कारणभूत वीतराग भाव में रमण करना ही उपादेय मानता है, किन्तु इस प्रकार के विशुद्ध वीतरागभाव में दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर रमण करना बड़े-बड़े उच्चकोटि के साधकों के लिए भी संभव नहीं है। अतएव पापबन्ध से बचने के लिए पुण्य-प्रवृत्ति करने के सिवाय दूसरा कोई चारा नहीं है। भले ही यह आदर्श स्थिति न हो मगर आदर्श स्थिति प्राप्त करने के लिए अनिवार्य स्थिति अवश्य है।

विपाकमूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ऐसे ही पुण्यशाली पुरुषों का वर्णन किया गया है। इसमें भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की तरह दश अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में मुदाहुकुमार का वर्णन किया गया है। परम पुण्य के उदय से सुबाहु को राज-परिवार में जन्म लेने के साथ ही श्रमण भगवान् महावीर के समागम का भी सौभाग्य प्राप्त होता है। उसने सुन्दर, मनोहर सीम्य और प्रिय बाह्य आकृति प्राप्त की। वह इतना प्रियदर्शन है कि गीतम स्वामी जैसे विरक्त महापुरुष का भी हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। वे भगवान् से उसकी मनोहरता और सौभाग्य का कारण पूछते हैं। उसके पूर्वभव के विषय में पृच्छा करते हैं।

भगवान् ने गीतम स्वामी के प्रश्न का जो उत्तर दिया, उसका सारांश यह है कि सुबाहु पूर्वभव में सुमुख गाथापति था। एक बार मासखमण की निरन्तर तपस्या करने वाले सुदृश्य अनगार पारणा के लिए उसके गृह में प्रविष्ट हुए। दृष्टि पड़ते ही सुमुख को हृष्ट और सन्तोष हुआ। उत्तरासंग करके उनके सामने गया, प्रदक्षिणा करके भुजिराज को वन्दनन्नमस्कार किया। निर्दोष आहार भक्तिभाव पूर्वक वहराया। उच्च और उदार भाव से प्रदत्त आहारदान के परिणामस्वरूप उसका संसार परीत हो गया। उसने मनुष्यायु का बन्ध किया। यहीं नहीं, देवों द्वारा पांच दिव्य प्रकट करके अपना आन्तरिक आनन्दातिरेक प्रकाशित किया गया। मानवगण ने सुमुख को 'धन्य धन्य' कहा। सुबाहु-कुमार ने भगवान् महावीर के निकट गृहस्थघरमें अंगीकार किया, फिर अनगार धर्म को प्रदत्त्या अंगीकार की। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर ल्याग कर सीधर्म देवलोक में जन्म लिया। तत्पश्चात् बीच-बीच में मनुष्य होकर सभी विषमसंख्यक देव-लोकों के सुखों का उपभोग करने के बाद सर्वथिंसिद्ध विमान में, जहाँ भासारिक सुखों की चरम सीमा होती है, जन्म लेकर तेतीस सातरोपम जितने दीर्घतर काल पर्यन्त रहकर महाविदेह में उत्तम होकर शाश्वत अनन्त आनन्दमय सिद्धि प्राप्त करेगा।

कहाँ मृगापुत्र आदि का दुःखों से परिपूर्ण लम्बा भवभ्रमण और कहाँ मुदाहुकुमार आदि का सुखमय संसार ! दोनों की तुलना करने से पाप और पुण्य का अन्तर सरलता से समझा जा सकता है।

प्रथम अध्ययन में मुदाहुकुमार के वर्णन के सदृश ही अन्य अध्ययनों में जेष नौ पुण्यशालियों का वर्णन है। नाम, आदि को मिलता होने पर भी मुख्य तत्त्व समान ही है।

विस्तार के लिए मूल आगम देखना चाहिए।

द्वितीय श्रुतरूपकब्धि : सुखविपाक

प्रथम अध्यायालं

प्रस्तावना

१—तेण कालेण तेण समएण रायगिहे नयरे, गुणसिलए खेदए, सुहम्मे सभोसढे । जम्बू जाव पञ्जाबासमाणे एवं वयासी—जह णं भंते । समणेण भगवया महावीरेण जाव संपत्तेण सुहविवागाणं अयम्हटु वस्ते, सुहविवागाणं भन्ते ! समणेण जाव सम्पत्तेण के अटु वस्ते ?

तए णं से सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी—‘एवं खलु जम्बू ! समणेण जाव सम्पत्तेण सुहविवागाणं दस अज्ञयणा वस्ता, तं जहा—

सुबाहु भद्रनंदी य, सुजाए य सुवासवे ।
तहेव जिनदासे य अणवई य भहबले ॥
भद्रनंदी भहचंदे वरदत्ते तहेव य ॥

१—उस काल तथा उस समय राजगृह नगर के अन्तर्गत गुणशीलनामक चैत्य—उद्यान में अनगार श्रीसुधर्मी स्वामी पधारे । उनकी पर्युपासना—सेवा में संलग्न रहे हुए श्री जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया—प्रभो ! यावत् मोक्ष रूप परम स्थिति को संप्राप्त अमण भगवान् महावीर ने यदि दुःख-विपाक का यह (पूर्वोक्त) अर्थ प्रतिपादित किया, तो यावत् मुक्ति को संप्राप्त अमण भगवान् महावीर ने सुख-विपाक का क्या अर्थ प्रतिपादित किया है ?

(विमयशील अन्तेवासी) आर्य जम्बू की इस जिजासा के उत्तर में अनगार श्रीसुधर्मी स्वामी जम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार बोले—हे जम्बू ! यावत् निर्बाणप्राप्त अमण भगवान् महावीर में सुख-विपाक के दस अध्ययन प्रतिपादित किये हैं । वे इस प्रकार हैं—

(१) सुबाहु, (२) भद्रनंदी, (३) सुजात, (४) सुवासव, (५) जिनदास, (६) धनपति (७) महाबल, (८) भद्रनंदी, (९) महचंद्र और (१०) वरदत्त ।

२—‘जह णं भंते ! समणेण जाव संपत्तेण सुहविवागाणं दस अज्ञयणा वस्ता, पद्मस्सणं भंते ! अज्ञयणस्स सुहविवागाणं जाव संपत्तेण के अटु वस्ते ? तए णं से सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी—

२- -हे भदन्त ! यावत् मोक्षसम्प्राप्त अमण भगवान् महावीर ने यदि सुख-विपाक के सुबाहु-कुमार आदि दश अध्ययन प्रतिपादित किये हैं तो हे भगवन् ! मोक्ष को उपलब्ध अमण भगवान् महावीर स्वामी ने सुख-विपाक के प्रथम अध्ययन का क्या अर्थ कथन किया है ?

इस प्रश्न के उत्तर में श्रीसुधर्मी स्वामी ने श्रीजम्बू अनगार के प्रति इस प्रकार कहा—

३—एवं शुभु जम्बू ! तेण कालेण तेण सबएण हृत्यसीसे नामं नयरे होत्या—रिद्धि-
त्यमिथसिद्धे । तस्य एं हृत्यसीसस्स नयरस्स बहिया उत्तर-पुरत्यमे विसीमाए एत्य एं पुष्ट-
करंडाए नामं उज्जाणे होत्या, सब्बोउय-पुष्ट-फल-समिद्धे । तस्य एं कथषणमालपियस्स जवक्षस्स
जवक्षाययणे होत्या, दिव्वे० ।

तस्य एं हृत्यसीसे नयरे अदीणसत्तू नामं राया होत्या, महया हिमदंत-महंत-मलय-मंदर-
महिवसरे । तस्स एं अदीणसत्तूस्स रन्नो धारिणीयामोभाव वेचोसहस्सं ओरोहे याचि होत्या ।

४—इस प्रकार निश्चय ही है जम्बू ! उस काल तथा उस समय में हृतशीर्ष नाम का एक
बड़ा ऋद्ध-भवनादि के आधिक्य से युक्त, स्तिमित-स्वचक-परचक के भय से मुक्त, समृद्ध-श्रन-घात्यादि
से परिपूर्ण नगर था । उस नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में अर्थात् ईशान कोण में सब ऋद्धुओं में
उत्पन्न होने वाले फल-पुष्टादि से युक्त पुष्टकरण्डक नाम का एक (रमणीय) उद्यान था । उस उद्यान
में छुटवनमाल-प्रिय नामक यक्ष का यक्षायतन था । जो दिव्य-प्रधान एवं सुन्दर था ।

वहाँ अदीनशत्रु नामक राजा राज्य करता था, जो कि राजाओं में हिमालय आदि पर्वतों के
समान महान् था । अदीनशत्रु नरेश के अन्तःपुर में धारिणीप्रमुख अर्थात् धारिणी जिनमें प्रधान है,
ऐसी एक हजार रानियां थीं ।

सुबाहु का जन्म : गृहस्थजीवन

५—तए एं सा धारिणी देवी अस्या कथाइ संसि तारिसर्गंसि वासधरंसि (वासभवर्णंसि)
सीहं सुमिने जहा मेहस्स जम्बणं तह भाणियब्बं, ^१ जाव सुबाहुकुमारे अलंभोगसमत्ये याचि होत्या ।
तए एं सुबाहुकुमारं अम्भापियरो धावत्तरिकलापंडियं जाव ^२ अलंभोगसमत्यं वा वि जाणति, जाणिता
अम्भापियरो पंच पासायवडिसगसयाइ कारवेति अबभुग्यमूलियपहसियाइं । एगं ए एं महं भवण
कारेति एवं जहा महाबलस्स रन्नो णवरं पुष्टचूला पामोक्खाणं पंचण्हं रायवरकरनसयाणं एगविवरेण
पांजि गिष्ठावेति । तहेव पंचसद्भो वाओ, जाव उपिप पासायवरगए फुट्टमाणेहि जाव विहरइ ।

६—तदनन्तर एक समय राजकुलउचित वासभवन में शयन करती हुयी धारिणी देवी ने
स्वप्न में सिह को देखा । जैसे जाताधर्मकथाङ्ग सूत्र में वर्णित मेघकुमार का जन्म कहा गया है,
उसी प्रकार पुत्र सुबाहु के जन्म आदि का वर्णन भी जान लेना चाहिये । यावत् सुबाहुकुमार सांसारिक
कामभोगों का उपभोग करने में समर्थ हो गया । तब सुबाहुकुमार के माता-पिता ने उसे वहत्तर
कलाओं में कुशल तथा भोग भोगने में समर्थ हुआ जाना, और जानकर उसके माता-पिता ने जिस प्रकार
भूषणों में मुकुट सर्वोत्तम होता है, उसी प्रकार महलों में उत्तम पांच सौ महलों का निर्माण करवाया
जो अत्यन्त ऊचे, भव्य एवं सुन्दर थे । उन प्रासादों के मध्य में एक विशाल भवन तैयार करवाया,
इत्यादि सारा वर्णन महाबल राजा ही की तरह जान लेना चाहिए । महाबल ही की तरह सम्पन्न
हुए सुबाहुकुमार के विवाह में विशेषता यह है कि—पुष्टचूला प्रमुख पांच सौ थोष्ठ राजकन्याओं के
साथ एक ही दिन में उसका विवाह कर दिया गया । इसी तरह पांच सौ का प्रीतिदान—दहेज उसे

१. ज्ञाताधर्मकथांग, अ० १, २. ओ. सूत्र-१४७

दिया गया। तदनन्तर सुबाहुकुमार ऊपर सुन्दर प्रामाणी में स्थित, जिसमें मृदंग बजाये जा रहे हैं, ऐसे नाट्यादि में उदगोयमान होता हुआ मानवोचित मनोज विषयभोगों का ध्याहचि उपभोग करने लगा।

सुबाहु का धर्म-शब्दण

५—तेषं कालेण तेण समर्णं, समणं भगवं महावीरं समरोत्सङ्कं। परिसा निगया। अवीणसत् जहा कूणिओ निगओ सुबाहु वि जहा जमाली तहा रहेण निगए,^१ जाव घम्मो कहियो। राया परिसा गया।

६—उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हस्तिक्षीर्ण नगर में पद्धारे। परिषद् (जनता) धर्मदेशना सुनने के लिए नगर से निकली, जैसे महाराजा कूणिक निकला था, अदीनशत्रु राजा भी उभी तरह भगवद्ददशन तथा देशनाश्रवण करने के लिये निकला। जमालिकुमार की तरह सुबाहुकुमार ने भी भगवान् के दर्शनार्थ रथ से प्रस्थान किया। यावत् भगवान् ने धर्म का प्रतिपादन किया, परिषद् और राजा धर्मदेशना सुनकर बापम लौट गये।

गृहस्थधर्म का स्वीकार

६—तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म लुडुडे उद्दाए उद्देइ, उद्दित्ता समणं भगवं महावीरं वंबह, वंदित्ता नमसइ, नमसित्ता एवं व्यासी—‘सद्हामि णं भन्ते।’ निगाणं पावयणं। जहा णं वेवाणुप्पियणं अंतिए बहुदे राईसर आव प्पमिर्दओ मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पञ्चवहया, नो अहं तहा संचाएमि मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पञ्चवहत्तए अहं णं वेवाणुप्पियणं अंतिए पंचाणुञ्चवहयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहुं गिहिधम्मं पडिवज्जत्तमि।’

“अहासुहं देवाणुप्पिया ! भा पडिवंधं करेह ।”

तए णं से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंसिए पंचाणुञ्चवहयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहुं गिहिधम्मं पडिवज्जत्ता तमेव रहं दुरुहइ, दुरुहित्ता जामेव विसं पाडुभूए तामेव दिसं पडिगए।

६—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट धर्मकथा ध्वण तथा मनन करके अत्यन्त प्रसन्न हुआ सुबाहुकुमार उठकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को बन्दन, नमस्कार करने के अनन्तर कहने लगा—‘भगवन् ! मैं तिग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ यावत् जिस तरह आपके श्रोतरणों में अनेकों राजा, ईश्वर यावत् सार्थवाह आदि उपस्थित होकर, मुंडित होकर तथा गृहस्थावस्था से निकलकर अनगारधर्म में दीक्षित हुए हैं, अष्टति राजा, ईश्वर आदि ने पंच महावतों को स्वीकार किया है, वंसे मैं मुंडित होकर घर त्यागकर अनगार अवस्था को धारण करने में समर्थ नहीं हूँ। मैं पांच अणुवतों तथा सात शिक्षाद्वतों का जिसमें विद्यान है, ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अंगीकार करना चाहता हूँ।

१. देखें भगवतीसुप्र, श. ९

उत्तर में भगवान् ने कहा—‘जैसे तुमको सुख हो बैसा करो, किन्तु इसमें देर मत करो।’

ऐसा कहने पर सुबाहुकुमार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष पांच अणुब्रतों और सात शिक्षाब्रतों वाले द्वारा ही प्रकार के गृहस्थधर्म को स्वीकार किया। अर्थात् उक्त द्वादशविष्ठ ब्रतों के यथाविष्ठि पालन करने का नियम ग्रहण किया। तदनन्तर उसी रथ पर सुबाहुकुमार सवार हुआ और सवार होकर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापस चला गया।

गौतम की सुबाहुविषयक जिज्ञासा

७—तेण कालेण लेणं समएणं समणस्त्वा भगवान् महावीरस्त जेट्टे अंतेवासी इन्द्रमूई जाव एवं वयासी—“अहो णं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्टे, इट्टुरुवे, कंते, कंतरुवे, पिये, पियरुवे, मणुज्जे, मनुन्नरुवे, मणामे, मणामरुवे, सोमे, सोमरुवे, सुभगे, सुभगरुवे, पियंवसणे सुरुवे । बहुजणस्त्वा वियणं भंते ! सुबाहुकुमारे इट्टे जाव सुरुवे । साहुजणस्त्वा वियणं ! सुबाहुकुमारे इट्टे इट्टुरुवे जाव सुरुवे । सुबाहुणा भंते ! कुमारेण इमा एयारुवा उराला माणुस्सरिद्धि किन्ना लद्धा ? किन्ना पत्ता ? किन्ना अभिसमन्नागया ? के वा एस आसी पुष्टवभवे ?” जाव (किनामए वा कि वा गोलेण ? कयरंसि गामंसि वा संनिवेसंसि वा ? कि वा दच्चा कि वा मोच्चा कि वा समायरिता कस्स वा तहारुवस्स समणस्त्वा वा माहणस्त्वा वा अंतिए एयाविष्ठि आपरियं वयणं सोच्चा निसम्म सुबाहुणा कुमारेण इमा एयारुवा माणुसिङ्ग्ही लद्धा पत्ता) अभिसमन्नागया ?

७—उस काल तथा उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम अन्यार यावत् इस प्रकार कहने लगे—‘अहो भगवन् ! सुबाहुकुमार बालक (बहुजन दृष्टि) बड़ा हो इष्ट, इष्टरूप, कान्त, कान्तरूप, प्रिय, प्रियरूप, मनोज्ज, मनोज्जरूप, मनोम, मनोपरूप, सोम्य, सुभग, प्रियदर्शन और सुरूप—सुन्दर रूप वाला है। अहो भगवन् ! यह सुबाहुकुमार साधुजनों को भी इष्ट, इष्ट रूप यावत् सुरूप लगता है।

‘भदन्त ! सुबाहुकुमार ने यह श्रपूर्व मानवीय समृद्धि कैसे उपलब्ध की ? कैसे प्राप्त की ? और कैसे उसके सम्मुख उपस्थित हुई ? सुबाहुकुमार पूर्वभव में कीन था ? यावत् इसका नाम और गोप्त व्याप्त था ? किस आम अथवा वस्ती में उत्पन्न हुआ था ? क्या दान देकर, क्या उपभोग कर और कैसे आचार का पालन करके और किस श्रमण या माहन के एक भी आयंवचन को व्यवण कर सुबाहुकुमार ने ऐसी यह अद्वितीय एवं प्राप्ति की है, कैसे यह समृद्धि इसके सम्मुख उपस्थित हुई है ?

विवेचन—सुबाहुकुमार की व्यावहारिक जीवन जीने की कला इतनी अद्भुत और आकर्षक थी कि वह आम जनसमुदाय का प्रीति-भाजन बन गया। उससे सभी प्रसन्न थे। प्राणों के अन्तराल से उसे चाहते थे। जन-मन के हृदय में देवना की तरह उसने स्थान बना लिया था। इतना ही नहीं, वह साधुजनों का भी स्नेहपात्र बन गया था। आध्यात्मिक माध्यम की दिशा में प्रतिपल जागृत व प्रगति-शील रहने के कारण सिःस्वार्थ, स्वभावतः अनासक्त एवं निष्काम वृत्ति वाले साधुपुरुषों के हृदय में भी सुबाहु का प्रेम-पूर्ण स्थान बन गया। यहाँ सुबाहुकुमार के लिये जो अनेक विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे सामान्य दृष्टि से समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु उन सब के अर्थ में थोड़ा अन्तर है, जो इस प्रकार है—

इष्ट—जो चाहने योग्य हो, जिसकी इच्छा की जाय, वह इष्ट होता है ।

हष्टरूप—किसी की चाह उसके विशेष कृत्य को उपलक्षित करके भी सम्मव है, अतः इष्टरूप अर्थात् उसकी आकृति ही ऐसी थी जिससे इष्ट प्रतीत होता था ।

कान्त—इष्टरूपता भी अन्यान्य कारणों से संभवित है, अतः स्वरूपतः कान्त—रमणीय था ।

कान्तरूप—सुन्दर स्वभाव वाला । (सुबाहु की इष्टता में उसका सुन्दर स्वभाव कारण था ।)

प्रिय—सुन्दर स्वभाव होने पर भी कर्म के प्रभाव से प्रेम उत्पन्न करने में असमर्थ रह सकता है, अतः प्रेम का उत्पादक जो हो वह प्रिय ।

प्रियरूप—जिसका रूप प्रिय—प्रीतिजनक हो ।

मनोज—मनोजरूप—आनन्दरिक वृत्ति से जिसकी शोभनता अनुभव में आवे वह मनोज, उसके रूप वाला मनोजरूप कहलाता है ।

मनोम, मनोमरूप—किसी की मनोजता तात्कालिक भी हो सकती है, अतः मनोम विशेषण से जिसकी सुन्दरता का स्मरण बार-बार किया जाय ।

सोम—सद्गतारहित व्यग्रित लैम—सोल्य श्वसाद वाला होता है ।

सुमग—वल्लभता वाला ।

सुरूप—सुन्दर आकार तथा स्वभाव वाले को सुरूप कहते हैं ।

प्रियदर्शन—प्रेम का जनक आकार और उस आकार वाला ।

भगवान् हुआ समाधान

—एवं खलु गोप्यमा ! तेण कालेण तेण समएण इतेव अंबुदोषे शोषे भारहे वासे हृत्यिणाउरे नामं नयरे हृत्या, रिद्धृत्यमियसमिद्दे । तत्य णं हृत्यिणाउरे नयरे सुमुहे नामं गाहावई परिवसइ, अड्डे ।

—हे गोतम ! उस काल तथा उस समय में इसी जम्बूदीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारत-वर्ष में हस्तिनापुर नाम का एक अद्ध, स्तमित एवं समृद्ध नगर था । वहां सुमुख नाम का धनाद्य गाथापति रहता था ।

९—तेण कालेण तेण समएण धम्भधोसा नामं येरा जाइसंपन्ना जाव पंचाहि समणसएहि सद्गु संपरिवृडा पुष्पवाणुपुष्पिच चरमाणा गामाणुमामं द्वाहज्जमाणा जेणेव हृत्यिणाउरे नयरे, जेणेव सहसंबदणे उज्जाणे तेणेव उदागच्छन्ति । उदागच्छन्ता अहृपडिलवं उभाहुं उग्गिण्हत्ता संजमेणं तवसा अपाणं भावेमाणा विहरति ।

१—उस काल तथा उस समय उत्तम जाति और कुल से सम्पन्न अर्थात् श्रेष्ठ मातृपक्ष एवं पितृपक्ष वाले यावत् पांच सौ श्रमणों से परिवृत हुए धम्भधोष नामक स्थविर (जाति, श्रुत व पर्याय से बृद्ध) क्रमपूर्वक चलते हुए तथा ग्रामानुग्राम विचरते हुए हस्तिनापुर नगर के सहस्राभ्वननामक

उद्धान में पद्धारे । पद्धार कर वहाँ यथाप्रतिष्ठा—अनगार द्वर्मं के अनुकूल अवग्रह (आश्रयस्थान) को ग्रहण करके संयम और तप से प्रात्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे ।

विवेचन—स्थविर शब्द का सामान्य अर्थ बृद्ध या बड़ा साधु होता है । स्थानांग में तीन प्रकार के स्थविर बताये हैं—१. जातिस्थविर २. श्रुतस्थविर ३. पर्यायस्थविर । साठ वर्ष की अवस्था वाला मुनि जातिस्थविर कहलाता है । स्थानांग व समवायांग का पाठी श्रुतस्थविर गिना जाता है । कम से कम ब्रीस वर्ष की दीक्षापर्वाय वाला पर्यायस्थविर माना जाता है । (स्थानांग सूत्र स्थान ३, उ. ३) जातामूत्र आदि में गणधरों को भी स्थविर पद से सम्बोधित किया है ।

१०—तेण कालेण तेण समएण धर्मघोषाणं थेराणं अतेवासी सुदत्ते नामं अणगारे उरामे जाव तेजलेसे मासंमासेण सममाणे विहृद । तए णं से सुदत्ते अणगारे मासक्षमणपारणगस्ति पद्माए पोरिसोए सज्जाय करेह, यहा गोयमस्वामी तहेव, धर्मघोसे थेरे आपुच्छइ, जाव अड्माणे सुमुहुस्स गाहावइस्स गेहे अणुप्पविट्ठे ।

१०—उस काल और उम समय में धर्मघोष स्थविर के अन्तेवासी—शिष्य उदार-प्रधान यावत् तेजोलेश्या को संक्षिप्त किये हुए (अनेक योजन प्रमाण वाले क्षेत्र में स्थित वस्तुओं को भस्म कर देने वाली तेजोलेश्या—घोर तप से प्राप्त होने वाली लज्जा-विशेष, को अपने में संक्षिप्त—गुप्त किये हुए) सुदत्त नाम के अनगार एक मास का क्षमण-तप करते हुए अर्थात् एक-एक मास के उपवास के बाद पारणा करते हुए विचरण कर रहे थे । एक बार सुदत्त अनगार मास-क्षमण पारणे के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते हैं, दूसरे प्रहर में ध्यान करते हैं और तीसरे प्रहर में श्री गौतम स्वामी जैसे धमण भगवान् महावीर से भिक्षार्थी गमन के लिये पूछते हैं, वैसे ही वे धर्मघोष स्थविर से पूछते हैं, यावत् भिक्षा के लिये धमण करते हुए सुभुख गाधापति के घर में प्रवेश करते हैं ।

विवेचन—हमने यहाँ 'धर्मघोसे थेरे आपुच्छइ' ऐसा ही पाठ रखा है परन्तु इसके स्थान पर 'सुहम्मे थेरे आपुच्छइ' ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है । प्रकृत में सुधर्मा स्थविर का कोई प्रसंग न होने से 'धर्मघोसे थेरे आपुच्छइ' पाठ प्रसंग के अनुकूल व युक्तिसङ्कृत लगता है । अन्यथा 'सुहम्मे थेरे' पाठ से श्री जप्तु स्वामी के युग श्री-सुधर्मा स्वामी के प्रहण की भी भूल ही जाना सम्भव है । फिर भी 'सुहम्मे थेरे' इस पाठ की अवहेलना नहीं की जा सकती है, कारण वह अनेक प्रतियों में उपलब्ध है, अतः "स्थितस्य गतिश्चित्तनीया" इस न्याय को अभिमुख रखकर सूत्रगत पाठ का यदि विचार किया जाय तो सम्भव है 'सुधर्मा' शब्द से सूत्रकार को भी धर्मघोष स्थविर ही इष्ट हो । धर्मघोष मुनि का ही दूसरा नाम सुधर्मा होना चाहिए । इसी अभिप्राय से शायद सूत्रकार ने धर्मघोष के बदले सुधम्मे—सुधर्मा गद का उल्लेख किया है । इस पाठ के सम्बन्ध में वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि 'सुहम्मे थेरे' 'त्ति धर्मघोषस्थविरभित्यर्थः धर्मशब्दसम्यात् शब्दद्वयस्याप्येकार्थत्वात्' इस प्रकार करते हैं । तात्पर्य यह है सुधर्मा और धर्मघोष दोनों के नामों में 'धर्म' शब्द समान है । इस समानता को लेकर ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के परिचायक हैं—सुधर्मा शब्द से धर्मघोष और धर्मघोष शब्द से सुधर्मा का प्रहण होता है । तत्त्व सर्वज्ञमन्य है ।

११ तए णं से सुमुहे याहावई सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासइ, पासिता हट्टुट्टेता आसणाद्दो अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेता पायपोद्धाओ पच्चोरुहइ पच्चोरुहित्ता पारयाओ ओमुप्पइ, ओमुहुत्ता एगसाडियं

उत्तरासंग करेह, करिता सुवसं अणगारं सत्तदुपथाइं पश्चुगच्छत्ता तिष्ठुसो आपाहिणं पथाहिणं करेह, करिता वंदह, नमंसह, बंदिता नमंसिता जेणेव भत्तधरे तेणेव उवागच्छह, उवागच्छत्ता सुमहत्थेण विचलेण असणपाणेण पदिलाभिस्तामि सि तुद्धे पदिलाभेमाणे वि तुद्धे पदिलाभिए वि तुद्धे !

११— तदनन्तर वह सुमुख गाथापति सुदत्त अनगार को आते हुए देखता है और देखकर अत्यन्त हृषित और प्रसन्न होकर आसन से उठता है। आसन से उठकर पाद-पीठ—पैर रखने के आसन में सिया हुआ न हो, इस प्रकार का उत्तरासंग (उत्तरीय बस्त्र का शरीर में त्यास) करता है। उत्तरासंग करने के अनन्तर सुदत्त अनगार के सत्कार के लिये सान-आठ कदम सामने जाता है। सामने जाकर तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करता है, बदन करता है, नमस्कार करके जहाँ अपना सामने जाकर तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करता है, बदन करता है, नमस्कार करके जहाँ अपना भक्तगृह—भोजनालय थाथहाँ आता है। आकर अपने हाथ से विषुल अशन पान का—आहार का दान दूँगा अथवा दान का लाभ प्राप्त करूँगा, इस विचार से अत्यन्त प्रसन्नता की प्राप्त होता है। घह देते समय भी प्रसन्न होता है और आहारदान के पश्चात् भी प्रसन्नता का अनुभव करता है।

१२— तए णं तस्य सुमुहस्स शाहावइस्स तेण वच्चसुद्धेण^१ गाहकसुद्धेण वायकसुद्धेण तिविहेण तिकरणसुद्धेण सुवस्ते अणगारे पदिलाभिए समाणे संसारे परितीकए,^२ मणुस्साजए निबद्धे। गेहंसि म से हमाइं पञ्च दिव्याइं^३ पारब्रह्मवाइं, तंजहा—

१. वसुहारा बुद्धा
२. वसद्वयणे कुसुमे निवाडिए
३. चेलुवेवे कए
४. आह्याओ वेवदुन्दुभीओ
५. अंतरा वि य णं आगासे 'अहो दाणं अहो दाणं' घुट्ठे य ।

-
१. दद्यसुद्धेण गाहग-सुद्धेण दायग-गुद्धेण—दद्य गुद्धि, ग्राहकशुद्धि और दाता की शुद्धि इस प्रकार है—देयगुद्धि—सुमुख गाथापति द्वारा निर्दोष आहार देता, दातृ-शुद्धि—दान में पहिये, देते समय और दान देने के पश्चात् सुमुख के चित्त में आनन्द का अनुभव होता, हृषित मन बाला होता। आदाना-ग्राहक पास-क्षमण-तपोधनी सुदत्त मूलि। इस प्रकार देय दाता व आदाना की पवित्रता से दान उसम फर-दायो होता है।
 २. परिसमन्तात् इतः गतः इति परीतः। अपरीतः परीतीकृत इति परीतीकृतः—पदाढ़-मुखीकृत—अस्पीकृत इत्यर्थः। संसार को संक्षिप्त कर देगा।
 ३. दिव्याइं = १. देवता सम्बन्धी वसु-सुवर्ण और उसकी नगातार वृष्टि धारा कहलाती है। देवकृत सुवर्ण-वृष्टि को ही वसुधारा कहते हैं। २. कृष्ण, नील, गील, एवेत और रक्त पांच रंग पुष्पों में पाये जाते हैं। देवों द्वारा वरसाए गये मे पुष्प वैक्रिय-लक्षितजन्म हैं, अतः अचित्त होते हैं। ३. चेनोत्क्षेप—चेल-वस्त्र, उसका उत्क्षेप—फेंकना चेनोत्क्षेप कहा जाता है। ४. देवदुन्दुभिनाद—देव-युस्तुभियों का वजना। ५. आण्वयं उत्पन्न करने वाले दान की 'अहो दान' संज्ञा है। जिस दान के प्रभाव से आकर्षित हो देवता स्वयं ऐसा करते हों उसे अहोदान गब्द से कहना युक्तिमानगत ही है।

हस्तिणाररे सिधाहग जाव पहेसु बहुअणो अन्नमन्नस्स एवं प्राह्वक्षाइ ४—‘धने णं देवाणु-
पिया ! सुमुहे गाहावई जाव गाहावई जाव (एवं कथलक्षे णं सुलद्धे णं सुमुहस्स गाहावइस्स जम्मजी-
वियफ्ले, जस्स णं इभा एयारुदा उराला माणुसिङ्गी लङ्गा पत्ता अभिसम्नागता) तं धने ५
णं सुमुहे गाहावई ।’

१२—तदनन्तर उस सुमुख गाथापति के शुद्ध द्रव्य (निर्दोष आहारदान) से तथा त्रिविद्ध,
त्रिकरण शुद्धि से अर्थात् मन वचन और काय की एवं भाविक उदासता सरलता एवं निर्दोषिता से
सुदृढ़ अनगार के प्रतिलिप्ति होने पर अर्थात् सुदृढ़ अनगार को विशुद्ध भावना हारा शुद्ध
आहार के दान से अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए सुमुख गाथापति ने संसार को (जन्म-मरण की
परम्परा को) बहुत कम कर दिया और मनुष्य आद्युत्य का वन्ध किया । उसके घर में सुवर्णवृष्टि,
पांच बाणों के फूलों की वर्षा, बस्त्रों का उत्क्षेप (फैकता) देवदुन्दुभियों का बजना तथा आकाश में
‘अहोदान’ इस दिव्य उद्धोषणा का होना—ये पांच दिव्य प्रकट हुए ।

हस्तिनाचुर के त्रिपथ यज्ञत् जामान् भाणों में देवो भनुष्य एकत्रित होकर आपस में एक
दूसरे से कहते थे—हे देवानुषियो ! धन्य है सुमुख गाथापति ! सुमुख गाथापति सुनश्चण है, कृतार्थ है,
उसने जन्म और जीवन का सुफल प्राप्त किया है जिसे इस प्रकार की पह मानवीय कृद्धि प्राप्त हुई ।
वास्तव में धन्य है सुमुख गाथापति ।

विवेचन—भावनाशील और सरलचेता दाता को दान देते हुए तीन बार हर्ष होता है—
(१) आज मैं दान दूंगा, आज मुझे सद्भाग्य से दान देने का स्वर्णविसर उपलब्ध हुआ है, यह प्रथम
हर्ष ! फिर दान देने के समय उसके रीये-रीये में आनन्द उभरता है, यह दूसरा हर्ष ! और दान
देने के पश्चात् अन्तरात्मा में संतोष व आनन्द वृद्धिगत होता रहता है, यह तीसरा हर्ष ।

दूसरी तरह देय, दाता व प्रतिप्राहक पात्र, ये तीनों ही शुद्ध हों तो वह दान जन्म-मरण
के बन्धनों को तोड़ने वाला और संसार को परित्त-संक्षिप्त—कम करने वाला होता है ।

१३—तए णं से सुमुहे गाहावई बहौहि वाससयाइ आउर्यं पालेह, पालहत्ता कालमासे काल
किव्या इहेव हस्तिशीर्षक नगर में अदीनशत्रु राजा वी धारिणी देवी की कुक्षि में पुत्र रूप में
उत्पल्ल हुआ (गर्भ में आया) । तत्पश्चात् वह धारिणी देवी किञ्चित् सोई और किञ्चित् जागती
हुई स्वप्न में सिंह को देखती है । धोष वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए । यावत् उन्नत प्राप्तादों में
मानव सम्बन्धी उदार भोगों का यथेष्ट उपभोग करता विचरता है ।

तं एवं छलु, गोयमा ! सुवाहुणा इभा एयारुदा माणुस्सरिङ्गी लङ्गा पत्ता अभिसम्नागया ।

१३—तदनन्तर वह सुमुख गाथापति सेकड़ों वर्षों की आयु का उपभोग कर काल-मास में
काल करके इसी हस्तिशीर्षक नगर में अदीनशत्रु राजा वी धारिणी देवी की कुक्षि में पुत्र रूप में
उत्पल्ल हुआ (गर्भ में आया) । तत्पश्चात् वह धारिणी देवी किञ्चित् सोई और किञ्चित् जागती
हुई स्वप्न में सिंह को देखती है । धोष वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए । यावत् उन्नत प्राप्तादों में
मानव सम्बन्धी उदार भोगों का यथेष्ट उपभोग करता विचरता है ।

भगवान् ने कहा—हे गीतम ! सुवाहुकुमार को उपर्युक्त महादान के प्रभाव से इस तरह
की मानव-समृद्धि उपलब्ध तथा प्राप्त हुई और उसके समक्ष समुपस्थित हुई है ।

१४—“पशुं णं भन्ते । सुबाहुकुमारे देवाणुपिष्ठाणं अंतिए मुँडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वद्वित्ताए ?”

‘हंसा पशु’ ।

तए णं से भगवं गोप्यमे समणं भगवं महाबोरं चंद्रं नमस्तह, वंदित्ता नमस्तित्ता संजमेण तवसा अप्याणं भवित्तवै विहरइ । तए णं से गोत्तमं नगरं नहाउन्ते अन्नया क्याइ हत्यसीसाथो नयरामो पुष्टकरंडाओ उच्जाणाओ क्यवण्मालज-क्षाययणाओ पडिनिक्षमित्ता बहुया जणवय-विहारं विहरइ ।

तए णं से सुबाहुकुमारे समणोवासए जाए अभिगयजीवाजोवे जाव^१ पडिलामे माणे विहरइ ।

१५—गौतम—प्रभो ! सुबाहुकुमार आपश्ची के चरणों में मुण्डित होकर, गृहस्थावास को त्याग कर अनगार धर्म को ग्रहण करने में समर्थ है ?

भगवान्—हाँ गौतम । हे अर्थात् प्रवृजित होने में समर्थ है ।

तदनन्तर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महाबीर स्वामी को बन्दना व नमस्कार किया । बन्दना नमस्कार करके संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विहरण करने लगे ।

तदनन्तर श्रमण भगवान् महाबीर स्वामी ने किसी अन्य समय हस्तिशीर्ष नगर के पुष्ट-करण्डक उच्चान्तगत कृतवन्माल नामक यक्षायतन से विहार किया और विहार करके अन्य देशों में विचरने लगे ।

इधर सुबाहुकुमार श्रमणोपासक-देशविरत शावक हो गया । जीव अजीव आदि तत्वों का ममंज्ञ यादवत् आहारादि के दान-जन्य लाभ को प्राप्त करता हुआ समय व्यतीत करने लगा ।

विवेचन—भगवान् महाबीर की धर्मदेशना से प्रभावित व प्रतिक्रीघित हुए सुबाहुकुमार ने भगवान् से कहा था—प्रभो । आपके पाम श्रमेक राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, साधु धर्म को स्वीकार करते हैं परन्तु मैं उस सर्वविरति रूप सामुद्रमं को स्वीकार करने में समर्थ नहीं हूँ । अतः आप मुझे देशविरति धर्म—अणुन्नत पालन का ही नियम करावें ।

सुबाहुकुमार के उक्त कथन को स्मृति में रखते हुए गौतम स्वामी ने ‘पशुं णं भन्ते ! सुबाहु-कुमारे देवाणुपिष्ठाणं अंतिए मुँडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वद्वित्ताए ?’ इस प्रश्न में ‘पशुं’ शब्द का इसी अभिप्राय से प्रयोग किया लगता है ।

१५—तए णं से सुबाहुकुमारे अन्नया क्याइ चाउदसहुमुहिदुपुण्मासिणीसु जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छह, उवागच्छत्ता पोसहसालं पयज्जह, पमज्जित्ता उच्चारपासवणमूर्मि पडिलेहेइ पडिलेहित्ता दब्मसंधारगं संधरइ संधरित्ता दब्मसंधारं दुरुहइ, दुरुहित्ता अद्वमभत्तं पगिणहइ, पगिणहित्ता पोसहसालाए पोसहिए अद्वमभत्तिए पोसहें पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे विहरइ ।

१५—तत्पश्चात् किसी समय वह सुबाहुकुमार चतुर्दशी, अष्टमी, उद्दिष्ट-अमावस्या और

पूर्णमासी, इन तिथियों में जहाँ पौषधशाला थी। पौषधशत्रत करने का स्थान-विशेष था—वहाँ आता है। आकर पौषधशाला का प्रमार्जन करता है, प्रमार्जन कर उच्चारप्रत्यक्षवणभूमि—मल-मूत्र विसर्जन के स्थान की प्रतिलेखना—निरीक्षण करता है। दर्भसंस्तार—कुशा के आसन को विष्णाता है। बिछाकर दर्भ के आसन पर आरूढ़ होता है और अट्ठमभक्त—तीन दिन का लगातार उपवास ग्रहण करता है। पौषधशाला में पौषधिक—पौषधशत्रत' धारण किये हुए वह, अष्टमभक्त सहित पौषध—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों में करने योग्य जैन श्रावक का व्रत-विशेष अथवा आहारादि के त्याग-पूर्वक किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान-विशेष—का व्याख्यानिक पालन करता हुआ अर्थात् तेला-पौषध करके विहरण करता है।

१६— तए णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स पुल्वरत्तावरत्तकालसमर्थसि धर्मजागरियं आगर-माणस्स इमेयाहृवे अजस्तिए चितिए कविष्ट विष्ट भणोग्ये संक्षेपे समुष्पजिज्ञाया—धन्ना णं ते गामागर-नगर-निगम-रायहाणि-सेड-कडवड-दोणमुह-मडंब-पटुणासम-संबाह-सन्निवेशा जर्थ णं समणे भगवं महावीरे विहरइ।

धन्ना णं ते राईसरत्तलवर-माडंबिय-कोडु'चिय-इडम-सेड्हु-सेणाषह-सत्थवाहप्पमिहओ जे णं समणस्स भगवओ नहायीरस्स अंतिए हुंहु जाव विष्टवंति।

धन्ना णं ते राईसरत्तलवर० जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुल्लव्यं सत्तसिक्षवद्यं दुबालसविहं गिहिधम्मं पदिवज्जन्ति।

धन्ना णं ते राईसरत्तलवर० जाव जे णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धन्मं सुन्नेन्ति।

तं जहु णं समणे भगवं महावीरे पुल्वाणुपुष्टिक चरमाणे गामाणुगामं दूदुज्जमाणे इहमाग-विलुज्जा जाव विहरिज्जा, तए णं श्रहं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए मुंडे भविता जाव (अगाराओ अणगारियं) पञ्चएज्जा।

१६— तदन्तर मध्य रात्रि में धर्मजागरण के कारण जागते हुए सुबाहुकुमार के मन में यह आन्तरिक विचार, चिन्तन, कल्पना, इच्छा एवं मनोगत संकल्प उठा कि—वे ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेट (खेडे) कर्बट, द्रोणमुख, मडम्ब, पटुन, आथम, संबाध और सन्निवेश धन्य हैं जहाँ पर अमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते हैं।

वे राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कोडुम्बिक, दम्ब, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह आदि भी धन्य हैं जो अमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट मुण्डित होकर प्रवर्जित होते हैं।

१. धर्म की पुष्टि करने वाले नियमविशेष का धारण करना पौषधशत्रत कहलाता है। इसमें आहारादि के त्याग के माथ ही शरीर के शृंगार का त्याग, वह्यचर्य का पालन, व्यापार-व्यवहार का भी वर्जन अपेक्षित है। चारों प्रकार के आहार के त्यागपूर्वक किया जाने वाला पौषधशत्रत पौषधधोपवास कहलाता है : 'पौषण पौर्वः पुष्टि-रित्यर्थः तं धर्मे गृह्णाति इति पौषधः।'

वे राजा, ईश्वर आदिक धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास पञ्चाणुदत्तिक और सप्त शिक्षाद्वतिक (पांच अणुद्रतों एवं सात शिक्षाद्रतों का जिसमें विधान है) उस बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म को अज्ञीकार करते हैं।

वे राजा ईश्वर आदि धन्य हैं जो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास धर्म-श्रवण करते हैं।

सो यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पुर्वानुपूर्वी—क्रमशः गमन करते हुए ग्रामानुग्राम सो यदि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मुडित होकर विचरते हुए, यहाँ पधारें तो मैं गृह त्याग कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास मुडित होकर प्रव्रजित हो जाऊँ।

१७—तए णं समणे भगवं महावीरे सुबाहुस्स कुमारस्स इमं एयारुवं अम्भत्थियं जाव^१ विष्णाणिता पुव्वाणुपुच्छिव जाव^२ द्वाङ्गजमाणे जेणेव हृतिथसीसे णथरे खेणेव पुष्पकरण्डे उज्जाणे जेणेव कथवणमालपियस्स जवखस्स जवखापयणे लेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहृपडिलवं उभाहु उभिग-जित्ता संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

परिसा राया निग्या। तए णं तस्स सुबाहुस्स कुमारस्स तं भव्या जणसद्वं वा जणसण्णिवायं वा जहा जमालो तहा निग्यबो^३। धर्मो कहिओ। परिसा राया पडिग्या।

१७—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सुबाहु कुमार के हस प्रकार के संकल्प को जानकर क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरते हुए जहाँ हस्तशीर्षनगर था, और जहाँ पुष्पकरण्डक नामक जानकर क्रमशः ग्रामानुग्राम विचरते हुए जहाँ हस्तशीर्षनगर था, वहाँ पधारे एवं पथा प्रतिरूप—अनगार उद्यान था, और जहाँ कृतवनमालप्रिय यक्ष का यक्षायतन था, वहाँ पधारे एवं पथा प्रतिरूप—अनगार दृति के अनुकूल अवग्रह-स्थानविशेष को ग्रहण कर संयम व तप से आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित हुए।

तदनन्तर परिषदा वा राजा दर्शनार्थ निकले। सुबाहुकुमार भी पूर्व ही की तरह बड़े समारोह के साथ भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान् ने उस परिषद् तथा सुबाहुकुमार को धर्म का प्रतिपादन किया। परिषद् और राजा धर्मदेशना सुन कर वापिस चले गये।

१८—तए णं सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धर्मं सोच्चा निसम्म हहुतुदु^४ जहा मेहो तहा अस्मायिवरो आपुच्छइ।^५ निकष्णाभिसेशो तहेव जाव अणगारे जाव इश्यालमिए जाव गुद्दबंस्यारी।

१९—सुबाहुकुमार श्रमण भगवान् महावीर के पास से धर्म श्रवण कर उसका भनन करता हुआ (ज्ञानाधर्मकथा में वर्णित) श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार की तरह अपने माता-पिता से हुआ (ज्ञानाधर्मकथा में वर्णित) श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार की तरह अपने माता-पिता से हुआ (ज्ञानाधर्मकथा में वर्णित) श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार ही की तरह होता है। अनुमति लेता है। तत्पश्चात् सुबाहुकुमार का निष्क्रमण-अभिषेक मेघकुमार ही की तरह होता है। ग्रावत् वह अनगार हो जाता है, ईर्यासिमिति का पालक यावत् गुप्त नह्याचारी बन जाता है।

१०२—देखिये ऊपर का १६ वाँ सूत्र। ३. भगवती श. ५।

४. देखिये ज्ञानाधर्मकथा, प्र. अ।

१९—तए ण से सुबाहु अणगारे समणहस भगवओ भहावीरस्स तहारुवाणो चेराण अंतिए सामाइयाइयाइ' एकारस अंगाइ अहिजजइ, अहिजिलसा बहुर्हि चउत्थछद्गुभतदोवहाणेहि अप्याण अविस्ता बहुइ बासाइ सामणपरियाएं पाउणिसा मासियाए संलेहणाइ अप्याण श्रसित्ता सट्टु भसाइ अणसणाए छेद्वत्ता आलोइपपडिकर्ते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सौहम्मे कर्पे देवत्ताए उच्चवन्ते ।

२०—तदनन्तर सुबाहु अनगार अमण भगवान् भहावीर के तथारूप स्थविरों के पास से सामायिक आदि एकादश अङ्गों का अध्ययन करते हैं । अनेक उपवास, बेला, तेला आदि नाम प्रकार के तपों के आचरण से आत्मा को वासित करके अनेक वर्षों तक श्रामण्यपर्याय (साधुवृत्ति) का पालन कर एक भास की संलेखना (एक अनुष्ठान-विशेष जिसमें शारीरिक व मानसिक तप द्वारा कषाय आदि का नाश किया जाता है) के द्वारा अपने आपको आधारित कर साठ भक्तों—भोजनों का अनशन द्वारा खेदन कर अर्धात् २९ दिन का अनशन कर आलोचना व प्रतिकर्मणपूर्वक समाधि को प्राप्त होकर कालमास में काल करके सौधर्म देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

विवेचन—यहाँ यह वाच्चा सम्भव है कि 'मासियाए संलेहणाए' शब्द का उल्लेख करने के बाद 'सट्टुभत्ताइ' का उल्लेख तुष्टा है, जो २९ दिन का ही तात्त्व है तो 'मासियाए संलेहणाए' की अर्थसङ्केति कैसे बैठेगी ?

हमारी दृष्टि से इसकी यह सङ्केति सम्भव है कि प्रत्येक ऋतु में मासगत दिनों की संख्या समान नहीं होती है, अतः जिस ऋतु में जिस मास के २९ दिन होते हैं उस मास को अहण करने के लिये सूत्रकार ने 'मासियाए संलेहणाए' शब्द अहण किया है । यह पद देकर भी 'सट्टुभत्ताइ' जो पद दिया है उससे यही चौतित होता है कि २९ दिन के मास में ही साठ भक्त-भोजन छोड़े जा सकते हैं, ३० दिन के मास में नहीं ।

२०—से णं ताम्रै देवलोगाओ आचाराङ्गं, भवक्षाएणं, ठिङ्कलाएणं अर्जतरं चयं चहस्ता माणुस्सं विगगहं लहिहिइ, लहिहिता केवलं बोहिं बुजिसहिइ, बुजिसहिता तहारुवाण चेराण अंतिए मुँडे जाव एव्वद्वस्ताइ । से णं ताथ्य बहुइ बासाइ सामणं पाउणिहिइ, पाउणिहिता आलोइपपडिकर्ते समाहिपत्ते कालगए सणंकुमारे कर्पे देवस्ताए उव्वजिजिहिइ ।

से णं ताओ देवलोगाओ माणुस्सं, पव्वजा बंभलोए । माणुस्सं । तओ महासुके । तओ माणुस्सं, आणए देवे । तओ माणुस्सं, आरणे । तओ माणुस्सं, सव्वद्वसिद्धे ।

से णं तओ अणतरं उव्वद्वित्ता भहाविदेहे बासे जाइ अहुआई जहा दद्धपइन्ने, सिजिसहिइ ।

१. सामायिक शब्द चारित्र के पंचविध विभागों में में प्रथम विभाग-पहला चारित्र, आवक का नवम ऋत, आवश्यक मूल का प्रथम विभाग तथा संयमविशेष इत्यादि अनेक अवर्णों का चौनक है । प्रकृत में सामायिक का अर्थ प्रथम अङ्ग आचाराङ्ग अहण करना अनुकूल प्रतीत होता है, कारण 'सामाइयमाइयाइ' ऐसा उल्लेख है और वह 'एकारस अंगाइ' का विशेषण है अर्थात् सामायिक है आदि में जिसके ऐसे ग्यारह अङ्ग । ग्यारह अङ्गों के नाम ये हैं—आचाराङ्ग, सूतकुताङ्ग, स्थानांग, ममवासांग, भगवनी, ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, उपासकदण्डाङ्ग, अन्तकृदण्डाङ्ग, अनुत्तरोणातिकदण्डाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, विपाकमूत्र ।

२०—तदनन्तर वह सुब्राह्मण्यमार का जीव सौधर्म देवलोक से आयु, भव और स्थिति के अय होने पर व्यवधान रहित देव शरीर को छोड़कर भीशा मनुष्य शरीर को प्राप्त करेगा। प्राप्त करके शंकादि दोषों से रहित केवली—बोधि का लाभ करेगा, बोधि उपलब्ध कर तथारूप स्थितियों के पास मुड़ित होकर साधुधर्म में प्रवृजित हो जाएगा। वहाँ वह अनेक वर्षों तक श्रामण्यपर्याय—संयम व्रत मुड़ित होकर साधुधर्म में प्रवृजित हो जाएगा। काल धर्म को प्राप्त का पालन करेगा और आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर समाधि को प्राप्त होगा। कर सनस्कुमारनामक तीसरे देवलोक में देवता के रूप से उत्पन्न होगा।

वहाँ से पुनः मनुष्य भव प्राप्त करेगा। दीक्षित होकर यावत् महाशुक्र नामक देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से चयव कर फिर मनुष्य-भव में जन्म लेगा और पूर्ण की ही तरह दीक्षित होकर उत्पन्न होगा। वहाँ की भवस्थिति की पूर्ण कर मनुष्य-भव में यावत् आनन्द नामक नदम देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से चयव कर मनुष्य-भव शाकर दीक्षित हो आरण नाम के ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न होगा। वहाँ से चयव कर मनुष्य-भव शाकर दीक्षित हो आरण नाम का आराधन कर शरीरान्त होने पर सर्वर्थसिद्ध नामक विमान में को धारण करके अनगारधर्म का आराधन कर शरीरान्त होने पर सर्वर्थसिद्ध नामक विमान में उत्पन्न होगा। वहाँ से चयवकरं मुबाहुकुमार का वह जीव व्यवधानरहित महाविदेह क्षेत्र में सम्पन्न उत्पन्न होगा। वहाँ से चयवकरं किसी कुल में उत्पन्न होगा। वहाँ 'दृढ़प्रतिज्ञ' की भाँति चारित्र प्राप्त कर सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

विवेचन- 'आउक्खएण' आदि तीन शब्दों की व्याख्या बृहिकार श्री अभयदेव सूरि ने इस प्रकार की है—'आयुष्यकभिन्निष्टेष, भवद्वयस्तु ति देवगतिजिवन्धनदेवगत्यादिकर्म-द्रव्यनिर्जरेण, ठिक्खएण आयुष्यकभिन्निष्टेषस्थितिविगमेन।' आयु शब्द से आयुष्कर्म के दलिकों या कर्मवर्गणाश्रों का अय इष्ट है। भव शब्द से देवगति में कारणभूत देवगति नामकर्म के कर्मदलिकों का नाश गृहीत है—और स्थिति शब्द से आयुष्कर्म के दलिक जितने समय तक आत्मप्रदेशों से सम्बधित रहते हैं, उस कालस्थिति का नाश स्थितिनाश कहा जाता है।

२१—एवं खलु जन्म्य ! समणेण भगवया महावीरेण जाव संपत्तेण सुहविवागाणं पदमस्त
प्रज्ञायणस्त अयम्हृषे पण्णते । ति वेमि ।

२१—आर्यं सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जन्म्य ! यावत् भोक्षसम्प्राप्त अमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक अंग के प्रथम अध्ययन का यह अर्थ प्रतिपादित किया है।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

द्वितीय अध्ययन

भद्रनन्दी

१—विद्यमान उक्तेबो ।

१—द्वितीय अध्ययन की प्रस्तावना पूर्ववत् समझ लेनी चाहिये ।

२—तेण कालेण तेण समएण उसमपुरे नयरे । यूभकरंडगडजाण । धनो जवाहो धणावहो राया । सरस्सई देवी ।

सुविष्णदंसणं, कहणं, जमं, बालसणं, कलायो य ।

जोवणं पाणिगहणं दाशो पासाय भोगा य ।

जहा सुबाहुस्स । नवरं भद्रनंदी कुमारे । सिरिदेवो पामोक्षणाणं पंचसयाणं रायवरकाष्ठणाणं पाणिगहणं साभिस्स समोसरणं । साथगधम्यं । पुञ्चभवपुञ्च । महाविदेहे वासे पुञ्चरीकिणी नवरी । विजय कुमारे । जुगबाहू तिरथयरे पङ्गिलाभिए । मणुस्साउए निलढे । इहं उप्पन्ने । सेसं जहा सुबाहुस्स जाव महाविदेहे वासे सिजिसहिद, बुकिसहिद, मुचिचहिद, परिणिक्षाहिद, सध्वदुख्खाणमतं काहिद ।

निष्केषो ।

२—जम्बू स्वामी ने प्रश्न किया कि श्रमण भगवान् महावीर ने सुखविपाक के द्वारे अध्ययन का क्या अर्थ कहा है ? उत्तर में सुधर्मा स्वामी कहते हैं,—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में ऋषभपुर नाम का एक नगर था । वहाँ स्तूपकरण्डक नामक उद्यान था । घन्य नामक यक्ष का यज्ञायतन था । वहाँ धनावह नाम का राजा राज्य करता था । उसकी सरस्वती देवी नाम की रानी थी । महारनी का स्वर्ण-दर्शन, पति से स्वर्ण-बृत्तान्तकथन, समय श्राने पर बालक का जन्म, बालक का दाल्यावस्था में कलाएं सीखकर योवन को प्राप्त होना, तदनन्तर विवाह होना, माता-पिता के हारा दहेज देना और ऊंचे प्रासादों में अभीष्ट भोगोपभोगों का उपयोग करना, आदि सभी वर्णन सुबाहुकुमार ही की तरह जानना चाहिये । उसमें अन्तर केवल इतना है कि सुबाहुकुमार के बदले सुबाहुकुमार ही की तरह जानना चाहिये । उसका श्रीदेवी प्रभुख पाँच सौ देवियों के साथ (अष्ट राजकन्याओं बालक का नाम 'भद्रनन्दी' था । उसका श्रीदेवी प्रभुख पाँच सौ देवियों के साथ) विवाह हुआ । तदनन्तर महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ, भद्रनन्दी ने आचक्षण्य के साथ वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा, निर्विण पद को प्राप्त करेगा व सर्व दुःखों का अन्त करेगा ।

महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नाम की नगरी में विजय नामक कुमार था । उसके

द्वारा भी युगबाहु तोर्यंकर को प्रतिलाभित करना—दान देना, उससे मनुष्य आयुष्य का बन्ध होना, यहाँ भद्रनन्दी के रूप में जन्म लेना, यह सब सुबाहुकुमार ही की तरह जान लेना चाहिये । यावत् वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्ध होगा, बुद्ध होगा, मुक्त होगा, निर्विण पद को प्राप्त करेगा व सर्व दुःखों का अन्त करेगा ।

निष्केष की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये ।

॥ द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन

सुजातकुमार

१—तत्त्वस्तु उपलेखो ।

१—तृतीय अध्ययन की प्रस्तावना भी यथापूर्वं जान लेनी चाहिये ।

२—बीरपुरं नयरं । मणोरमं उडजाणं । धीरकण्ठमित्ते राया । सिरिदेवी । सुजाए कुमारे ।
बलसिरीपामोक्षणं पंचसयकष्ठगाणं पाणिग्रहणं । सामीसमोसरणं । पूर्वभवपुच्छा । उसुयारे नयरे ।
उसभवत्ते गाहावई । पुष्पदत्ते ग्रणगारे धडिलामिए । माणुस्साउए निषद्दे । इह उप्पन्ने जाव महा-
विवेहवासे सिजिझहिङ्क, बुरिझहिङ्क, मुच्चिझहिङ्क, परिणिव्वाहिङ्क, सद्बद्धुक्खाणभंतं काहिङ्क ।
निकलेवो ।

२—श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा—हे जम्हू ! बीरपुर नामक नगर था । वहाँ भनोरम नाम का
उच्चान था । महाराज बीरकृष्णमित्र राज्य करते थे । श्रीदेवी नामक उनकी रानी थी । सुजात
नाम का कुमार था । बलश्री प्रमुख ५०० श्रेष्ठ राज-कन्याओं के साथ सुजातकुमार का पाणिग्रहण-
संस्कार हुआ । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पदारे । सुजातकुमार ने श्रावक-घर्म स्वीकार किया ।
श्री गौतम स्वामी ने पूर्वभव की जिजासा प्रकट की । श्रमण भगवान् महावीर ने इस तरह पूर्वभव
का वृत्तान्त कहा—

इषुकासार नामक नगर था । वहाँ कृष्णभदत्त गाथापति रहता था । उसने पुष्पदत्त ग्रन्थार को
निर्दोष आहार दान दिया, फलतः शुभ मनुष्य आयुष्य का बन्ध हुआ । आयु पूर्ण होने पर यहाँ
सुजातकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ यावत् महाविदेह अंत्र में चारित्र ग्रहण कर सिद्ध पद को प्राप्त
करेगा ।

विवेचन- दूसरे अध्ययन की तरह तीसरे अध्ययन का भी सारा वर्णन प्रथम अध्ययन के
ही समान है । केवल नाम व स्थान मात्र का भेद है । अतः सारा वर्णन सुवाहुकुमार की ही तरह समझ
लेना चाहिये ।

निष्केप की कल्पना पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये ।

॥ तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन सुवासवकुमार

१—चउत्थसस उवलेदो ।

१—चतुर्थ अध्ययन को प्रस्तावना भी यथापूर्व समझ लेनी चाहिये ।

२—विजयपुरं नयरं । नन्दनवणं उज्जाणं । असोगो जश्छो । बावददते राया । कण्ठादेवी ।
सुवासवे कुमारे । अदापासोक्षाणं पंचसदाणं रायवरक्षणाणं जाव पुवक्षवे । कोसंबी नयरी ।
घणपाले राया । वेसमणभद्रे अणगारे पडिलास्ति । इहुं उद्दवन्ने । जाव लिद्दे । निश्चेदो ।

२—सुधमा स्वामी ने उत्तर दिया—हे जम्बू ! विजयपुर नाम का एक नगर था । वहाँ
नन्दनवन नाम का उद्यान था । उस उद्यान में अशोक नामक यक्ष का एक यक्षाधतन था । विजयपुर
नगर के राजा का नाम बासवदत्त था । उसकी कृष्णादेवी नाम की रानी थी । सुवासवकुमार
नामक राजकुमार था । अद्रा-प्रमुख पाँच सौ राजाओं की श्रेष्ठ कन्याओं के साथ विवाह हुआ ।
अमण भगवान् महादीर स्वामी पवारे । सुवासवकुमार ने आवकधर्म स्वीकार किया । गौतम स्वामी
ने उसके पूर्वभव का बृत्तान्त पूछा । उत्तर में श्री भगवान् ने फरमाया—

गौतम ! कौशाम्बी नाम की नगरी थी । वहाँ धनपाल नामक राजा था । उसने वैश्वमणभद्र
अनगार को निर्दोष आहार का दान दिया, उसके प्रभाव से मनुष्य-आयुष्य का बन्ध हुआ यावत् यहाँ
सुवासवकुमार के रूप में जन्म लिया है, यावत् इसी भव में सिद्धि-गति को प्राप्त हुए ।

विवेचन—प्रस्तुत अध्ययन में भी चरित्रनायक के नाम, जन्मभूमि, उद्यान, माता-पिता,
परिणीत स्त्रियों, पूर्वभव सम्बन्धी नाम, जन्मभूमि तथा प्रतिलिप्मित मुनिराज की विभिन्नता के नामों
को छोड़कर आवश्यक सारा कथा-विभाग सुवाद्वकुमार की ही तरह समझ लेने का निर्देश किया है ।

निष्क्रेप की कल्पना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये ।

॥ चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

पञ्चम अध्ययन

जिनदास

१—पञ्चमस्स उवलेदो ।

१—पञ्चम अध्ययन की प्रस्तावना भी यथापूर्व जान लेनी चाहिये ।

२—सोगनिधि नयरी । नीलाशोए उज्जाणे । सुकालो जक्खो । अष्टडिहशो रामा ।
सुकर्ष्णा बेबो । महाचंदे कुमारे । तस्स अरहवत्ता भारिया । जिनदासो पुत्तो । तित्थयरागमण । जिन-
दासपुष्कभवो । मज्जमिया नयरी । भेहरहो राया । सुषम्भे अणगारे पडिलाभिए जाव सिढ्डे ।
निकलेदो ।

२—हे जम्बू ! [सोगनिधि]का नाम की नगरी थी । वहाँ नीलाशोक नाम का उद्यान था ।
उसमें सुकाल नाम के यक्ष का यक्षायतन था । उक्त नगरी में अप्रतिहत नामक राजा राज्य करते थे ।
सुकुर्ष्णा नाम की उत्तमी भार्या थी । उनके पुत्र का नाम महाचन्द्रकुमार था । उसकी अहंदत्ता नाम की
भार्या थी । जिनदास नाम का पुत्र था । किसी समय अमण भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ ।
भार्या थी । जिनदास ने भगवान् से द्वादशविघ्न गृहस्थ धर्म स्वीकार किया । श्री गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव की
जिज्ञासा प्रकट की और भगवान् ने इसके उत्तर में इस प्रकार फरमाया—

हे गौतम ! माईयमिका नाम की नगरी थी । महाराजा मेघरथ वहाँ के राजा थे । सुषम्भी
अनगार को महाराजा मेघरथ ने भावपूर्वक निर्दोष आहार दान दिया, उससे मनुष्य भव के आयुष्य
का बन्ध किया और यहाँ पर जन्म लेकर यावत् इसी जन्म में सिद्ध हुआ ।

निष्ठेप—उपसंहार की कल्पना पूर्ववत् समझनी चाहिये ।

विवेचन- प्रस्तुत अध्ययन में जिनदास के जीवन-वृत्तान्त के संकलन में यदि कोई विशेषता
है तो मात्र इतनी ही कि इसके पितामह श्री अप्रतिहत राजा और पितामहो सुकुर्ष्णा देवी का
भी इसमें उल्लेख है, जो प्रायः अन्य किसी अध्यायों के जीवनवृत्तों में उपलब्ध नहीं है । शेष कथा-
वस्तु सुक्राहुकुमार के समान ही है । विशिष्टता है तो इतनी ही कि इसी भव में (इसी जन्म में) यह
मोक्ष को प्राप्त हुआ ।

॥ पञ्चम अध्ययन समाप्त ॥

बाठ आध्ययन

धनपति

१—छहस्त्र उक्तेबो ।

१—छट्ठे अध्याय की प्रस्तावना भी पूर्ववत् ही समझ लेनी चाहिए ।

२—कणगपुरं नयरं । सेयासोयं उज्ज्ञाणं । वोरभद्रो जष्टुषो । पिष्ठशंदो राया । सुभद्रा देवी । वेसमणे कुमारे जुवराया । सिरीदेवी पमोक्षणाणं पंचलयाणं रायवरकन्तगाणं पाणिगग्नं । तित्थय-रागमणं । धणवई जुवरायपुत्ते जाव पूज्वमबो । मणिवद्या नयरी । मित्तो राया । संभूतिविजए अण-गारे प्रिलामिए आव सिद्धे ।

निक्षेपो ।

२—हे जन्म ! कनकपुर यह न वगर था । वहै इतेताप्तोरुन्नामक एक उद्यान था । वहाँ वीरभद्र नाम के यक्ष का यक्षायतन था । कनकपुर का राजा प्रियचन्द्र था, उलकी रानी का नाम सुभद्रादेवी था । युवराज पदासीन पुत्र का नाम वेश्वरण कुमार था । उसका श्रीदेवी प्रमुख ५०० थंड राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ था । किसी समय तीर्थकार श्री महावीर स्वामी पधारे । युवराज के पुत्र धनपति कुमार ने भगवान् से श्रावकों के बत ग्रहण किए यावत् गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव की पृच्छा की । उत्तर में भगवान् ने कहा—

धनपतिकुमार पूर्वभव में मणिचर्यिका नगरों का राजा था । उसका नाम मित्र था । उसने संभूतिविजय नामक अनगार को ऊढ़ आहार से प्रतिलाभित किया यावत् इसी जन्म में वह मिद्दिगति को प्राप्त हुआ ।

निक्षेप—उपसंहार भी पूर्ववत् समझना चाहिये ।

विवेचन—प्रस्तुत अध्ययन में धनपतिकुमार ने भी सुवाहुकुमार ही की तरह पूर्वभव में सुपात्र दान से मनुष्य आयुष्य का बन्ध किया । भगवान् महावीर स्वामी के पास क्रमशः श्रावक धर्म व अन्त में मुनि धर्म की दीक्षा लेकर कर्मवन्धनों को लोड़कर सोक प्राप्त किया ।

इस भव व पूर्वभव में नामादि की भिन्नता के साथ-साथ सुवाहुकुमार व धनपति कुमार के जीवन में इतना ही अन्तर है कि सुवाहुकुमार देवलोकों में जाता हुआ और मनुष्य-भव प्राप्त करता हुआ अन्त में महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा जबकि धनपति कुमार इसी जन्म में निर्वाण को उपलब्ध हो गया ।

॥ बाठ अध्ययन समाप्त ॥

सार्वत्रिम अध्ययन

महाबल

१—सत्तमस्तु उक्षेषी ।

१—सातवें अध्याय का उत्क्षेप पूर्ववत् ही समझ लेना चाहिये ।

२—महापुरं नयरं । रसासोगं उज्जाणं । रत्तपाओ जक्षो । बले राया । सुभद्रा देवी । महाबले कुमारे । रत्तवृष्टिमोक्षाणं पंखसयाणं रायबरकन्नगाणं पाणिग्रहणं जाव पुरुषभवो । मणिपुरं नयरं । नागदस्ते गाहावई । इन्द्रपुरे अणगारे पदिलाभिए जाव सिद्धे । निष्ठेषी ।

२—हे जम्बू ! महापुर नामका नगर था । वहाँ रसाशोक नाम का उद्यान था । उसमें रत्त-पाद यक्ष का श्रायतन था । नगर में महाराज ब्रल का राज्य था । सुभद्रा देवी नाम की उसकी रानी थी । महाबल नामक राजकुमार था । उसका रक्तवती प्रभृति ५०० श्वेष राजकन्याओं के साथ विवाह किया गया ।

उस समय तीर्थकर भगवान् श्री महावीर स्वामी पद्धारे । तदनन्तर महाबल राजकुमार का भगवान् से श्रावकघर्म अङ्गीकार करना, गणधर देव का भगवान् से उलका पूर्वभव पूछना तथा भगवान् का प्रतिपादन करते हुए कहना—

गौतम ! मणिपुर नाम का नगर था । वहाँ नागदेव नाम का गाथापति रहता था । उसने इन्द्रदत्त नाम के श्रनगार को पवित्र माधनाओं से निर्दोष श्राहार का दान देकर प्रतिलम्भित किया तथा उसके प्रश्नाव से मनुष्य आयुष्य का बन्ध करके यहाँ पर महाबल के रूप में उत्थन्न हुआ । तदनन्तर उसने श्रमणदीक्षा स्वीकार कर यावत् सिद्धगति को प्राप्त किया ।

निष्ठेप—उपसंहारं भी पूर्ववत् जानना चाहिये ।

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

आठम अध्ययन

भद्रनन्दी

१—अद्वमस्स उव्वेषो ।

१—आठम अध्याय का उत्क्षेप पूर्व की भाँति हो समझ लेना चाहिये ।

२—सुधोसं नयरं । देवरमणं उज्जाणं । औरसेणो जबक्षो । अज्जुणो राया । तसवई देवी । भद्रनन्दी कुमारे । सिरिदेवी पामोबखाणं पंचसयाणं रायवरकल्पगाणं पाणिग्रहणं जाव पुर्वभवे । महाघोसे नयरे । धर्मघोसे गाहृवई । धर्मसीहे अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे । निष्ठेषो ।

२—सुधोष नामक नगर था । वहाँ देवरमण नामक उद्यान था । उसमें वीरसेन नामक यक्ष का यक्षायतन था । सुधोश नगर में श्रीर्जुन नामक राजा राज्य करता था । उसके तस्ववसी नाम की रानी थी और श्रीर्जुन की राज्यता राज्यकुमार था । उसका श्रीदेवी आदि ५०० थोट राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ । किसी समय धर्मण भगवान् महावीर स्वामी का वहाँ पदापंण हुआ । भद्रनन्दी ने भगवान् की देशना से प्रभावित होकर श्रावकघर्म अज्ञीकार किया । श्री गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव के सम्बन्ध में पृच्छा का और भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—

हे गौतम ! महाघोष नगर था । वहाँ धर्मघोष नाम का गाथापति रहता था । उसने धर्म-सिंह नामक मुनिराज को निर्दोष आहार के दान से प्रतिलाभित कर मनुष्य-भव के आयुष्य का बन्ध किया और वहाँ पर उत्पन्न हुआ । यावत् साधुधर्म का यथाविधि अनुष्ठान करके श्री भद्रनन्दी अनगार ने बन्धे हुए कर्मों का आत्मतिक क्षय कर मोक्ष पद को प्राप्त किया ।

निष्ठेष—उपसंहार पूर्वबत् समझना चाहिये ।

विवेचन—सुबाहूकुमार और भद्रनन्दी के जीवन में इतना ही अन्तर है कि सुबाहूकुमार देवलोक आदि अनेकों भव कर के महाविदेह ज्येत्र से सिद्ध होंगे जब कि भद्रनन्दी इसी भव में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

॥ आठम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन

महाचन्द्र

१—नवमस्स उखेवो ।

१—नवम अध्ययन का उत्क्षेप यथापूर्वं जान लेना चाहिये ।

२—चम्पा नयरी । पुण्णभद्रे उज्जाणे । पुण्णभद्रे जखो । इत्ते राया । रत्तबई देखी । महर्षदे कुमारे जुवराया । सिरोहन्तापामोक्षाणं पंचस्थाणं रायवरकन्ताणं पाणिग्रहणं जाव पुष्पमधो । तिगिज्ज्ञपा नयरी । जियसत् राया । धम्भोरिए अणगारे पडिलाभिए जाव सिद्धे ।

२—हे जम्बू ! चम्पा नाम की नगरी थी । वहाँ पूर्णभद्र नामक सुन्दर उद्यान था । उसमें पूर्णभद्र यक्ष का यक्षायतन था । वहाँ के राजा का नाम दत्त था और रानी का नाम रक्तवती था । उनके युवराज पदासीन महाचन्द्र नामक राजकुमार था । उसका श्रीकान्ता प्रमुख ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ था ।

एक दिन पूर्णभद्र उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ । महाचन्द्र ने उनसे धावकों के बारह द्रूतों को ग्रहण किया । गणधर देव श्री गौतम स्वामी ने उसके पूर्वभव के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की । भगवान् महावीर स्वामी ने उत्तर देते हुए फरमाया—

हे गौतम ! चिकित्सिका नाम की नगरी थी । महाराजा जितशत्रु वहाँ राज्य करते थे । उसने धर्मवीर्य अनगार को प्राप्तुक—निर्दोष आहार पानी का दान देकर प्रतिलभित किया, फलतः मनुष्य-ग्रायुष्य को बान्धकर यहाँ उत्पन्न हुआ । यावत् श्रामण्य-धर्म का यथाविधि अनुष्ठान करके महाचन्द्र मुनि वन्धे हुए कमी का समूल क्षय कर परमपद को प्राप्त हुए ।

इन सब के जीवनवृत्तान्तों में मात्र नामगत व स्थानगत भिन्नता के अतिरिक्त अर्थगत कोई भेद नहीं है ।

निक्षेप—उपसंहार—पूर्ववत् समझ लेना चाहिये ।

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

दशम अध्यायन

वरदत्त

१—दसमस्स उक्षेषो ।

१—दशम अध्ययन की प्रस्तावना पूर्व की भाँति ही जाननी चाहिये ।

२—एवं खलु, जम्बू ! तेण कालेण तेण समर्णं साएवं नामं नयरं होत्या । उत्तर-
कुरु उज्जाणे । पासादिओ जक्षणो । मित्रनन्दी राया । सिरिकन्ता देवो । वरदत्ते कुमारे । वरसेणा-
पासोवद्वाणं पञ्चदेवीसयाणं रायवरकन्तगाणं पाणिग्रहणं । तिरथयरागमणं । सावगधध्यं । पुष्टभव-
पुच्छा । सप्तदुवारे नयरे । विमलवाहणे राया । धम्मरुद्दी नामं अणगारं एजजम्भाणं पासइ, पासित्ता
पडिलाभिए समाणे मणुस्साउए निक्षे । इहं उप्पन्ने । सेमं जहा सुबाहुस्स कुमारहस । चिन्ता जाव
पञ्चउज्जा । कृपन्तरिओ जाव सबदुस्ति । तओ महाविदेहे जहा बहवहन्मो जाव सिजिशहिइ
बुजिशहिइ, मुचिचहिइ, परिणिष्वाहिइ सञ्चदुक्खामंतं काहिइ ।

‘एवं खलु, जम्बू ! समर्णेण भगवान् महावीरेण जाव संपत्तेण सुहविवागाणं दसमस्स
अज्ञयणहस अथम्बूं पन्नते ।’

सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! सुहविवागा ।

२—हे जम्बू ! उस काल तथा उस समय में साकेत नाम का एक विख्यात नगर था । वहाँ
उत्तरकुरु नाम का सुन्दर उद्यान था । उसमें पाशमूर्ग नामक यक्ष का यक्षायतन था । उस नगर के
राजा मित्रनन्दी थे । ‘उनकी श्रीकान्ता नाम की रानी थी । (उनका) वरदत्त नाम का राजकुमार
था । कुमार वरदत्त का वरसेना थादि ५०० श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण-संस्कार हुआ
था । तदनन्तर किसी समय उत्तरकुरु उद्यान में अमण भगवान् महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ ।
वरदत्त ने देशना अवण कर भगवान् में श्रावकश्चर्म अङ्गीकार किया । गणधर श्रीगौतम स्वामी के
पूछने पर भगवान् श्री महावीर ने वरदत्त के पूर्वभव का वृत्तान्त इस प्रकार फरमाया—

हे गौतम ! शतद्वार नाम का नगर था । उसमें विश्वलवाहन नामक राजा राज्य करता था ।
उसने एकदा धर्मरूपि अनगार को आते हुए देखकर उत्कट भक्तिभावों से निर्दोष आहार का दान
कर प्रतिलाभित किया । उसके पुण्यप्रभाव से शुभ मनुष्य आयुष्य का बन्ध किया । वहाँ की भवस्थिति
को पूर्ण करके इसी साकेत नगर में महाराजा मित्रनन्दी की रानी श्रीकान्ता की कुक्षि से वरदत्त के
रूप में उत्पन्न हुआ ।

ओष वृत्तान्त सुबाहुकुमार की तरह ही समझ लेना चाहिये । अर्थात् भगवान् के विहार
कर जाने के बाद पौष्टि-शाला में पौष्टि-प्रवास करना, भगवान् के पास दीक्षित होने वालों को
पुण्यशाली बतलाना और भगवान् के पुनः पश्चारने पर दीक्षित होने का संकल्प करना । यह सब
सुबाहुकुमार व वरदत्त कुमार दोनों के जीवन में समान ही है । तदनन्तर दीक्षित होकर संमस्त का

पालन करते हुए मनुष्य-भव से देवलोक और देवलोक से मनुष्य-भव, देवलोकों में भी बीच-बीच के एक एक देवलोक को छोड़कर—सुवाहु के समान ही गमनागमन करते हुए अन्त में सुवाहुकुमार की हो तरह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेफुर, वहाँ पर चारित्र की सम्यक् आराधना से कर्मरहित होकर मोक्षगमन भी समान ही समझना चाहिये ।

वरदत्त कुमार का जीव स्वर्णीय तथा मानवीय, अनेक भवों को धारण करता हुआ अन्त में सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होगा, वहाँ से न्यून कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो, दृढ़प्रतिज्ञ की तरह सिद्धगति को प्राप्त करेगा ।

हे जम्बू ! इस प्रकार यावत् मोक्षसम्प्राप्त शमण भगवान् महाबीर स्वामी ने सुखविपाक के दशम अध्ययन का अर्थ प्रतिपादन किया है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

जम्बू स्वामी—भगवन् ! आपका सुखविपाक का कथन, जैसे कि आपने फरमाया है, वैसा ही है, वैसा ही है ।

॥ विपाकशुत्र शास्त्र ॥

॥ सुखविपाक समाप्त ॥

॥ विपाकशुत्र समाप्त ॥

परिषिर्व

विशिष्ट-शब्द-सूची

परिशिष्ट

तिथिष्ठट-शब्द-सूची

[प्रस्तुत परिशिष्ट में उन्हीं शब्दों को संगृहीत किया गया है, जो बहु प्रचलित नहीं हैं। प्रत्येक पृष्ठ के सामने वह पृष्ठाङ्क अंकित किया गया है, जिरा पृष्ठ पर उस शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत संकारण अर्थ-तद्विलेख है तभी, वहाँ शब्दों पर एवं सामने लिखित पृष्ठ पर देखा जा सकता है।]

मध्य में एक-एक शब्द अनेकानेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यहाँ उन सब स्थलों का उल्लेख करना आवश्यक न समझ कर केवल एक स्थल का ही उल्लेख किया गया है।]

अहपडाग	१०	अणुवासणा	१९
अकन्त	२०	अणोहट्टिय	३६
अकारम्	१८	अण्डयकाणियय	४४
अक्षयनिहि	८५	अतुरियं	१३
अगड	७४	अत्तम्	८९
अग्निय	२२	अत्ताण	२५
अग्निष्ठमोग	९८	अत्य	१६
अच्छि	३१	अथववणवेय	६६
अजमत्यम्	१५	अथाम	५२
अजमवसाण	३७	अद्वृरसामन्त	१७
अजमोववम्	३७	अद्विभकुद्विम	५३
अहु	२०	अधम्मए	१७
अहुपमभत्	१२४	अधरिमं	५३
अहुभी	१२४	अद्वाण	५४
अहु	१०६	अन्तर	३७
अहू	२६	अन्तरा	५०
अणगारिया	२४	अन्तेउर	६२
अणसण	१२७	अन्तेवासी	१६
अणहारथ	७३	अन्धारुद	१२
अणाह	८२	अप्पसोम्	४८
अणिट्	२०	अप्पिय	२०
अणुपुष्टवेण	३५	अबीअ	३४
अणुमग्नजायम्	१३	अब्ज़	१९
अणुलग्न	१२	अविभतरप्पवह	२१

आभद्र्यवेस	५३	आविसह	५५
आभिक्षणं	२२	आसत्थ	३६
आभिभूय	२०	आसीदण	१७
आमणाम	२०	आसुहत्त	३८
आणणुण्ण	२०	आहेवच्च	१७
आमधाई	२२	इज्जाल	४४
आयंपुल	९२	आन्दमह	११
आरिस	१८	उवकर	५३
आरिसिल्ल	७९	उक्कुरुदिया	२२
आलंकारियकम्म	७६	उक्कोडा	१७
आलंभोगसमत्य	११६	उग्गह	१२६
आलिश्च	७४	उच्चार	१२४
आवश्चोदय	२८	उच्छंग	८३
आवष्टाण	१९	उण्ड	६६
आवद्ध	७४	उत्तरकंचुहज्ज	२८
आवद्धणा	१९	उत्तरासंग	१२२
आवयासाविश्च	६३	उत्ताण्य	७४
आवरक्त	२१	उहिंडु	१२४
आवाण	१०७	उपप्ययाण	५७
आवेला	६८	उप्तित्या	९४
आसयंबस	२१	उरफेणउरफेणियं	९९
आसि	७२	उम्माण	२६
अंसागय	४६	उरग	२४
आहापडिरुव	१२६	उरपरिसप्प	५२
आहिमड	१५	उरंउरेण	१९
आउर	८२	उव्वट्टु	५३
आगय	२८	उसुक्क	३१
आगर	१२५	ऊह	९२
आणत्तिया	१८	एगडिया	१२१
आभिश्चोगिय	३९	एगसाडिय	९१
आमलरसिय	९१	एणेज्ज	१७
आयङ्कु	१८	एयकम्म	१७
आयव	९३	एयप्पहाण	१७
आरसिय	३३	एयविज्ज	१७
आलीविय	१०१	एयसमायार	१७
आलोआ	८५	एल	५९

ओचूल	२८	कविटु	९१
ओमन्थिय	३१	कदोय	६२
ओलुग्ग	३१	कसा	७२
ओ(उ)ल्ल	७४	काई	४४
ओवाइय	८४	कागणी	२८
ओबील	९४	कायतिगिञ्चा	८२
ओसह	१९	काल	२३
ओसारिय	४६	कालुणवडिया	११
ककुह	३१	कास	१८
कव्वा	८३	कासिल्ल	७९
कक्खडिय	२८	किञ्चा	१५
कच्छव	२४	किडिकिडियाभूय	९८
कच्छुल्ल	७९	किमि	१५
कटुसगडिया	१४	किसुय	१०७
कहगसवकर (रा)	७२	कुफ्कुडी	४४
कण्ज्ञर	७२	कुच्च	८३
कण्डू	१८	कुच्छसूल	१८
कण्ण	२१	कुड़क	४२
कण्णीरह	२६	कुहुम्बजागरिया	२१
कन्दू (न्दू)	४४	कुण्डी	७२
कण्डिम	८२	कुहालिया	४४
कण्णी	९१	कुन्त	१७
कप्पाय	४२	कुभार	९८
कब्बड	१२५	कुभारभिच्च	८२
कम्बल	३१	कुविय	३८
कम्मिया	९४	कुहाड	७२
कर	१७	कुहिय	१५
करण	१०४	कूडगाह	१५
करपत्त	७८	कूडपास	१३
करोडिय	८२	कूडागारसाला	५३
कलवल	७१	कोउय	८५
कलम्बचीरपत्त	७२	कोटिल	७२
कल्लाक्लिल	३४	कोडुंबिय	१७
कव्रा	२८	कोठिय	७९
कवलग्गाह	९४	कोणर	३८
कवलली	४४	कोलंब	४१

कोवदर	१८	घूँड	४४
खक्खरग	२८	चउम्क	१८
खम्हपटु	४२	चउत्थ	१२७
खण्डपठहम	२८	चउप्पुड	१५
खप्ही	४१	चउस्टुं	१८
खत्तिध	६६	चच्चर	१८
खलीणमट्टिया	२४	चडगर	१३
खलुअ	७४	चण्ड	३८
खह्यर	९०	चन्दसूरपासणिया	३५
खार	७१	चम्म	७२
खुज्जा	१०२	चाउद्दसी	१२४
खुत्तो	२४	चाउरंगिणी	५२
खुर	७२	चिच्चीसद	३३
खेह	१२५	चुण	२८
गढिअ	३७	चुब्लिया	४३
गणिम	३५	चुल्लपिया माउथा	४३
गणिया	४७	चेलुक्लेव	१२२
गणितभेय	४२	चोक्से	१०४
गत	९३	छहु	१२७
गलश्च	९३	छट्टकब्रमण	२८
गामेल्लग	१७	छडछडस्स	७४
गाय	८५	छल्ली	१९
गावी	३०	छागलिअ	६०
गिछ	२७	छिद	९८
गिलाण	८२	छिप्पनूर	४६
गीवा	७६	छिया	७२
गुडा	२८	छेप्पा	३१
गुडिय	२८	ज़ुणा	९२
गुण्डिय	९६	जंगील	८२
गुलिया	१०	जणू (न्नु) पायवडियं	८४
गेवेझज	२८	जमगसमगं	१८
गोट्टिल	४०	जम्पिय	८३
गोण	२४	जम्भा	९२
गोमण्डव	३०	जम्मपवकं	९१
गोहा	८२	जलयर	९१
घम्मपवक	९१	जाइ	२

जाई	३१	तुष्णिय	९६
जाणय	१८	तेगिच्छयपुत्र	१८
जाणयपुत्र	१८	तेगिच्छी	१८
जाणवया	४९	तोण	४६
जाणु	३८	थण	३२
जासाउय	४३	यलयर	९०
जायतित्वुया	३४	यासग	२८
जाल	१५	धिमिय	१७
जीवगमाहं	४९	शिक्षिथिविय	७९
जीविय (विष्पजड)	१०८	थेर	१२१
जुगल	६३	दग्धारा	८५
जूय	३६	दण्ड	५०
जूहु	५९	दब्भतिण	७२
जौणिसूल	३७	दअमसंथारग	१२४
झय	२८	दम	१२२
झिलिरो	१२	दह	९२
टिट्विभी	४४	दामा	४६
ठाणिज्ज	१०३	दाय	९७
ठिइवडिया	४७	दारश(म)	१४
डम्भण	७२	दालिम	९१
तउ	७१	दिवस	१०४
तच्छण	१९	दिसालोय	१०७
तही	२४	दीह	९१
तन्ती	७२	दुग	१६
तण्णा	१९	दुष्पडिकक्षत	१६
तयष्णिय	३७	दुष्पडियाणंद	३३
तया	१०६	दुष्पहंस	४१
तलवर	१७	दुवार	५६
तल्लेस्स	३७	दुहृ	२०
तवश	६०	देजज (दिजज)	१७
तवूर (री)	२१	देवदुन्दुभि	१२२
तहारूच	१२७	देवी	१००
तित्तिर	८२	दोऽयरिय	७९
तित्वूस	१०३	दोहमुख	१२५
तिवलिया	६८	दोहल	३४
तिहि	१०४	धमणि	२२

धरिम	३५	पञ्चाणुव्याहर्य	११८
धाई	३६	पञ्चाणुव्येत्ति	२८
धिसरा	९२	पद्मग	१२५
धूया	४३	पडाग	२८
नक्क	२२	पडिजागर	११
नक्खत	१०४	पडियाइक्षय	२०
नत्तुई	४३	पत्थयपिडग	४४
नत्तुय	४३	पन्थकोट्टि	१७
नत्तुयावहि	४३	पञ्चगभूम्ब्र	८०
नय	५७	पभू	१२४
नयर	१२५	पमाण	२६
निक्कण	४२	पम्हल	८५
निक्किट्टु	४६	पया	२३
निक्खमणाभिसेय	१२६	परमाउय	२०
निशम	१२५	परसु	१०८
निगर	७२	परिचत्त	२०
निच्छेट्टु	१०७	परिणामिया	९४
निच्छूड	३६	परित्तीकश्च	१२२
निष्ठवण	३९	परियारग	२९
नित्याण	४२	पसज्जा	३१
निद्वण	४२	पसय	५९
निष्पाण	१०८	पह	१८
नियत्थ	९०	पहकर	११
नियल	७२	पहरण	८८
निरुह	१९	पाऊब्ल्य	१९
भित्तिण	२०	पागार	४१
नीहरण	३३	पाढए	८९
नेरइय	२०	पाणागार	३६
नेवत्थाइ	१०५	पाथच्छित्त	८५
नेह	९६	पायण्डुय	७२
पहखर	२८	पायरास	५४
पंगुल	११	पायवडिय	४९
पञ्चतिथम	८१	पायबीढ	१२१
पञ्च	७२	पारणय	८८
पञ्चणा	१९	पारदारिय	४२
पञ्चपुल	९२	पारिच्छेज्ज	३५

पासाय	४६	भेजज (भिजज)	१७
पाहुड	४९	भेय	५७
पिडसिया	४३	भेसउज	१९
पिडसिसयपई	४३	मग्नाइम	५०
पिष्टल	७२	मज्जल	८५
पुडपाक	१९	मच्छर्खल	१३
पुण्णमासिणी	१२४	मच्छर्द्ध	८९
पुफ	८४	मच्छर्नष्टल	९२
पुरत्थिम	८१	मच्छवंशिय	६४
पुरापोराण	१६	मच्छ्रुय	९०
पुब्वरत्त	२१	मज्ज	३६
पूय	१५	मडंब	१२५
पेरन्त	४१	मन्त	१७
पेल्लथ	३९	मयकिच्च	३६
पेल्लम्प्र	२४	मदूरी	४४
पोय	३५	महरिहं	८४
पोरिसी	२८	महाणसिन्ध्र	९०
पंसु	६७	महापह	१८
फरिहा	४१	महापिउय	४३
फलम्प्र	४६	महामारया	४३
फुट्ट	११	महिट्ट	९१
फुल्ल	१०७	महिस	४०
बगी	४४	माइ (ई)	१०५
बलियाए	८५	माउसिया	४३
बलीबद्द	३०	मार्विय	१७
विल	८०	माण	२६
बीभच्छ	१५	मातज्जकुल	६३
भजजणभ्र	४४	मासियाश्रो	४३
भण्ड	३५	मारुयपवक	९१
भत्त	१४	माहण	८२
भर	१७	मिसिमिसे	३८
भिक्खण	८२	मुट्ठी	३८
भिसिरा	९२	मुत्त	७२
भुजजो	२४	मुद्दिया	९१
भूमिघर	११	मुद्दसूल	१८
भूयविज्ञा	८२	मुहपोत्तिया	१५

मुहूर्त	१०४	वेगपवका	९१
मूल	१९	वेजज	१८
मेजज	३५	वेजजपुल	१८
मेरम्	३१	वेणइया	९४
मोमार	७२	वेयण	४४
मोडियय	७४	सगह	६१
यजुव्वेय	६६	सजीव	४६
रयण	२०	सहृण	८४
रव	१०५	सण्डास	१०७
रसाधण	८२	सणाह	८२
रसिया	७९	सण्डपट्ट (खंडपट्ट)	७३
रहस्सियं	९१	सण्ह	९१
रहस्सीकय	११	सत्तार्सि क्षयावद्यन्	११८
रायावयारी	७३	सत्थकोस	१९
रितव्वेय	१७	सत्थप्प्रोग	९६
रिद्ध	१७	सत्थवाह	१७
रोगिय	८२	सह	४२
रोजक	५९	सहिं	१४
लउड	७२	सन्तिहोम	६६
लक्खण	२६	समजोइभूय	६३
लट्टी	८५	समण	८२
लल्लरि	९३	समणोवास्य	१२४
लहुहत्थ	८२	समय	६
लंच्छपोस	१७	समाहिपत्त	११७
लाला	७९	समुदाणिय	९०
लावण	८२	समुल्लालिय	८३
लेस्सा	८	मध्यसहस्त्र	२४
लोभहत्थ	८५	मध्यर	५९
लोमखील	७२	मयंरजजसुकका	१०३
विही	१७	सरीसव	२४
विरेयण	१९	सलाहणिज्ज	१०३
विवर	९८	सल्लहृत्त	८२
विसप्प्रोग	९८	सल्लुढरण	९४
विसल्लकरण	९४	ससय	५९
विसिरा	९२	सहजायए	६७
विस्सम्भ	७३	सहपंसुकीलिय	६७

सहवद्विय	६७	सोहु	३१
सहस्रलंभा	२६	सुइ	३७
संकल	७२	सुकका	१०३
संकोडिय	१७४	सुग्हां	४३
संडासश्र	१०७	सुत्तवन्धण	९३
संनिवेश	१२५	सुद्	६६
संपत्ती	३२	सुय	७९
संपत्त्या	६८	सुहपसुत्त	१०७
संबाह	१२५	सुयर	८२
संलेहणा	१२७	सेहुं	९५
साउणिय	११३	सेयणा	१९
साडणा	२१	सथं	२१
साम	५७	सेयापीअ	१०५
सालाग	८२	सोणिय	१५
सावएज्ज	५२	सोल्ज	३१
सास	१८	हडाहड	११
सासिल्ल	७९	हडी	७२
सिणेहपाण	१९	हत्थपडुय	७२
सिरावेह	१९	हत्थनिक्षेव	३५
सिरोवत्थी	१९	हरिण	५९
सिलिया	१९	हरियसाग	९१
सिवहत्थ	८२	हब्वं	१४
सिघ	५९	हियउड्डावणा	३९
सिघाडग	१८	हिल्लरी	९२
सीय	१०४	ह'ड	११
सीसग	४१	हेड्डा	७४
सोसगमम	५२	हेरंग	९१

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रबर श्री प्रात्मारामजी भ० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्णित है।

मनुसृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वेज्ञोवत्, देवाद्विष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिकिष्टे असज्जकाए पण्णसे, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाधे, गज्जिते, निर्वाते,
जुवते, जक्खालिते, धूमिता, महिता, रथउग्घाते ।

दसविहै ओरालिते असज्जकातिते, तं जहा—अट्टी, मंस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते,
चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सारीरमे ।

—स्यानाङ्गसूत्र, स्थान १०

तो कप्पति निर्गांथाण वा, निर्गांथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्जकायं करित्तए, तं जहा—
आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। तो कप्पइ निर्गांथाण वा निर्गांथीण
वा, चउहिं संस्काहिं सज्जकायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्जभहे, अद्धरसे। कप्पइ
निर्गांथाण वा निर्गांथीण वा, चउक्कालं सज्जकायं करेत्तए, तं जहा—पुच्छपहे, अवरपहे, पश्चोसे, पञ्चवूसे ।

—स्यानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित,
चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तोस अनध्याय माने
गये हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-त्तारापत्तन—यदि महत् तारापत्तन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-
स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. विष्वाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो ग्रथति् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी
लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४.—गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः अतु स्वभाव से ही होता है। अतः आद्रा से स्वासि नकाश पर्यन्त अस्वाध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्धारित—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अन्त आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कातिक से लेकर माघ तक का समय मेषों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाइवेत्त—शीतकाल में इवेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हृष्टी मांस और रुधिर—पंचेत्रिय तिर्यच की हृष्टी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्ति मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सी हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अग्नुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. इमवानमूसि—इमवानमूसि के चारों ओर सी-सी हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रप्रहण—चन्द्रप्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यप्रहण—सूर्यप्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निघन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ़ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्घट—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाध्यय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का बध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ़पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कात्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यस्ति होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगमप्रकाशन-समिति, व्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ भोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिक्कन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, व्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीशीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खीरराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचन्दजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचन्दजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजो चोरड़िया, कटंगी
८. श्री बद्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री विरदीचंदजी प्रकाशचन्दजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेहता सिटी
४. श्री श० जहावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्रा हीरालालजी पश्चालालजी चौपड़ा, व्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचन्दजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पश्चालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटीला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगन चन्दजी भामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाहन
११. श्री आनचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैहदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागोर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, व्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया व्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया,
अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रत्नचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, व्यावर
२६. श्री धर्मचन्दजी भागधन्दजी बोहरा, खूँठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोँडीलोहारा
२८. श्री गुणचन्दजी दलीचन्दजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री सूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सो० अमरचन्दजी ब्रोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी सूलचन्दजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचन्दजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचन्दजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पश्चालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया,
बैंगलोर
३६. श्री मंवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठो, मद्रास
३८. श्री जालमचन्दजी रिखबचन्दजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेरचन्दजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जडावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चैनमलजी सुराणा द्रूस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचन्दजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोण्ठल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेहतासिटी
२. श्रीभती छागनीबाई विनायकिया, व्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया,
विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, व्यावर
६. श्री विजयराजजी रत्नलालजी चतर, व्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकडिया, सेलम

८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी काठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचन्दजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री तथमलजी मोहनलालजी लृणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया,
कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचन्दजी भागीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुभंरमलजी मेहतिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जीधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीभती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी
गोठी, जोधपुर
२१. श्री वाहलालजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचन्दजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, व्यावर
२५. श्री भाणकचन्दजी किशनलालजी, मेहतासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, व्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचन्दजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचन्दजी केवलचन्दजी कणविट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीभती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी
सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्चराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचन्दजी मेहतिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी बोलिया,
जोधपुर
३८. श्री घेरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री माणीलालजी चोरडिया, कुचेरा

सदस्य-नामावली]

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
 ४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
 ४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
 ४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
 ४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट क.)
 जोधपुर
 ४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
 ४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार,
 बैंगलोर
 ४७. श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
 ४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
 ४९. श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला,
 मेट्रोपोलियम
 ५०. श्री पुखराजजी छलाणी, करणगुल्ली
 ५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
 ५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनो, भिलाई
 ५३. श्री शशुत्रराजजी त्रिवेत्त्रराजजी तेहटा,
 मेहतासिटी
 ५४. श्री धेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
 ५५. श्री मांगीलालजी देखचंदजी पारख, जोधपुर
 ५६. श्री मुश्शीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
 ५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
 ५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेहता
 सिटी
 ५९. श्री भवरलालजी रिखचंदजी नाहटा, नागौर
 ६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रुणवाल, भैसूर
 ६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कला
 ६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
 ६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
 ६४. श्री भीवराजजी बाधमार, कुचेरा
 ६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
 ६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा,
 राजनांदगाँव
 ६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
 ६८. श्री भवरलालजी ढूंगरमलजी कांकरिया,
 भिलाई

६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
 ७०. श्री बद्धमान स्थानकवासी जैन आचकसंघ,
 दल्ली-राजहरा
 ७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, व्यावर
 ७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
 ७३. श्री फलेहराजजी नेमीचंदजी कण्ठिट, कलकत्ता
 ७४. श्री बालचंदजी धानचन्दजी भरट,
 कलकत्ता
 ७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
 ७६. श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा,
 बोलारम
 ७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
 ७८. श्री पश्चालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
 ७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
 ८०. श्री चित्तमनमिहजी मोहनमिहजी लोढा, व्यावर
 ८१. श्री रिढ्करणजी रावतमलजी भूरट, गोहाटी
 ८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
 ८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल,
 कुचेरा
 ८४. श्री मौगीलालजी मदनलालजी चोरहिया, भैसूर
 ८५. श्री मोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
 ८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी
 कोठारी, गोठन
 ८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कमानी, जोधपुर
 ८८. श्री चम्पालालजी होरालालजी बागरेचा,
 जोधपुर
 ८९. श्री शुखराजजी कटारिया, जोधपुर
 ९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
 ९१. श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
 ९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
 ९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, व्यावर
 ९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलोर
 ९५. श्रीमती कमलाकंदर नजवाणी धर्मपत्नी श्री
 स्व. पारसमलजी ललवाणो, गोठन
 ९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
 ९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

१८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
 १९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा,
 बोलारम
 २००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल,
 कुचेरा
 २०१. श्री गूढ़मलजी चम्पालालजी, गोठन
 २०२. श्री लेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
 २०३. सम्पतराजजी चौरड़िया, मद्रास
 २०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
 २०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, भद्रास
 २०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
 २०७. श्रीमती कंचनदेवी व निम्नलादेवी, मद्रास
 २०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी,
 कुशालपुरा
 २०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
 २१०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चौरड़िया,
 भैरूदा
 २११. श्री मौगीलालजी शांतिलालजी रुणवाल,
 हरसोलाव
 २१२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
 २१३. श्री रामप्रसान्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
 २१४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेहता
 सिटी
 २१५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलज
 लोडा, बम्बई
 ११७. श्री मौगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
 ११८. श्री सांचालालजी बाफणा, श्रीरंगबाद
 ११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाविया,
 (दुआरे) द्वादश
 १२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी
 संघवी, कुचेरा
 १२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांबला
 १२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
 १२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी,
 धूलिया
 १२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़,
 सिकन्दराबाद
 १२५. श्री मिश्रीसालजी सज्जनलालजी कटारिया
 सिकन्दराबाद
 १२६. श्री बद्दूमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ,
 बगड़ीनगर
 १२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी,
 बिलाड़ा
 १२८. श्री टी. पारसमलजी चौरड़िया, मद्रास
 १२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा
 एण्ड कॉ., बैंगलोर
 १३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□